आभामण्डल

आचार्य महाप्रज्ञ

आभामंडल

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राजस्थान)
फोन : 01581-226080/224671
E-mail: books@jvbharati.org

Books are available Online at
https://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती

संस्करण : मई, 2021 ई. (प्रतियां : 500)

मूल्य : दो सौ दस रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

प्रस्तुति

शरीर, मन और चित्त–तीनों का परस्पर गहरा संबंध है। शरीर पौद्गलिक-परमाणुओं की एक अद्भुत संरचना है। मन उससे भी सूक्ष्म परमाणु-सरंचना है। चित्त चेतना का एक स्तर है, जो इस शरीर और मन के साथ कार्य करता है। चित्त अपौद्गलिक (अभौतिक) है, इसलिए उसमें कोई रंग नहीं होता। शरीर और मन पौद्गलिक (भौतिक) हैं। पुद्गल का लक्षण है–वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होना। कोई भी परमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वियुक्त नहीं होता।

यद्यपि शरीर और मन पौद्गलिक हैं और चित्त अपौद्गलिक है, फिर भी सापेक्षता के सूत्र में बंधे होने के कारण ये परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। परमाणु के चार गुणों में से रंग चित्त को सबसे अधिक प्रभावित करता है। हमारा चित्त नाड़ी संस्थान में क्रियाशील रहता है और उसका मुख्य केन्द्र है–मस्तिष्क। वह अंतर्जगत में सूक्ष्म चेतना से जुड़ा हुआ है। वहीं से उसे गतिशीलता के आदेश-निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। और बाह्य-जगत में वह अपने प्रतिबिंबभूत आभामंडल से जुड़ा होता है। जैसा चित्त होता है, वैसा आभामंडल होता है और जैसा आभामंडल होता है, वैसा चित्त होता है। चित्त को देखकर आभामंडल को जाना जा सकता है और आभामंडल को देखकर चित्त को जाना जा सकता है। चित्त निर्मल तो आभामंडल निर्मल होता है और चित्त मलिन तो आभामंडल मलिन होता है।

हमारे शरीर के चारों ओर रश्मियों का एक वलय होता है। वह सूक्ष्म तरंगों के जाल जैसा या रुई के सूक्ष्म-तंतुओं के व्यूह जैसा होता है। ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं–चारों ओर फैला हुआ होता है। जैसी भावधारा होती है, वैसी ही उसकी संरचना भी होती है। वह एकरूप नहीं होता, बदलता रहता है। निर्मलता, मलिनता, संकोच और विकोच–ये सारी अवस्थाएं उसमें घटित

होती रहती हैं। इसके माध्यम से चेतना के परिवर्तन जाने जा सकते हैं, शरीर और मन के स्तर पर घटित होने वाली घटनाएं जानी जा सकती हैं। स्थूल-शरीर की घटनाएं पहले सूक्ष्म-शरीर में घटित होती हैं। उनका प्रतिबिंब आभामंडल पर हो जाता है। इसके अध्ययन से भविष्य से घटित होने वाली घटनाओं का पता लगाया जा सकता है। रोग और मृत्यु एवं स्वास्थ्य और जीवन आदि अनेक तथ्यों के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है।

भावधारा (या लेश्या) के आधार पर आभामंडल बदलता है और लेश्या ध्यान के द्वारा आभामंडल को बदलने से भावधारा ही बदल जाती है। इस दृष्टि से लेश्या-ध्यान या चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हमारी भावधारा जैसी होती है, उसी के अनुरूप मानसिक चिंतन तथा शारीरिक मुद्राएं और इंगित तथा अंग-संचालन होता है। क्रोध की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति में क्रोध के अवतरण की संभावना बढ़ जाती है। क्षमा की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति के लिए क्षमा की चेतना में जाना सहज हो जाता है। इस भूमिका में लेश्या-ध्यान की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने के श्रम-साध्य कार्य में तथा संपादन में मुनि दुलहराजजी ने उत्साहपूर्ण कार्य किया है। इसके लिए उन्हें साधुवाद देता हूं।

पाठकवर्ग ने संप्रति प्रकाशित होने वाले ध्यान संबंधी ग्रंथों के प्रति जो भावना प्रदर्शित की है, जिस अभिरुचि से उन्हें पढ़ा है और उनके आधार पर प्रयोग का प्रयत्न किया है, उससे इस क्षेत्र में उज्ज्वल संभावनाएं जन्म ले रही हैं। मैं मंगल-कामना करता हूं कि जन-जन में अध्यात्म की भावना जागे। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को जाने-पहचाने।

मैं पूज्य गुरुदेव के प्रति श्रद्धाप्रणत प्रणाम करता हूं और कामना करता हूं कि उनके पथ-दर्शन में समूची मानवजाति का पथ आलोकित बने।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

1. व्यक्तित्व के बदलते रूप	7
2. व्यक्तित्व की व्यूह-रचना	17
3. अच्छे-बुरे का नियंत्रण-कक्ष	26
4. स्थूल और सूक्ष्म जगत का संपर्क-सूत्र	36
5. जो व्यक्तित्व का रूपांतरण करता है (1)	47
6. जो व्यक्तित्व का रूपांतरण करता है (2)	59
7. वृत्तियों के रूपांतरण की प्रक्रिया	68
8. स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र	78
9. रंगों का ध्यान और स्वभाव-परिवर्तन	88
10. ध्यान क्यों?	97
11. तनाव और ध्यान (1)	107
12. तनाव और ध्यान (2)	118
13. आभामंडल	131
14. आभामंडल और शक्ति-जागरण (1)	144
15. आभामंडल और शक्ति-जागरण (2)	155
16. लेश्या : पौद्गलिक है या चैतसिक	167
17. लेश्या : भावधारा	176
18. लेश्या और रंग	182
19. लेश्या : एक विधि है चिकित्सा की	190

20. लेश्या : एक विधि है रसायन-परिवर्तन की 200
21. लेश्या : एक प्रेरणा है जागरण की 210
22. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (1) 224
23. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (2) 232
24. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (3) 242
25. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (4) 251
26. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (5) 259
27. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (6) 268
28. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (7) 277
29. रंग और चक्र (आभामंडल) 284

1. व्यक्तित्व के बदलते रूप

व्यक्ति एकः रूप अनेक

मनुष्य अनेक चित्तवाला है। चित्त एक नहीं, अनेक होते हैं। चित्त अनेक होते हैं, इसीलिए व्यक्तित्व नाना रूपों वाला होता है। व्यक्ति के कितने रूप हैं, पहचाना नहीं जा सकता। जिस व्यक्ति को प्रातःकाल देखा था, उस व्यक्ति को मध्याह्न में पहचाना नहीं जा सकता और जिसको मध्याह्न में देखा था, उसे सांझ में नहीं पहचाना जा सकता। जिसको सांझ में देखा, उसे रात को नहीं पहचाना जा सकता। इतना बदलता हुआ व्यक्तित्व! इतने बदलते हुए रूप! यह अनुमान करना कठिन होता है कि जिस व्यक्ति को प्रातःकाल देखा था, सायं वही व्यक्ति है या दूसरा। बड़ी कठिनाई होती है समझने में। जिस व्यक्ति को प्रातःकाल में बहुत शांत, शालीन और गंभीर देखा, उसी व्यक्ति को मध्याह्न में धूप की भांति तेज देखते हैं, क्रोध की आग में जलते देखते हैं तब यह अनुमान भी नहीं होता कि यह वही व्यक्ति है, जिसको प्रातः शांत और शालीन देखा था।

प्रातः काल जिस समुद्र को शांत देखा था, ज्वार के समय उसे देखा तो लगा कि तरंगें उछल रही हैं, सारा समुद्र हलचल से भरा है, अशांत है तब यह अनुमान करना कठिन हो गया कि क्या यह वही समुद्र है, जिसे प्रातःकाल देखा था? ज्वार के समय समुद्र मिट जाता है, वह लहरमय बन जाता है, कोरी लहरें ही लहरें दिखाई देती हैं। समग्र लहरों का जाल-सा बिछ जाता है।

चित्त के अनेक रूप

व्यक्ति के भावों और आवेगों का रूप जब ज्वार बनता है तब व्यक्ति को पहचान पाना कठिन हो जाता है। इसीलिए यह कहना पड़ा–**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे**। यह पुरुष अनेक चित्त वाला है। उसका चित्त एक नहीं है, अनेक हैं। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जो एक चित्तवाला हो। चित्त बदलता रहता है देश के साथ, काल के साथ और परिस्थितियों के साथ। वह इतने रूप

धारण करता है कि दुनिया में बहुरूपिए भी इतने रूप धारण नहीं करते। जब चित्त बदलता है तब आसपास का सबकुछ बदलता है, भीतर का भी बदलता है और बाहर का भी बदलता है। भीतर और बाहर दोनों आंदोलित हो उठते हैं, तरंगित हो उठते हैं। चारों ओर तरंगें ही तरंगें, लहरें ही लहरें, कंपन ही कंपन।

कोई आदमी नहीं चाहता कि बुरा आचरण करे, कोई नहीं चाहता कि उसमें बुरे भाव आएं। बुरा चिंतन, बुरा भाव और बुरा कर्म कोई नहीं चाहता, किंतु नहीं चाहने पर भी बुरा चिंतन आता है, बुरा भाव आता है और बुरा कार्य भी होता है। ऐसा क्यों होता है? यह एक प्रश्न है। कोई आदमी बुरा करना चाहे और वह बुरा करे तो यह स्वाभाविक बात हो सकती है। तब कहा जा सकता है कि उसने जैसा चाहा वैसा किया, किंतु बुरा करना न चाहने पर भी यदि बुरा होता है तब यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? यह बहुत बड़ा प्रश्न है।

विचार क्यों बदलते हैं?

आदमी अच्छा भी करता है और बुरा भी करता है। जब अच्छा करता है तब अच्छा चिंतन और अच्छा भाव होता है। जब बुरा करता है तब बुरा चिंतन और बुरा भाव होता है। यह द्वंद्व चलता है। एक ही व्यक्तित्व में ये विरोधी बातें चलती हैं। एक ही व्यक्तित्व कभी अच्छा और कभी बुरा क्यों होता है? यह प्रश्न हजारों ने नहीं, करोड़ों व्यक्तियों ने पूछा है और अपने-आप से भी यह प्रश्न पूछा गया है। हमारा मन बार-बार क्यों बदलता है? भाव क्यों बदलते हैं? विचार क्यों बदलते हैं?

मनुष्य ने इन प्रश्नों का समाधान पाने का प्रयत्न भी किया। मनोविज्ञान ने भी इसका समाधान प्रस्तुत किया, पर वह भी संतोषजनक नहीं है, पूरा समाधान नहीं है। मनोविज्ञान का उत्तर पूरा इसलिए नहीं है कि वह पूरी मंजिल तय नहीं कर पाया। उसने जहां तक पहुंचकर उत्तर दिया, वह ठीक है, पर पहुंचने के लिए और आगे भी बहुत अवकाश है।

ज्ञान के स्रोत

व्यक्तित्व को जानने के तीन साधन हैं–इन्द्रियां, मन और चित्त या बुद्धि। हम इन्द्रियों से काम लेते हैं, मन और बुद्धि से काम लेते हैं। इसके अलावा हमारे पास और कोई साधन नहीं है। इन्द्रियों को हम जानते हैं, मन का पता भी चल जाता है, बुद्धि का पता भी चलता है, किंतु इनके आगे हमारी पहुंच नहीं होती।

आज के डॉक्टर शरीर के एक-एक अवयव को, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, देख चुके हैं। हृदय को देखा, मस्तिष्क के यंत्र को देखा, आंतें और गुर्दे देखे। नसों का बिछा हुआ जाल देखा और भी सूक्ष्म चीजें देखीं, पर सबकुछ इतना ही नहीं है। अदृश्य बहुत ज्यादा है। उसे देखने के लिए डॉक्टर के पास साधन नहीं हैं, औजार नहीं हैं। जो कुछ देखा गया है, वह आंखों से या आंखों के सहारे से देखा गया है, मन की चंचलता से देखा गया है, चित्त या बुद्धि की चंचलता से देखा गया है। इस प्रक्रिया से इतना ही दिखेगा। देखने की एक दूसरी प्रक्रिया है, जहां आंखें काम नहीं देतीं। उस प्रक्रिया में आंखें बंद, मन समाप्त और बुद्धि के दरवाजे बंद हो जाते हैं। ऐसा करने के बाद जो दिखेगा, वह नया होगा और वह शल्य-चिकित्सा के द्वारा देखा गया नहीं होगा।

भीतर है अनंत-अनंत परमाणु

इस शरीर के भीतर अनंत-अनंत परमाणुओं के इतने पिंड हैं कि जिन्हें हम नहीं जानते, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मैं अभी बोल रहा हूं। बोलते समय मुझे भाषा के परमाणु चाहिए। भाषा के परमाणुओं को लिए बिना कोई बोल नहीं सकता। वे भाषा के परमाणु कहां से आते हैं? मेरे भीतर भाषा के परमाणु हैं। मेरे चारों ओर भाषा के परमाणु बिखरे हुए हैं। पहले वे दिखाई नहीं देते, किंतु जैसे ही बोलने का संकल्प किया, उच्चारण प्रारंभ किया कि भाषा के परमाणु भीतर आकर भाषा के रूप में बदल जाते हैं। उनमें स्फोट होता है और वे भाषा के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वे फिर बाहर निकलकर समूचे आकाश में फैल जाते हैं।

कोई भी आदमी बोलता है तो वह बोलने से पहले सोचता है। बिना सोचे कोई नहीं बोलता। ये चिंतन के परमाणु कहां से आए? चिंतन के परमाणुओं के सहयोग के बिना कोई भी व्यक्ति चिंतन नहीं कर सकता। मानस वर्गणा के परमाणु, चिंतन के परमाणु समूचे आकाश में फैले हुए हैं। जैसे ही चिंतन का संकल्प किया, चिंतन के परमाणु भीतर आते हैं, चिंतन के रूप में परिणत होते हैं और फिर उनकी आकृतियां समूचे आकाश में फैल जाती हैं।

मेरे आस-पास या किसी के भी आस-पास भाषा के परमाणु हैं, चिंतन के परमाणु हैं, भावना के परमाणु हैं, रंग और लेश्या के परमाणु हैं, और न जाने परमाणुओं के कितने जाल बिछे हुए हैं, किंतु दिखाई कुछ भी नहीं देता, कुछ भी ज्ञात नहीं होता। आंखों से भी वे दिखाई नहीं पड़ते। आंखें केवल स्थूल को ही पकड़ पाती हैं, सूक्ष्म को नहीं। आंख देखने का बहुत ही स्थूल माध्यम है।

स्थूल माध्यम स्थूल को ही पकड़ पाता है। यह प्रकृति की व्यवस्था है। बहुत ही अच्छी व्यवस्था है। यदि आंखों में सूक्ष्म को देखने की क्षमता आ जाती तो आंखों के सामने इतने रूप आ जाते कि उनकी भीड़ हो जाती, आंखें कुछ कर ही नहीं पातीं। अच्छा हुआ कि हम एक निश्चित आवृत्ति (फ्रीक्वेंसी) को ही देखते हैं और सुनते हैं। यह मर्यादा बहुत अच्छी है।

सूक्ष्म जगत न इन्द्रियों से दिखाई देता है, न चिंतन से उपलब्ध होता है और न बुद्धि के द्वारा गृहीत होता है। उसको ज्ञात करने का एकमात्र उपाय यह है कि सबके दरवाजे बंद कर देना। न इन्द्रियों के दरवाजे खुले रहें, न चिंतन के और न बुद्धि के। सब बंद कर देने होते हैं। सब खिड़कियों को बंद कर देने पर ही वह सूक्ष्म जगत दिखाई दे सकता है, अन्यथा नहीं। इन सबको बंद कर देने पर भीतर की यात्रा शुरू होती है और तब पता चलता है कि भीतर भी बहुत कुछ है। जिन लोगों ने भीतर में पहुंचकर इन प्रश्नों का समाधान दिया, सचमुच वह समाधान बहुत ही महत्त्वपूर्ण समाधान है।

दो महासागर

व्यक्ति संकल्प करता है कि वह बुरा न सोचे, बुरा न करे, परंतु यह संकल्प टूट जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसको समझने के लिए हमें पूरे व्यक्तित्व को जानना होगा, व्यक्तित्व की गहराई तक जाना होगा। गहराई में उतरने पर हमें ज्ञात होगा कि हमारे भीतर दो महासागर लहरा रहे हैं। एक महासागर है संक्लेश का और दूसरा महासागर है असंक्लेश का। ये इतने विशाल हैं कि अन्यान्य महासागर इनके समक्ष छोटे पड़ते हैं। ये महासागर निरंतर स्पंदित हैं। उनका अजस्र प्रवाह बाहर आ रहा है।

एक समुद्र से संक्लेश का प्रवाह बाहर आ रहा है और दूसरे समुद्र से असंक्लेश का प्रवाह बाहर आ रहा है। दोनों प्रवाह बाहर आते हैं। जब संक्लेश का प्रवाह बाहर आता है तब बुरा न चाहने पर भी बुरा कार्य हो जाता है। न चाहने पर भी इन हाथों से, पैरों से, इन्द्रियों से और मांसपेशियों से बुरा कार्य हो जाता है। इसमें व्यक्ति का क्या दोष? व्यक्ति का कोई दोष नहीं, यह सारा दोष है संक्लेश के प्रवाह का। वह आता है और व्यक्ति को बुरा चिंतन करने, बुरे भाव पनपाने और बुरा कार्य करने के लिए बाध्य कर देता है।

जब असंक्लेश का प्रवाह बाहर आता है, हम चाहें न चाहें, अच्छा चिंतन, अच्छा भाव और अच्छा आचरण हो जाता है। इससे यह फलित हुआ कि आदमी कुछ नहीं करता। सबकुछ भीतर का प्रवाह करवाता है। संक्लेश

का प्रवाह अथवा असंक्लेश का प्रवाह मनुष्य को प्रेरित करता है बुरा करने के लिए या अच्छा करने के लिए। अच्छे-बुरे के लिए भीतर से आने वाला प्रवाह जिम्मेदार है, मनुष्य नहीं। जैसा प्रवाह वैसा ही व्यक्तित्व।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम उस कठपुतली की भांति हैं, जो आदमी के इशारों पर नाचती है। उसका अपना कोई भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार हमारा शरीर, हमारा मन, हमारी भावना भी भीतर से बहने वाले प्रवाहों के आधार पर प्रवाहित होती है। यह कहकर हम अच्छे-बुरे के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

प्रवाह संक्लेश और असंक्लेश का

प्रश्न है कि भीतर से संक्लेश का प्रवाह क्यों आता है? असंक्लेश का प्रवाह क्यों आता है? कभी संक्लेश का प्रवाह और कभी असंक्लेश का प्रवाह–ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर हमें पाना है। एक बड़ा बांध है। उसके दरवाजे हैं। दरवाजा खोलते हैं तो पानी बाहर बहने लगता है। दरवाजे को बंद रखते हैं तो पानी बांध से बाहर नहीं जाता, भीतर ही रहता है। इसी प्रकार जब हम संक्लेश के दरवाजे को खोलते हैं तो संक्लेश का प्रवाह बाहर आने लग जाता है और जब हम असंक्लेश के दरवाजे को खोलते हैं तो असंक्लेश का प्रवाह बाहर आने लग जाता है।

संक्लेश को बाहर लाने वाला 'मैं' हूं और असंक्लेश को बाहर लाने वाला भी 'मैं' हूं, मुझ से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। इसका उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही है। वही कभी एक दरवाजे को खोलता है और दूसरे को बंद कर देता है और कभी दूसरे को खोलता है और पहले को बंद कर देता है। वही संक्लेश के प्रवाह को बाहर लाता है और वही असंक्लेश के प्रवाह को बाहर लाता है। वही अच्छे-बुरे विचारों, भावनाओं और आचरणों का उत्तरदायी है। जिसके हाथ में दरवाजे को खोलने और बंद करने की क्षमता है, सारा उत्तरदायित्व उसका हो जाता है, फिर वह उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता।

मूल प्रश्न है चाबी का

प्रश्न यह है कि वह कौन-सी चाबी है, जिससे संक्लेश के दरवाजे को ताला लगा दिया जाए, बंद कर दिया जाए और असंक्लेश के दरवाजे का ताला खोल दिया जाए? आप सोचते होंगे कि ऐसी चाबी हाथ लग जाए तो संक्लेश के दरवाजे को कभी नहीं खोलेंगे। उसे सदा बंद रखेंगे और असंक्लेश के दरवाजे को सदा के लिए खोल देंगे। उसे कभी बंद नहीं होने देंगे। ऐसा हो

जाने पर बुरा विचार समाप्त, बुरा भाव समाप्त और बुरे आचरण समाप्त। आप उत्सुक हैं कि ऐसा हो जाए। यह उत्सुकता स्वाभाविक है।

संक्लेश के दरवाजे को खोलने की भी एक चाबी है और असंक्लेश के दरवाजे को खोलने की भी एक चाबी है। दोनों की दो चाबियां हैं। ऐसा न हो कि आप उलट-पलट कर दें। दोनों के अलग-अलग ताले हैं। दोनों की अलग-अलग चाबियां हैं। जब हम मूर्च्छा की चाबी का प्रयोग करते हैं तो संक्लेश का ताला खुल जाता है और भीतर का प्रवाह बाहर आता है। व्यक्ति बुरे विचारों, बुरी भावनाओं और बुरे आचरणों से भर जाता है। भीतर का स्रोत फूट पड़ता है। बुराई का बहुत बड़ा दरवाजा खुल जाता है। जब तक यह दरवाजा बंद नहीं होता, बुराई से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। जब जागृति की, जागरण की चाबी घुमाते हैं तो असंक्लेश का ताला खुलता है और अच्छाई का बहुत बड़ा द्वार उद्घाटित हो जाता है।

यह जागृति की चाबी दो काम करती है—यह संक्लेश के ताले को खोलती भी है और संक्लेश के ताले को बंद भी करती है। यह जागृति जब हस्तगत होती है तब आदमी चाहे या न चाहे, भीतर से एक ऐसा प्रवाह फूट पड़ता है कि सारे पवित्र विचार, पवित्र भावनाएं और पवित्र आचरण अपने-आप बाहर आने लगते हैं। मूल प्रश्न है चाबियों का मिलना। इतने विशाल महासागर के दो विशाल प्रवाहों को रोकने या बाहर लाने का प्रश्न जटिल है।

श्वास प्रेक्षा का अर्थ है श्वास के प्रति जागृति। जो व्यक्ति श्वास के प्रति नहीं जागता, वह व्यक्ति जागृति की चाबी को नहीं घुमा सकता। जिस व्यक्ति ने श्वास के प्रति जागरूकता प्राप्त कर ली, जिसने अपने श्वास को जानना प्रारंभ कर लिया, मन जागरूक बन गया तब वह हर श्वास को देखता है। किसी भी श्वास को अनजाने में नहीं लेता, किंतु पूर्ण जानकारी में लेता है और छोड़ता है। ऐसे व्यक्ति के हाथ में असंक्लेश के ताले को खोलने की चाबी आ जाती है। शरीर प्रेक्षा भी असंक्लेश के ताले को उद्घाटित करने का साधन है। जो व्यक्ति अपने शरीर के प्रति जागरूक नहीं है, जहां से चाबी घुमाई जाती है, वह कभी भी असंक्लेश के ताले को नहीं खोल सकता।

रहस्य हमारा है

हम इस बात को बहुत गहराई से समझें। हमारा शरीर एक बहुत बड़ा रहस्य है। जो भी प्रवाह भीतर से बाहर आता है, वह शरीर के माध्यम से आता है। क्रोध आएगा तो शरीर के माध्यम से, अभिमान और लोभ आएगा तो शरीर

के माध्यम से और वासना उभरेगी तो शरीर के माध्यम से। जितने आवेग, उत्तेजनाएं, वासनाएं और कामनाएं हैं–ये सब शरीर के माध्यम से उभरती हैं।

नाड़ी-संस्थान में दो प्रकार के स्नायु हैं–ज्ञानवाही स्नायु और क्रियावाही स्नायु। जो ज्ञानवाही स्नायु हैं, उनके माध्यम से हम जानते हैं, संवेदन करते हैं। पैर में कांटा चुभा। तत्काल पैर के स्नायु उस उत्तेजना को सिर तक पहुंचा देता है। सिर के स्नायु क्रियावाही स्नायुओं को कांटा निकालने का आदेश देते हैं। तत्काल हाथ की मांसपेशियां सक्रिय हो जाती हैं और अंगुलियां कांटा निकालने लग जाती हैं। सबकुछ स्नायु के द्वारा घटित होता है। मनुष्य शांत बैठा है। अचानक उसमें क्रोध उभरा। जब तक क्रोध की तरंग स्नायु पर नहीं दौड़ेगी, मनुष्य का क्रोध अभिव्यक्त नहीं होगा। भीतर में कितना ही प्रबल क्रोध उभरा, किंतु स्नायु में यदि नहीं उतरा तो वह भीतर ही भीतर रह जाएगा। क्रोध तभी प्रकट होता है जब स्नायु उसका सहयोग करे। हमारा नाड़ी-संस्थान उसका सहयोग करे।

उपशम की प्रक्रिया

शरीर प्रेक्षा का बहुत बड़ा मूल्य है। शरीर प्रेक्षा करने वाला साधक शरीर के प्रति जागरूक हो जाता है। जब व्यक्ति शरीर के प्रति सजग हो जाता है तब वह शरीर के भीतरी केन्द्रों के प्रति, संवेदन-बिंदुओं के प्रति जागृत हो जाता है।

शरीर में हजारों मर्मस्थल हैं। वह साधक उन मर्मस्थानों के प्रति जागरूक हो जाता है। ये मर्मस्थान शक्तियों के आदान-प्रदान के माध्यम हैं। ये शक्तियों को अभिव्यक्ति देते हैं। ये वृत्तियों को प्रकट करते हैं।

क्रोध की अभिव्यक्ति का एक निश्चित बिंदु है शरीर में। क्रोध आएगा तो शरीर में उत्तेजना पैदा होगी, एक लहर दौड़ेगी और ठीक बिंदु पर पहुंचकर क्रोध संवेदन के रूप में बदल जाएगा और वह शारीरिक रूप ले लेगा। आंखें लाल हो जाएंगी। होंठ फड़कने लगेंगे। आवाज बदल जाएगी।

यदि हम शरीर के प्रति जाग जाएं, इन स्नायुओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लें, नाड़ी-संस्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें और उन्हें भीतर के आवेगों के साथ असहयोग करने का निर्देश दे दें तो भीतर में कितनी ही वृत्तियां क्यों न उभरें, वे बाहर नहीं आ पाएंगी। यह उपशमन की प्रक्रिया है।

प्रक्रिया उपशम और क्षय की

दो प्रकार की प्रक्रियाएं हैं–एक है उपशमन की प्रक्रिया और दूसरी है क्षय की प्रक्रिया। क्षय की प्रक्रिया से भीतर के संक्लेश समाप्त हो जाते हैं,

नष्ट हो जाते हैं। उपशमन की प्रक्रिया से संक्लेश उपशांत होते हैं, समूल नष्ट नहीं होते।

उपशमन की प्रक्रिया भी जरूरी है। जब तक हम उपशमन की प्रक्रिया नहीं सीख लेते, आनेवाली उत्तेजनाओं को विफल करना नहीं जान लेते, तब तक क्षय करना कठिन हो जाता है। पहले जरूरी होता है कि एक बार बीमारी को शांत किया जाए, पीड़ा को कम किया जाए, फिर लंबे समय तक बीमारी को उन्मूलित करने की क्रिया की जाए तो उसे समूल नष्ट किया जा सकता है। यदि बीमारी विकराल रूप से उभर रही हो, सिर फट रहा हो, उस समय यदि कहा जाए कि तुम लंबी प्रक्रिया करो, तीन महीने तक यह प्रक्रिया करो, तुम्हारी बीमारी समूल नष्ट हो जाएगी, इतना धैर्य कहां होता है?

वह तत्काल बीमारी का उपशमन कर एक बार पीड़ा को कम कर देना चाहता है। जब वेदना शांत हो जाती है, फिर लंबी चिकित्सा कर रोग का समूल नाश कर दिया जाता है। यह उपशमन की प्रक्रिया बहुत आवश्यक है।

नाड़ी-संस्थान का महत्त्व

हम शरीर प्रेक्षा के द्वारा नाड़ी-संस्थान को जागृत कर लेते हैं। यह जागरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। नाड़ी-संस्थान जितना मजबूत होता है, उतना ही व्यक्ति मजबूत होता है। केवल मांस और हड्डियों के मजबूत होने से बहुत नहीं होता। ये तो नाड़ी संस्थान को आवृत करने वाले साधन हैं। महत्त्वपूर्ण है नाड़ी-संस्थान। ज्ञानवाही और क्रियावाही नाड़ियों का ही सारा कर्तृत्व है। हम शरीर प्रेक्षा के द्वारा स्नायुओं को इतना जागृत कर लें कि वे हमारे सभी निर्देशों का अवश्य पालन करें और वे भीतर से आने वाले प्रवाह को बाहर न आने दें, प्रकट न होने दें। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है।

भगवान महावीर और बुद्ध के समय में एक प्रश्न चर्चित था कि दंड कितने होते हैं? महावीर का कथन था कि दंड तीन होते हैं–मन का दंड, वाणी का दंड और काया का दंड। बुद्ध कहते थे कि दंड एक ही है। वह है मन का दंड, मनोदंड। न वाणी का दंड होता है और न काया का दंड होता है। केवल मन का दंड होता है।

बुद्ध ने ही नहीं, अनेक आचार्यों ने कहा–**मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:।** मन ही बंधन का कारण है और मन ही मुक्ति का कारण है। मन ही बांधता है और मन ही छुड़ाता है। प्राय: लोग यही सोचते हैं कि सबकुछ

मन ही है। सतही स्तर पर यह बात सही हो सकती है, पर गहरे में जाने की जरूरत है।

महावीर ने जो तीन दंडों की व्यवस्था दी, वह बहुत ही वैज्ञानिक व्यवस्था है। केवल मन से कुछ नहीं बनता। काया के दंड का भी अपना महत्त्व है। जब शरीर में फैले हुए नाड़ी-संस्थान में अनेक प्रकार के संस्कार बन जाते हैं, वे सक्रिय हो जाते हैं तब मन बेचारा बैठा रह जाता है।

नाड़ी-संस्थान में जो उत्तेजनाएं, जो वासनाएं, जो तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, फिर न चाहने पर भी वह घटना घटित हो जाती है, क्योंकि नाड़ी-संस्थान का वह अभ्यास बन जाता है। मन बेचारा कुछ नहीं कर सकता।

नाड़ी-संस्थान मन का अनुचर नहीं है, मन का दास नहीं है, इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इस स्थिति में केवल एक ही दंड–मनोदंड को नहीं माना जा सकता। वाणी का अपना तंत्र है, मन का अपना तंत्र है और काया का अपना तंत्र है।

नाड़ी-संस्थान हमारा क्रिया तंत्र है। उसके तीन उपतंत्र हैं–एक मन का, एक वाणी का और एक काया का। तीनों का अपना-अपना मूल्य है। न मन को अधिक मूल्य दिया जा सकता है और न वाणी और न शरीर को। तीनों का अपना-अपना स्वतंत्र मूल्य है।

कई बार हम कह देते हैं कि मैं यह कहना तो नहीं चाहता था, पर वाणी से निकल गया। यह वाणी तंत्र के स्वतंत्र अस्तित्व का द्योतक है। हमने जिस स्थिति में वाणी को जैसा अभ्यास दे दिया, उस प्रकार की घटना घटित हो जाती है। क्रोध उभरा और आपके न चाहने पर भी वैसे शब्द निकल जाएंगे, जो अप्रिय होते हैं। कभी-कभी मन के न चाहने पर भी अघटित हो जाता है। यदि मन ही सबकुछ होता तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि मन का एकछत्र साम्राज्य होता तो उसके विपरीत कुछ भी नहीं हो पाता, पर ऐसा नहीं है। मन का, वाणी का और शरीर का अपना-अपना स्वतंत्र तंत्र है।

प्राण-शक्तियां दस हैं। उनमें एक है मनःप्राण-शक्ति। यह एक किरण है, रश्मि है। जैसे मन की प्राण-शक्ति है, वैसे ही वाणी की प्राण-शक्ति है और शरीर की प्राण-शक्ति है। किसी एक को अतिरिक्त मूल्य नहीं दिया जा सकता। भीतर से जो आता है, वह सबसे पहले नाड़ी-संस्थान में उतरता है। एक बात और है। मन अकेला कुछ नहीं कर सकता। मन की क्रिया तब होती है जब उसे मस्तिष्क का सहयोग मिलता है।

बंधन के कारण

शरीर इसलिए प्रधान है कि बाहर से जो भीतर जाता है, वह भी काया के द्वारा जाता है और भीतर से जो बाहर जाता है, वह भी काया के द्वारा जाता है। यह शरीर भीतर और बाहर जाने का माध्यम है। भीतर दो महासागर हैं–एक है अंतर्जगत और दूसरा है बाह्य जगत। क्या ये दोनों भीतर ही जन्मे हैं? नहीं, ये बाहर से भीतर गए हैं।

सारी नदियों का पानी बाहर से भीतर गया है और धीरे-धीरे महासागर बन गए। भीतर जाने का माध्यम था शरीर। शरीर ने आस्रवों को अपने में समाहित किया और इतना लंबा समय बीत गया कि वह पानी एकत्रित होते-होते महासागर के रूप में परिणत हो गया। शरीर ने ही नदियों का समाहार कर अपने में महासागर का निर्माण किया है। इसलिए शरीर बहुत महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

जो प्रवाह शरीर के बाहर जाता है, वह भी शरीर के माध्यम से और जो प्रवाह भीतर आता है, वह भी शरीर के माध्यम से आता है, इसलिए यदि हम कहें कि **काय एव मनुष्याणां, कारणं बंधमोक्षयोः।** शरीर ही बंधन और बंधनमुक्ति का कारण है तो अच्छी बात होगी। साथ-साथ हम यह भी कहें–**वागेव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः** और **मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।** तीनों को मिलाने पर पूरी बात होगी। यदि हम शरीर के प्रति जागरूक हो जाते हैं, इस मूर्च्छा को तोड़ डालते हैं, स्नायु-संस्थान पर नियंत्रण कर लेते हैं, उसमें उठने वाली उत्तेजनाओं और वासनाओं की तरंगों को बदल देते हैं तो बहुत महत्त्व का कार्य घटित हो जाता है। उपशमन की क्रिया संपन्न हो जाती है, फिर माया विफल, लोभ विफल, जितनी बीमारियां उभरना चाहती थीं, वे सारी विफल। जब विफल करने की चाबी हाथ लग जाती है तब पहले सब उत्तेजनाओं को विफल कर, उपशांत कर, फिर उनके उन्मूलन का प्रयत्न किया जाता है। धीरे-धीरे उनका उन्मूलन हो जाता है।

प्रेक्षा की फलवत्ता इसी से समझी जा सकती है कि जिस व्यक्ति ने अपने शरीर के प्रति जागना शुरू कर दिया, उसने भीतर से आने वाली बुराई के प्रवाह को रोक दिया और वह उपशमन की क्रिया करते-करते एक दिन उन सभी बुराइयों को क्षीण करने की स्थिति तक पहुंच जाएगा।

2. व्यक्तित्व की व्यूह-रचना

संसार में दो तत्त्व हैं। एक है चेतन, दूसरा है अचेतन। एक है जीव, दूसरा है अजीव। जीव चेतन है और शरीर अचेतन। कुछ केवल शरीर को ही मानते हैं, केवल अजीव या अचेतन को ही स्वीकार करते हैं। वे चेतन या जीव की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। यह विभेद क्यों? विमर्श करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगों ने चित्त तक की यात्रा की, उससे आगे नहीं जा सके, उन्होंने आत्मा को स्वीकार नहीं किया। चित्त तक पहुंचने वाला आत्मा को स्वीकृति नहीं दे सकता। उसको आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं हो सकता। जिन लोगों ने चित्त से परे की यात्रा की, जो चित्त से आगे बढ़े, उन्होंने आत्मा को स्वीकार किया।

एक है अध्यवसाय और एक है चित्त। चित्त तक की यात्रा शरीर संबद्ध यात्रा होती है। अध्यवसाय तक की यात्रा शरीर से परे की यात्रा होती है। जब हम अध्यवसाय तक पहुंचते हैं, वहां हमारा संबंध शरीर से छूट जाता है। शरीर इस पार रह जाता है और अध्यवसाय उस पार रह जाता है। शरीर और अध्यवसाय का कोई संबंध नहीं है।

व्यक्तित्व के दो प्रकार

आत्मवादी दर्शन आत्मा और शरीर को भिन्न मानते हैं, दो मानते हैं। दो मानने पर दोनों में संबंध कैसे हो सकता है? वह कौन-सा बिंदु है, जहां आत्मा और शरीर परस्पर मिलते हैं, जुड़ते हैं। उस बिंदु की खोज होनी चाहिए। इस खोज के परिणामस्वरूप यात्रा शरीर से बहुत आगे बढ़ गई। उस यात्रा के सारे बिंदुओं को समझे बिना आत्मवादी व्यक्तित्व को नहीं समझा जा सकता।

शरीरवादी व्यक्तित्व इन्द्रिय, मन और चित्त तक जाकर रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता। आत्मवादी व्यक्तित्व की व्यूह-रचना बहुत जटिल है। स्थूल शरीर, इन्द्रियां, मन, चित्त, अध्यवसाय, कषाय का वलय और फिर चेतन-आत्मा।

हम आत्मा से चलें। केन्द्र में एक चेतन तत्त्व है। उसे हम द्रव्यात्मा–मूल आत्मा कहते हैं। यह मूल चैतन्य का केन्द्र है। उसकी परिधि में अनेक तत्त्व काम करते हैं। उस चेतन तत्त्व के बाहर कषाय का वलय है। कषाय का तंत्र इतना मजबूत है कि वह आत्मा पर अपना अधिकार जमाए बैठा है। यद्यपि चेतन तत्त्व को शासक का स्थान प्राप्त है, फिर भी उस शासक का सेनापति कषाय इतना शक्तिशाली है कि उसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर सकता। वह सेनापति, जो निर्णय ले लेता है, शासक को वह स्वीकार करना ही पड़ता है। चेतन तत्त्व और कषाय तत्त्व के बीच एक समझौता है, कषाय तंत्र का एक स्पष्ट निर्देश है कि चैतन्य के स्पंदन यदि कषाय वलय को भेद कर बाहर जाते हैं तो वे शुद्ध तभी रह सकते हैं जब वे केवल ज्ञेय के प्रति जाते हैं। ज्ञेय के सिवाय यदि वे और कहीं भी जाते हैं तो कषाय तंत्र की छत्रछाया में ही जा सकते हैं, अन्यथा नहीं जा सकते।

अध्यवसाय तंत्र

चैतन्य के जो असंख्य स्पंदन बाहर निकलते हैं, वे कषाय तंत्र को पार कर, अतिसूक्ष्म शरीर को पार कर बाहर आते हैं। उनका एक स्वतंत्र तंत्र बन जाता है। वह है अध्यवसाय का तंत्र। यह तंत्र तैजस शरीर के साथ-साथ सक्रिय होकर काम करता है। जिन लोगों ने आत्मा को जाना, आत्मा का साक्षात्कार किया, सूक्ष्मता में गए, उन लोगों ने मन को कभी महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने सदा अध्यवसाय को महत्त्व दिया। यही एक ऐसा बिंदु है, जहां से आत्मा को शरीर से पृथक् किया जा सकता है और उनके संबंध और असंबंध की व्याख्या की जा सकती है।

मन मनुष्य में होता है, विकासशील प्राणियों में होता है। जिनके सुषुम्ना है, मस्तिष्क है, उनमें मन होता है। सब जीवों में मन नहीं होता, किंतु अध्यवसाय सब जीवों में होते हैं। वनस्पति में भी अध्यवसाय होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सब जीवों में अध्यवसाय होते हैं, किंतु मन सब में नहीं होता। जिनके मन होता है, उनके भी कर्मबंध होता है और जिनके मन नहीं होता, उनके भी कर्मबंध होता है। कर्म का बंध सब जीवों के होता है।

अध्यवसाय : कर्मबंध

सूत्रकृतांग सूत्र में एक सुंदर चर्चा है। एक मनुष्य रात को सोया है। उसका स्थूल मन निष्क्रिय है। वह इतनी गाढ निद्रा में है कि वह स्वप्न नहीं देख रहा है, फिर भी उसके हिंसा का कर्मबंध हो रहा है। बहुत महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

एक ओर हम कह देते हैं कि जब मन सक्रिय होता है तब कर्म का बंध होता है और जो व्यक्ति गाढ निद्रा में है, उसका मन अव्यक्त है, स्थूल चेतना अव्यक्त है, स्वप्न भी नहीं आ रहे हैं, फिर भी कर्म का बंध हो रहा है और वह भी हिंसा के कर्म का बंध हो रहा है। यदि दृष्टिकोण उसका मिथ्या है तो न केवल हिंसा का कर्मबंध हो रहा है अपितु अठारह पापों का भी बंध हो रहा है। यह सुनकर शिष्य ने पूछा–'भंते! यह कैसे हो सकता है कि सोया हुआ व्यक्ति कर्मबंध करता है?' इस तथ्य को समझाने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए। एक है संज्ञी का उदाहरण और दूसरा है असंज्ञी का उदाहरण।

असंज्ञी का उदाहरण बहुत महत्त्व का है। वह अध्यवसाय की सारी स्थिति को स्पष्ट करता है। एक वनस्पति का जीव है। उसके न मन है, न वचन है, केवल शरीर है। वह जीव निरंतर सोया रहता है। उसके लिए न कोई दिन होता है और न कोई रात। सबकुछ रात ही रात है। वह जीव केवल सोता ही सोता है। मनशून्य और वचनशून्य वह वनस्पति का जीव भी अठारह पापों का सेवन कर रहा है। अठारह पापों से होने वाला कर्मबंध उसके होता है। ऐसा क्यों होता है? यह इसलिए होता है कि उस जीव के अध्यवसाय होते हैं, असंख्य अध्यवसाय होते हैं। वे अध्यवसाय विशुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। अशुद्ध अध्यवसाय होते हैं, इसलिए उनके कर्म का बंध होता है। हिंसाजनित कर्म का बंध भी होता है और परिग्रहजनित कर्म का बंध भी होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभजनित कर्म का बंध भी होता है। वह जीव अपने शत्रुओं की हिंसा करता है, इसलिए हिंसाजनित कर्म का बंध होता है। बहुत उलझनभरी बात है। क्या ऐसा होना संभव है? हां, संभव है।

ज्ञान का स्रोत

हम वर्तमान के विज्ञान की दृष्टि को भी समझें। हमने मस्तिष्क, मन और वचन को बहुत बड़ा स्थान दे दिया, किंतु हमारे ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत है अध्यवसाय। अध्यवसाय के बाद जो ज्ञान होता है शारीरिक दृष्टि से, वहां ज्ञान के बड़े स्रोत हैं हमारी कोशिकाएं। जिन जीवों के मस्तिष्क नहीं होता, मन नहीं होता, उनकी कोशिकाएं सारा ज्ञान करती हैं। वनस्पति के जीव जितने संवेदनशील होते हैं, मनुष्य उतने संवेदनशील नहीं होते। वनस्पति में अध्यवसाय का सीधा परिणमन होता है, इसलिए उन जीवों में जितनी पहचान, जितनी स्मृति और दूसरों के मनोभावों को जानने की जितनी क्षमता होती है, वैसी क्षमता बहुत सारे मनुष्यों में भी नहीं होती।

वैज्ञानिक वेकस्टन ने वनस्पति पर अनेक प्रयोग किए। उसने एक प्रयोग यह किया–उसने कागज के छह टुकड़े लिए। पांच टुकड़ों पर कुछ नहीं लिखा। एक टुकड़े पर लिखा–इस कमरे में जो दो पौधे हैं, उनमें से एक पौधे को उखाड़ देना है, नष्ट कर देना है, पैरों से रौंद डालना है। उसने कागज के छहों टुकड़े कमरे में रख दिए, फिर उसने छह व्यक्तियों की आंखों पर पट्टी बांधकर उनसे कहा–'कमरे में जाओ और एक-एक टुकड़ा उठा लो।' छहों व्यक्ति कमरे में गए। जो हाथ में आया, वह टुकड़ा उन्होंने एक-एक कर उठा लिया। एक व्यक्ति के हाथ में वह लिखा हुआ कागज आया। छहों ने आंख की पट्टियां खोलीं। अपना-अपना कागज देखा। पांच के कागज खाली थे। छठे के कागज पर कुछ लिखा था। वह व्यक्ति कमरे में गया और लिखे अनुसार एक पौधे को उखाड़ा, पैरों से रौंदा और उसे नष्ट कर डाला। वेकस्टन को भी पता नहीं था कि छहों व्यक्तियों में से किसने यह काम किया है।

अब वेकस्टन ने एक-एक कर छहों व्यक्तियों को कमरे में जाने के लिए कहा। कमरे में जो एक पौधा बचा था, उस पर पोलीग्राफ लगा दिया गया। पहला व्यक्ति गया। पौधे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां व्यक्ति गया। पौधे ने कोई प्रतिक्रिया अंकित नहीं की। वह शांत था, सहज-सरल था। ज्योंही साथी पौधे को उखाड़ फेंकने वाला छठा व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ, सारा पौधा कांप उठा। उसके कंपन पोलीग्राफ पर अंकित होने लगे। उस ग्राफ को देखकर वैज्ञानिक ने जान लिया कि इस व्यक्ति ने ही पौधे को नष्ट किया है। मनुष्य नहीं जान सका इस सारी बात को और पौधा जान गया, पहचान गया। कितना तीव्र संवेदन और कितनी तेज पहचान होती है वनस्पति के जीव में।

वैज्ञानिक वेक्सटन ने एक दूसरा प्रयोग भी किया। पौधों पर पोलीग्राफ लगा हुआ था। वह एक प्रयोग कर रहा था। प्रयोग करते-करते उसके मन में एक बात आई। उसने मन ही मन सोचा कि दियासलाई मंगवाकर इस पौधे को जला डालूं। जैसे ही उसके मन में यह बात आई, ग्राफ की सुई घूमने लगी। अग्नि का ग्राफ उभर आया। दूसरा ग्राफ भी वैसा ही हुआ। वह वहां से उठा। कमरे में गया दियासलाई लाने। उसका मन बदल गया। उसने सोचा–मैं पौधे को नहीं जलाऊंगा। यह सोचकर वह पौधे के पास गया। ग्राफ की सुई स्थिर थी। कोई ग्राफ नहीं आया।

मनुष्य भी दूसरे के मनोभावों को इस प्रकार नहीं जान पाता, वनस्पति

का जीव वह ज्ञान कर लेता है। एक प्रश्न आता है कि जब वनस्पति में या एक इन्द्रिय वाले जीवों में मन नहीं होता तो फिर वे इतना सूक्ष्म ज्ञान कैसे कर लेते हैं? यह प्रश्न आता है, किंतु हमें यह याद रखना है कि मन ज्ञान का साधन नहीं है। वास्तव में मन जानने का साधन नहीं है। जहां से ज्ञान का स्रोत प्रवाहित होता है, वह है अध्यवसाय। हमने अध्यवसाय की उपेक्षा कर सारा भार बेचारे मन पर डाल दिया। ऐसा लगता है कि हाथी का भार गधे पर डाल दिया। कैसे उठाए वह उस भार को।

लेश्या-तंत्र

पहले है आत्मा। उसके पश्चात् है कषाय का तंत्र और उसके बाद आता है अध्यवसाय का तंत्र। यहां तक स्थूल शरीर का कोई संबंध नहीं रहता है। ये केवल कर्म शरीर और तैजस शरीर से ही संबंधित रहते हैं। यहां स्थूल अवयवों का कोई संबंध नहीं रहता। **परं परं सूक्ष्मं–**'तैजस शरीर सूक्ष्म है और कर्म शरीर उससे भी अधिक सूक्ष्म। ये दोनों शरीर हैं, पर इनके कोई अवयव नहीं हैं। न हाथ हैं, न पैर हैं और न मस्तिष्क है। न सुषुम्ना है और न सुषुम्नाशीर्ष है। जानने का कोई माध्यम नहीं है। वहां सारा ज्ञान अध्यवसाय से होता है। वह बिना माध्यम और अवयवों से रहित ज्ञान है। यह एक रेखा है। यह स्थूल शरीर के बिना होने वाले ज्ञान की सीमारेखा है। इससे परे है स्थूल शरीर से होने वाले ज्ञान की सीमारेखा। अध्यवसाय तंत्र के स्पंदन आगे बढ़ते हैं और वे स्थूल शरीर में उभरते हैं। जब वे स्थूल शरीर में उतरते हैं तब शरीर के साथ आत्मा का स्पंदन जुड़ता है। वहां सबसे पहले चित्त का निर्माण होता है।

स्थूल शरीर में आत्मा का पहला पड़ाव है चित्त का निर्माण। चित्त का निर्माण मस्तिष्क के माध्यम से होता है। अब ज्ञान स्थूल शरीर के अवयवों के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगता है। यहां ज्ञान अवयवों का सहयोग लेकर ही अभिव्यक्त हो पाता है। चित्ततंत्र केवल ज्ञेय को जानने का साधन मात्र है। अध्यवसाय की अनेक रश्मियां फूटती हैं। उसके अनेक स्पंदन अनेक दिशाओं में आगे बढ़ते हैं। **असंखेज्जा अज्झवसाणठाणा**–अध्यवसाय के असंख्य स्थान हैं।' लोक के जितने आकाश प्रदेश हैं, उतने ही हमारे अध्यवसाय हैं। लोक-प्रदेश असंख्य हैं और अध्यवसाय भी असंख्य हैं। वे चित्त पर उतरते हैं। उनकी एक धारा चलती है। वह है भाव की धारा, लेश्या।

अध्यवसाय की एक धारा, चित्त की एक धारा, जो रंग के परमाणुओं से प्रभावित होती है, रंग के परमाणुओं के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती

है, वह है हमारा लेश्यातंत्र या भावतंत्र। इसके द्वारा ही सारे भाव निर्मित होते हैं। जितने भी अच्छे या बुरे भाव हैं, वे सारे लेश्यातंत्र के द्वारा निर्मित होते हैं। अध्यवसाय प्रभावित करते हैं नाड़ी-संस्थान को, मस्तिष्क को। जब ये चित्त की दिशा में आगे बढ़ते हैं और जब ये लेश्या की दिशा में आगे बढ़ते हैं तब ये प्रभावित करते हैं हमारी ग्रंथियों को और उनके माध्यम से हमारे सारे शरीरतंत्र को प्रभावित करते हैं।

लेश्या की एक परिभाषा है–कर्म निर्झर। लेश्या कर्म का झरना है, कर्म का प्रवाह है। कर्म के प्रवाह, जो प्रवाहित होकर बाहर आते हैं, वे ग्रंथियों के माध्यम से बाहर आते हैं। ये हैं–ग्रंथियों के स्राव, ग्रंथियों के रसायन और रसानुबंध यानी कर्म का अनुभाग बंध। अनुभाग बंध भी रसायन है। कर्म का रसायन इन ग्रंथियों के माध्यम से बाहर आकर हमारे समूचे तंत्र को प्रभावित करता है। अब तक भी बेचारे मन का कोई स्थान नहीं आया। यह चित्ततंत्र और लेश्यातंत्र हमारे क्रियातंत्र को प्रभावित करता है।

क्रियातंत्र

क्रियातंत्र के तीन अंग हैं–मन, वचन और शरीर। क्रियातंत्र का एक अंग है–मन। वह तो एक पुर्जा है। इसका कार्य है काम करना। मन का कार्य ज्ञान करना नहीं है। मन का कार्य कर्म को बांधना नहीं है। मन का कार्य कर्म को तोड़ना भी नहीं है। मन का काम है ऊपर से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना, उनको क्रियान्वित करना। इसी प्रकार वचन भी निर्देशों की क्रियान्विति करता है और शरीर भी निर्देशों की क्रियान्विति करता है। ये तीनों क्रियान्विति के साधन हैं, ज्ञान के साधन नहीं हैं।

ज्ञानतंत्र चित्ततंत्र तक समाप्त हो जाता है। भावतंत्र लेश्यातंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों को क्रियान्वित करने के लिए क्रियातंत्र सक्रिय होता है। उसके ये तीन सैनिक हैं–मन, वचन और शरीर। ये तीनों काम करते हैं। मन का काम है स्मृति करना, कल्पना करना और चिंतन करना। ये तीनों काम एक अच्छा कम्प्यूटर भी कर सकता है। इस स्थिति में मन और कम्प्यूटर में अंतर ही क्या है? मुझे लगता है, उनमें कोई अंतर नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि जो काम मन करता है, वह काम एक कम्प्यूटर भी कर लेता है, फिर आत्मा का अस्तित्व ही क्या है? उचित प्रश्न है। यदि हम मन को ही वास्तविक मान लें, तो फिर आत्मा के अस्तित्व की साधना हमारे लिए संभव नहीं होगी, क्योंकि मन और कम्प्यूटर में कोई विशेष अंतर दिखाई

नहीं देता। इतना-सा अंतर है कि कम्प्यूटर का निर्माण आदमी के हाथों हुआ है और मन का निर्माण अति सूक्ष्म शरीर ने किया है।

वह अति सूक्ष्म शरीर बहुत शक्तिशाली कुशल कारीगर है कि वह इतने सूक्ष्म पुर्जे बनाने में सक्षम हुआ है। आदमी इतने सूक्ष्म पुर्जे नहीं बना सकता। बस, इतना-सा अंतर है। कितना उलझन-भरा है हमारा मस्तिष्क, हमारा दिमाग और हमारा मन। आदमी इनका निर्माण करने में सक्षम नहीं है। कई दशकों तक वह इनके निर्माण की कल्पना भी नहीं कर सकता। वह मस्तिष्क जैसे जटिल और सूक्ष्म यंत्र का निर्माण नहीं कर सकता।

कम्प्यूटर स्मृति कर लेता है। सारी बातें आपको याद दिला देता है। आप कहीं भूल करते हैं तो आपको सावधान भी कर देता है। गणित के प्रश्न हल कर देता है। कविता भी कर देता है। बात सोच लेता है और निष्कर्ष भी निकाल लेता है। निष्कर्ष बता देता है और भविष्य की योजना, कल्पना भी समझा देता है। जो तीन क्रियाएं मस्तिष्क करता है, वे तीनों क्रियाएं कम्प्यूटर भी कर लेता है। इस स्थिति में हम मन को बहुत महत्त्व देकर चलते हैं, फिर भी मन के आधार पर आत्मा को स्थापित नहीं कर पाते।

मन मालिक नहीं

मन क्रियातंत्र का एक अंग है। यह कर्मचारी है। इसका काम है निर्देशों का पालन करना। यह न अच्छा करता है और न बुरा। अच्छे या बुरे का सारा दायित्व स्वामी का होता है, कर्मचारी का नहीं। मन एक नौकर है। इसका काम है स्वामी की आज्ञा का पालन करना। इसको कहा कि यह ले जाओ और वहां पहुंचा दो। यह ले जाता है, उचित स्थान पर पहुंचा देता है। अच्छे-बुरे का दायित्व इस पर नहीं है, किंतु सारा दोष मन पर ही मढ़ा जाता है। यही सामने आता है। काम करने वाला ही सीधा सामने आता है। आदेश देने वाला सामने नहीं आता, वह पर्दे के पीछे खड़ा रहता है। व्यवहार में भी देखते हैं कि नौकर किसी का आदेश लेकर आता है और वह आदेश प्रिय नहीं है तो सबसे पहले नौकर ही रोष का भाजन बनता है। सारा रोष उस पर उतर आता है।

प्राचीन काल में जब एक दूत अपने राजा का संदेश लेकर दूसरे राजा के पास जाता था और यदि वह संदेश प्रतिकूल होता तो राजा के मन में आता कि इस दूत को मार डालना चाहिए, किंतु उस समय राजाओं के बीच ऐसी संधि होती थी कि दूत को नहीं मारा जाता था। मन के साथ भी संधि है। वह बेचारा दूत है। अनुकूल और प्रतिकूल निर्देशों का वह उत्तरदायी नहीं है। वह

तो मात्र संदेशवाहक है। यदि मन के साथ कोई संधि नहीं होती तो मन कभी का मार डाला जाता। बेचारा निर्दोष है, फिर भी सारा दोष उसी का माना जाता है। अध्यवसाय और चित्त ने उसे जो काम सौंपा, उसका वह निर्वाह करता है।

जरूरी है क्रियातंत्र की स्वस्थता

मूल है द्रव्य आत्मा, मूल चैतन्य। उस पर पहला वलय है कषाय-तंत्र का। दूसरा वलय है योगतंत्र का। योग का अर्थ है प्रवृत्ति। मन योग का ही अंग है। मन का काम है प्रवृत्ति करना। वचन का काम है प्रवृत्ति करना और शरीर का काम है प्रवृत्ति करना। मन को यदि आप पैदा करेंगे तो वह प्रवृत्ति करेगा। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। जब आप उसको पैदा करते हैं तब वह उत्पन्न होता है और जब आप उसे पैदा नहीं करते, वह उत्पन्न नहीं होता। जब आदमी मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है तब मन उत्पन्न हो जाता है। जब आपने मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करने की भावना नहीं की तो मन नहीं बनेगा। मन को जब चाहें तब पैदा कर सकते हैं और जब चाहें तब पैदा नहीं भी कर सकते। वचन को भी चाहें तो पैदा कर सकते हैं, नही चाहें तो पैदा नहीं कर सकते। शरीर की बात थोड़ी भिन्न पड़ती है, क्योंकि उसके साथ एक बार जब संबंध जोड़ लिया जाता है तब शरीर की प्रवृत्ति चालू हो जाती है, पर शरीर का प्रयोग हम चाहें तो कर सकते हैं, न चाहें तो नहीं कर सकते। प्रयोग में तीनों समान हैं, इसलिए इस बात को बहुत गहरे में जाकर हम समझें कि हमें शरीर के प्रति जागृत होना है, वचन के प्रति जागृत होना है और मन के प्रति जागृत होना है।

हमें जागृत इसलिए होना है कि इन तीनों का कोई दोष न आने पाए। बाहरी परिस्थिति का इन पर कोई प्रभाव न हो। यदि ऐसा होगा तो वे अच्छे रह पाएंगे। क्रियातंत्र स्वस्थ रहेगा तो वह भीतर से आने वाले प्रवाह की क्रियान्विति करे या न भी करे। यह उसके अधीन की बात होगी। नौकर कभी-कभी काम करने से इनकार भी कर सकता है। काम करवाने के लिए उसे राजी रखना पड़ता है। राजी रखे बिना कर्मचारी पूरा सहयोग नहीं करता।

हमारे अध्यवसाय जब क्रियातंत्र को राजी रखते हैं तो वह उनका पूरा काम करता है, उनका पूरा सहयोग करता है। यदि हम उल्टा चलें–क्रिया तंत्र को हम बाहर से राजी रखना शुरू कर दें और अध्यवसाय तंत्र को असहयोग करना सिखा दें तो हमारी साधना की पहली मंजिल तय हो जाएगी, इसलिए उपशमन की प्रक्रिया में हमें मन पर जागृत होना है, वचन पर जागृत होना है और शरीर पर जागृत होना है। क्षय की प्रक्रिया इससे भिन्न है।

हमारे अभ्यास का क्रम है–श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा और लेश्या ध्यान। यह सारा इसीलिए चल रहा है कि बाहरी रंगों को भी हम अपने भावों तक ले जाएं, अपनी साधना में ले जाएं। रंगों को मना लें ताकि वे हमारा सहयोग करें। शरीर को भी मना लें, वचन को भी मना लें और मन को भी मना लें, क्योंकि इनकी दो तरफी कठिनाई है। भीतर से जो आदेश आते हैं, उनकी क्रियान्विति करते-करते उनकी भी एक आदत बन जाती है और व्यक्ति की भी आदत बन जाती है।

एक व्यक्ति को क्रोध आता है तो भृकुटी तन जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं, होंठ फड़कने लगते हैं, शरीर कांपने लगता है। कुछ भाइयों को आदत पड़ जाती है कि क्रोध न आने पर भी वे भृकुटी तान लेते हैं, आंखें लाल कर लेते हैं, शरीर को प्रकंपित करते हैं और क्रोध उतर आता है। नाटक हो रहा था। अनेक दृश्य सामने आ रहे थे। एक अभिनेता आया और उसने इतनी कुशलता से अभिनय किया, ऐसा दृश्य बना कि जार्ज बर्नाडशा दर्शकों में से उठकर आए और अभिनेता को एक चांटा जड़ दिया। उसने कहा–यह क्या किया आपने? दूसरे ही क्षण जार्ज बर्नाडशा संभले। उन्होंने कहा–भूल हो गई। मुझे भान ही नहीं रहा कि तुम नाटक कर रहे हो। मैंने तो तुमको असली ही समझ लिया था। मैंने सोचा, तुम बुरा काम कर रहे हो, इसलिए मैंने चांटा लगा दिया।

उपशम : क्षय की प्रक्रिया

हमारे शरीर और स्नायुओं को भी एक ऐसी आदत बन जाती है कि जब क्रोध आता है तब शरीर की वह स्थिति बन जाती है या शरीर की वह स्थिति बनने पर क्रोध उतर आता है। क्रोध भी कहेगा कि मुझे क्या पता कि तुम शरीर की ऐसी स्थिति का निर्माण कर लेते हो। मैंने तो देखा कि तुम ऐसा करते हो तो मुझे आना ही चाहिए, तुममें उतरना ही चाहिए।

पहले हम इस बात से निपटें कि स्नायुओं की जो आदत बन गई हैं, मन और वाणी की जो आदत बन गई, जो वे बाहरी प्रभावों से तत्काल प्रभावित हो जाते हैं, उनको उपशमन की प्रक्रिया के द्वारा उन प्रभावों से बचाएं और जो आदतें बनी हैं, उन आदतों से बचाएं। यह काम पहला है। दूसरा काम होगा कि भीतर से निर्देश इन तक न पहुंचे, उनको समाप्त कर दें, क्षीण कर दें।

उपशमन और क्षय की प्रक्रिया जब हमारी साधना के साथ जुड़ती है तो हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है और हम जिस पवित्र लक्ष्य को लेकर चलते हैं, उस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में अवश्य ही सफल हो जाते हैं।

3. अच्छे-बुरे का नियंत्रण-कक्ष

हमारा शरीर एक दर्पण है। इस दर्पण में मन के भाव प्रतिबिंबित होते रहते हैं। हम भावों को देखकर अदृश्य को भी देख लेते हैं। जो दूर है, उसे भी पहचान लेते हैं। जहां तक हमारी पहुंच नहीं होती, वहां तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं आंखों में एक घृणा का भाव तैर रहा है, आंख को देखते हैं और भाव तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं कि आंख में से कुछ टपक रहा है, हम प्रियता के भाव तक पहुंच जाते हैं। आंखों में देखते हैं, आकृति में देखते हैं। यह समूची आकृति कितना स्वच्छ दर्पण हैं कि उसमें भीतर का सबकुछ प्रतिबिंबित हो जाता है।

यदि यह आकृति नहीं होती तो शायद भावों को जानने का हमारे पास कोई माध्यम नहीं होता। आकृति को देखकर जान जाते है कि आदमी क्रुद्ध है। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्षमाशील है, सहिष्णु है। क्रोध और क्षमा दोनों हमारे सामने प्रकट नहीं होते, क्योंकि सहिष्णुता और क्रोध दोनों इस शरीर के धर्म नहीं हैं। वे जहां जन्म लेते हैं और प्रकट होते हैं, उनका स्थान कोई दूसरा है। हमारे सारे भाव सूक्ष्म जगत में जन्म लेते हैं और स्थूल शरीर में प्रतिबिंबित होते हैं।

एक है हमारा प्रतिबिंब का जगत या प्रतिबिंबों को पकड़ने का जगत और दूसरा है हमारे भावों के जन्म लेने का जगत। हमारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। स्थूल को छोड़ते हैं तब सूक्ष्म की ओर यात्रा शुरू करते हैं। हम स्थूल शरीर को छोड़कर भाव शरीर तक पहुंच जाते हैं। लेश्या तक पहुंच जाते हैं। लेश्या से भी आगे यात्रा शुरू करते हैं तो अध्यवसाय तक पहुंच जाते हैं। अध्यवसाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो कषाय तक पहुंच जाते हैं। कषाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो परमतत्त्व आत्मा तक पहुंच जाते हैं।

कषाय या अतिसूक्ष्म शरीर में केवल स्पंदन हैं, कोरी तरंगें। वहां भाव नहीं हैं, कोरी तरंगें हैं। वहां चेतना के स्पंदन भी हैं और कषाय के स्पंदन भी

हैं। दोनों स्पंदन हैं। दोनों महासागर हैं। एक है चैतन्य का महासागर और एक है कषाय का महासागर। दोनों में स्पंदन ही स्पंदन हैं, तरंगें ही तरंगें हैं। वे तरंगें बाहर आती हैं। वे अध्यवसाय तक पहुंचती हैं, तब भी तरंगें, केवल स्पंदन। अध्यवसाय का मतलब ही है कि सूक्ष्म चैतन्य का स्पंदन। सूक्ष्म इसलिए कि उसका कोई केन्द्र विशेष नहीं है। शरीर में कोई विशेष केन्द्र नहीं है। वे अपने सूक्ष्म रूप में स्पंदन ही स्पंदन हैं। अध्यवसाय में हम देखेंगे तो क्रोध की तरंग होगी, क्रोध का भाव नहीं होगा। परम शरीर में, सूक्ष्म शरीर में क्रोध की तरंगें होंगी, क्रोध का भाव नहीं होगा। वहां तक कोरी तरंगें होती हैं।

यात्रा सूक्ष्म से स्थूल व स्थूल से सूक्ष्म जगत की

तरंगें जब सघन होकर भाव का रूप लेती हैं तो वे लेश्या बन जाती हैं। लेश्या में पहुंचकर भाव बनता है और तरंगें ठोस रूप ले लेती हैं। शक्ति, ऊर्जा पदार्थ में बदल जाती है। तरंग का सघनरूप भाव और भाव का सघनरूप क्रिया। जब भाव सघन बनता है तो वह क्रिया बन जाती है और हमारे स्थूल शरीर में प्रकट होती है और हमें दिखने लग जाती है। हम क्रिया को देखते हैं।

क्रोध की क्रिया को देखते हैं, क्रोध के लक्षणों को देखते हैं, क्रोध के चिह्नों को देखते हैं, क्षमा के चिह्नों को देखते हैं, क्षमा के लक्षणों को देखते हैं। उन चिह्नों के सहारे आगे यात्रा शुरू करते हैं, स्थूल से सूक्ष्म की ओर तब पहले भावतंत्र तक पहुंचते हैं, लेश्यातंत्र तक पहुंचते हैं और फिर तरंगों के जगत में जाते हैं तो अध्यवसाय आता है और फिर कषायतंत्र आता है और फिर उस चैतन्य के स्पंदन तक भी पहुंच जाते हैं, जहां से चैतन्य के स्पंदन उद्‌भूत होते हैं। बहुत बड़ा प्रश्न है। एक चैतन्य का महासागर है। उससे बाहर आते हैं तो कषाय का महासागर मिलता है, जहां से सारी मलिनता बाहर आ रही है, किंतु चैतन्य तो मलिन नहीं है, वह शुद्ध है, फिर यह अशुद्धता क्यों? कारण स्पष्ट है। उस चैतन्य महासागर के चारों ओर एक वलय है—कषाय के महासागर का।

एक प्रश्न और होता है कि कषाय का महासागर चैतन्य के महासागर को घेरे हुए है तो फिर शुद्धि का प्रश्न ही कहां उठता है? जो कुछ बाहर आएगा, वह सारा अशुद्ध ही होगा। शुद्ध लेश्या कैसे होगी? शुद्ध-भाव कैसे होगा? शुद्ध अध्यवसाय कैसे होगा? कषाय से छनकर और कषाय के रस के साथ मिलकर जो कुछ भी बाहर आएगा, वह मलिन, अपवित्र और अशुद्ध ही आएगा। शुद्ध कैसे होगा?

लेश्या की शुद्धि अध्यवसाय से होती है और अध्यवसाय की शुद्धि मंद कषाय से होती है। लेश्या हमारा भाव है।

यदि अध्यवसाय शुद्ध न हो तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। अध्यवसाय कभी शुद्ध नहीं होता, यदि कषाय के महासागर का वलय चैतन्य के स्पंदनों को जाने के लिए रास्ता न छोड़ दे। कषाय मंद होता है, इसका अर्थ होता है कि कषाय-महासागर चैतन्य की रश्मियों को बाहर जाने का रास्ता देता है। चैतन्य की रश्मियां उसी रास्ते से बाहर जाती हैं, जहां कषाय के तीव्र स्पंदनों का स्पर्श नहीं होता। उस रास्ते से वे चैतन्य की शुद्ध रश्मियां बाहर आ जाती हैं और वे शुद्ध धाराएं शुद्ध अध्यवसाय का निर्माण करती हैं। शुद्ध अध्यवसाय शुद्ध भावों का निर्माण करते हैं और शुद्ध भाव विचारों को शुद्ध बनाते हैं—मन, वचन और काया को शुद्ध बनाते हैं।

शुद्ध और अशुद्ध होने के दो कारण बन गए। शुद्ध होने का कारण है कषाय की मंदता और अशुद्ध होने का कारण है कषाय की तीव्रता।

साधना का प्रयोजन

प्रश्न होता है कि कषाय की मंदता कैसे हो? इसका एकमात्र उपाय है साधना। जो व्यक्ति साधना करता है, वह कषाय को मंद करने का उपक्रम करता है। साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, कषाय का मजबूत मोर्चा शिथिल होने लगता है, निष्क्रिय होने लगता है। साधना का मूल प्रयोजन है कषाय को मंद करना, कषाय की शक्ति को क्षीण करना, चैतन्य की पवित्र धारा में मिल जाने वाले कषाय के अपवित्र जल को निकाल देना। जिससे वह शुद्ध बन जाए, पवित्र बन जाए। पवित्र शब्द भी समाप्त हो जाए और अपवित्र शब्द भी समाप्त हो जाए, चैतन्य वैसा का वैसा रह जाए, क्योंकि जब अपवित्र होता है तब पवित्र करने की बात प्राप्त होती है।

वास्तव में चैतन्य न अपवित्र है और न पवित्र। वह तो एक प्रकाश है, आलोक है, ज्योति है। वह जैसा है, वैसा है। उसके लिए पवित्र या अपवित्र विशेषण लगाने की जरूरत नहीं है। विशेषण इसलिए लगाना पड़ता है कि कषाय के द्वारा जब चैतन्य की धारा अपवित्र हो जाती है, मलिन हो जाती है तो उसकी सापेक्षता में चैतन्य को पवित्र कहना पड़ता है, किंतु हम साधना के द्वारा उस स्थिति का निर्माण करना चाहते हैं कि चैतन्य कोरा चैतन्य ही रहे। यह पवित्र और अपवित्र विशेषण उससे कट जाए।

उपाय : कषाय को मंद करने का

वह कौन-सी साधना है, जिसके द्वारा कषाय को मंद किया जा सकता है? यह एक प्रश्न है। इस पर हम सोचेंगे तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि अध्यात्म का समूचा तंत्र, अध्यात्म का समूचा उपदेश और धर्म की सारी गाथाएं कषाय को मंद करने के लिए कही गई हैं। उनका एक मात्र प्रयोजन भी यही है। अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष, दान, शील–इन सबका उपदेश इसीलिए है कि कषाय मंद हो। उपदेश का अगला चरण है अभ्यास। यह सबने जान लिया कि कषाय को मंद करने के लिए आत्मनियंत्रण जरूरी है, अभ्यास जरूरी है, फिर प्रश्न होता है कि अभ्यास कहां से प्रारंभ करें? सबसे पहले क्या करें? इस प्रश्न पर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में चर्चाएं हुई हैं तो मनोविज्ञान ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। दोनों विचारधाराओं की चर्चा कुछ मिलती-जुलती सी है। अनेक दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर चिंतन किया है। मैं वर्तमान के चिंतन को पहले प्रस्तुत कर बाद में अतीत के चिंतन को प्रस्तुत करना चाहूंगा।

अनशनः आत्म नियंत्रण का सूत्र

टॉलस्टॉय ने इस प्रश्न का सुंदर समाधान दिया। उन्होंने कहा–अच्छे जीवन की पहली शर्त है आत्मनियंत्रण और आत्मनियंत्रण की पहली शर्त है–उपवास। हमें आत्मनियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करना चाहिए। यह है एक महर्षि का चिंतन, जो वर्तमान युग का साधक, साधु या महर्षि कहलाता था।

अब हम प्राचीन चिंतन को लें। भगवान महावीर ने तपस्या के बारह प्रकार बतलाए। उन्होंने कहा–आत्मनियंत्रण का प्रारंभ तपस्या से करो, अनशन से शुरू करो। प्राचीन चिंतन और वर्तमान चिंतन–दोनों एक बिंदु पर मिल गए। दोनों के कथन में पूर्ण साम्य है। यह यथार्थ है। जो भी आत्मा का अनुभव करने वाले साधक हैं, वे दो मार्ग या दो लक्ष्य पर नहीं पहुंचते। संप्रदायों के विचार दो दिशाओं में पहुंच सकते हैं, दो दिशागामी हो सकते हैं, किंतु अध्यात्म के विचार दो दिशागामी नहीं हो सकते। अध्यात्म को बांटा नहीं जा सकता। अध्यात्म के मार्ग से जो पहुंचेगा, वह एक ही बिंदु पर पहुंचेगा।

भगवान महावीर ने कहा–'अनशन से आत्मनियंत्रण शुरू करो। आत्मा के नियंत्रण में सबसे बड़ी बाधा है भोजन। भोजन सुस्ती लाता है।' टॉलस्टॉय ने कहा–'जो भोजन का संयम नहीं करता, वह सुस्ती को कैसे मिटा सकेगा?

जो आलस्य, सुस्ती और प्रमाद को नहीं मिटा पाता, वह आत्मनियंत्रण कैसे कर पाएगा।' उन्होंने कहा कि हमारी कुछ मौलिक इच्छाएं होती हैं। यदि हम उन इच्छाओं को समाप्त नहीं कर सकते तो उन इच्छाओं के आधार पर पलनेवाली दूसरी जटिल इच्छाओं को कभी समाप्त नहीं कर सकते। जीने की कामना, भोजन की कामना, काम की कामना और लड़ने की कामना–ये मौलिक इच्छाएं हैं। सभी प्राणियों में ये बनी रहती हैं। यदि इन पर नियंत्रण नहीं पाया तो इनके आधार पर पलने वाली अन्य जटिल इच्छाओं पर कभी नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। इसलिए आवश्यक है कि साधक सबसे पहले मौलिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करे, उन पर नियंत्रण करे।

मौलिक इच्छाओं में पहली है भोजन की इच्छा। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण इच्छा है, क्योंकि हमारे सारे शरीर की क्रियाएं भोजन के द्वारा संचालित होती हैं। हमारी प्राण-ऊर्जा भोजन से बनती है। हम जो खाते हैं, उसका एक रसायन बनता है और वह रसायन हमारे जीवन की प्राण-ऊर्जा बनकर शरीरतंत्र का संचालन करता है। हमारे शरीर में दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं–तैजसकेन्द्र और शक्तिकेन्द्र। तैजसकेन्द्र वह है, जो खाए हुए भोजन को प्राण ऊर्जा में बदल देता है।

शक्तिकेन्द्र वह है, जो प्राण ऊर्जा का स्रोत है, संग्रह-स्थान है। एक ऊर्जा को पैदा करने का स्थान है और एक ऊर्जा का संग्रह स्थान है। हम जो कुछ भोजन करते हैं, उसका रसायन बनता है और वह प्राणशक्ति के रूप में बदलता है और उसका सहयोग करता है। जैसा खाते हैं, वैसा रसायन बनता है। अब प्रश्न होता है कि कैसा खाएं? क्या खाएं? कितना खाएं? इन प्रश्नों की चर्चा मैं प्रस्तुत प्रसंग में नहीं करूंगा।

इस सारे चिंतन से एक महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध हुआ कि हम आत्मनियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करें, अनशन से शुरू करें, कम खाने से करें और खाने की वृत्तियों को संक्षेप करके करें और हमारी वृत्तियों को उभारने वाले रसों के संयम के द्वारा करें, उपवास द्वारा करें। यह आत्मनियंत्रण का पहला सूत्र है।

आत्मनियंत्रण का दूसरा सूत्र

शरीर को साधना आत्मनियंत्रण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हम शरीर को साधें, यह बहुत आवश्यक है। जब तक स्नायुओं को नया अभ्यास नहीं दिया जाता, स्नायुओं को नई आदत के निर्माण का अभ्यास नहीं दिया जाता, तब तक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं किया जा सकता। विलियम जेम्स ने अपनी

पुस्तक–'दि प्रिन्सिपल ऑफ साइकोलॉजी' में मनोवैज्ञानिक ढंग से चर्चा करते हुए लिखा है कि 'अच्छा जीवन जीने के लिए अच्छी आदतों को बनाना जरूरी है और अच्छी आदतों के निर्माण के लिए अभ्यास जरूरी है। यदि हम अभ्यास किए बिना ही यह चाहें कि हमारी आदतें बदल जाएं तो ऐसा कभी नहीं होगा। असफलता ही हाथ लगेगी।' उन्होंने अच्छी आदतों के निर्माण के लिए कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं–

1. अच्छी आदतें डालनी हों तो सबसे पहले अच्छी आदतों का चिंतन करो, अभ्यास करो और पुरानी बुरी आदतों को रोको।

2. अच्छी आदतें डालने के लिए शरीर को एक विशेष प्रकार का अभ्यास दो, क्योंकि शरीर की विशेष स्थिति का निर्माण किए बिना हमारी आदतें अच्छी नहीं हो सकती। स्नायुओं को हमने जो पहले से आदतें दे रखी हैं, उनको यदि हम नहीं बदलते तो वे एक चक्र की भांति चलती रहती हैं। ठीक समय आता है और मिठाई खाने की बात याद आ जाती है, क्योंकि हमने जीभ को एक आदत दे रखी है। ठीक समय आता है, स्नायु उस वस्तु की मांग कर लेते हैं। खाने की, सोचने की, विचार करने की, कार्य करने की जैसी आदत हम स्नायुओं में डाल देते हैं, वैसी आदत हो जाती है।

जो लोग बहुत ऊंचे मकानों में रहते हैं, वे पहली बार जब सीढ़ियों से उतरते हैं तब बहुत सावधानी से उतरते हैं। दूसरी-तीसरी बार उतरते हैं तो सावधानी कम हो जाती है और जब सौवीं बार उतरते हैं तो कोई सावधानी की जरूरत नहीं होती। पैर अपने आप एक-एक सीढ़ी उतरते हुए नीचे आ जाते हैं। चलने के साथ मन को जोड़ने की वहां आवश्यकता नहीं होती। टाइप करने वाले प्रारंभ में अक्षरों को देख-देखकर टाइप करना सीखते हैं। जब वे अभ्यस्त हो जाते हैं तब उनकी अंगुलियां अभीष्ट अक्षरों पर पड़ती हैं और जैसा चाहा वैसा टाइप हो जाता है। 'की बोर्ड' को देखने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अंगुलियां अभ्यस्त हो चुकी हैं। हम स्नायुओं को जैसी आदत देते हैं, वे अपने आप काम करने लग जाते हैं। उस काम की संपूर्ति में मन की संपृक्ति आवश्यक नहीं होती।

इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा–जब आदत डालो तो कोई अपवाद मत रखो, छूट मत रखो। पूरी आदत बना दो। आज ध्यान किया। स्नायुओं को ध्यान की आदत दी। कल छोड़ दिया। परसों छोड़ दिया। चौथे दिन फिर ध्यान

में बैठे। इस प्रकार छूट देने से वह आदत नहीं बनती। छूट मत दो। प्रतिदिन वह कार्य करते रहो। भगवान महावीर ने कहा–प्रतिक्रमण करना है तो वह यथासमय करना ही है। ऐसा नहीं कि आज किया, कल छोड़ा, परसों छोड़ा और फिर चौथे दिन किया। इससे प्रतिक्रमण की आदत कभी नहीं बनेगी।

आज क्षमा करें, सहिष्णुता का भाव दिखाएं और कल फिर लड़ाई करें, फिर क्षमा करें तो क्षमा की आदत नहीं बनेगी। आदत डालनी है तो कोई अपवाद मत रखो जब तक कि शरीर आदत न बन जाए। वह स्वभाव न बन जाए, तब तक कोई अपवाद मत रखो। यह है हमारा कायक्लेश का सूत्र। कायक्लेश का सूत्र है–आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं द्वारा शरीर को इतना साध लो, जिससे वह वही कार्य करे, जिसका तुम उसे निर्देश दो। यह है आत्मनियंत्रण का दूसरा सूत्र–शरीर को साधना।

आत्मनियंत्रण का तीसरा सूत्र

आत्मनियंत्रण का घटक तत्त्व है प्रतिसंलीनता। इसका अर्थ है–जो कुछ हो रहा है, वह न होने दें, किंतु उसे उलट दें। दो क्रम चलते हैं। एक है प्राकृतिक क्रम और एक है साधना का क्रम। हमें कुछ विशेष अवयव उपलब्ध हैं। एक है शक्तिकेन्द्र। सारी काम की चेष्टाएं इस केन्द्र से संचालित होती हैं। सारी काम की वृत्तियां यहां उभरती हैं और मनुष्य इसके सहारे अपनी कामवासना पूरी करता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त संस्थान है कामवासना की पूर्ति के लिए। प्रतिसंलीनता के द्वारा हम इस वृत्ति को बदल सकते हैं।

आचारांग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रतिपादित है कि जो आश्रव हैं, वे ही परिश्रव हैं और जो परिश्रव हैं, वे ही आश्रव हैं। जो कर्मबंध के कारण हैं, वे ही कर्ममुक्ति के कारण हैं और जो कर्ममुक्ति के कारण हैं, वे ही कर्मबंध के कारण हैं। जो कामवासना का संस्थान है, वही ब्रह्मचर्य का संस्थान है। कोई अलग से संस्थान नहीं है। हम अपनी साधना के द्वारा, ऐसे प्रयोगों के द्वारा इस कामवासना के संस्थान को ब्रह्मचर्य की शक्ति के संस्थान के रूप में बदल सकते हैं। यह इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है। जो इन्द्रियां जिस काम के लिए शरीर-रचना में प्राप्त हैं, साधना के द्वारा उनकी आदतों को बदल दें। यह प्रतिसंलीनता का अभ्यास है।

आंख का काम है रूप को देखना। उसके साथ सहज जुड़ा हुआ है प्रियता और अप्रियता का भाव। आदमी आंख के द्वारा दो ही दृष्टियों से देखना

जानता है। या तो वह प्रियता से देखेगा या अप्रियता से देखेगा। यदि हम इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का अभ्यास करते हैं तो साधना के द्वारा इन इन्द्रियों के स्रोत को बदल देते हैं। आंख से देखेंगे, पर उसके साथ न प्रियता होगी और न अप्रियता होगी। मध्यस्थ भाव, समता भाव रहेगा।

कषायों की प्रतिसंलीनता भी होती है। कषाय चार हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों हमारें मस्तिष्क के विशेष केन्द्रों द्वारा बाहर आते हैं, प्रकट होते हैं। यह प्रकृति है, स्वभाव है। एक छोटा बच्चा अपने पिता के साथ दर्शन करने आया। उसने अपने पिता से कहा–जो पुस्तक और कॉपी खरीद कर लाए हैं, उस पर मेरा नाम लिख दें। पिता ने कहा–नाम लिखने की क्या जरूरत है? ऐसे ही इनका उपयोग करो। बच्चे ने आग्रह किया, पर पिता ने नाम नहीं लिखा। बच्चा गुस्से में आ गया। वह हाथ-पैर पटकने लगा। पिता को एडियों से मारने लगा। यह देखकर मैं हैरान रह गया। इतना छोटा बच्चा और इतना तेज गुस्सा! यह प्रकृति का अनुदान है। यह हमारे जन्म के साथ भीतर से आने वाला अनुदान है। इसके लिए साधना करने की जरूरत नहीं, यह स्वयं प्राप्त होता है। क्रोध आना स्वाभाविक है। यह प्रकृति का अनुदान है। इसमें आश्चर्य नहीं होता।

निमित्तों की जागरूकता

साधना के द्वारा जब हम प्रतिसंलीनता करते हैं तब क्रोध आदि के संस्थान बदल जाते है, यह है हमारी साधना की उपलब्धि। यह तब हो सकता है जब क्रोध आदि को उभारने वाले निमित्तों से बचा जाए।

कुछ लोग कहते हैं–निमित्तों से बचने की क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं है। अपने अंतर में वैराग्य होना चाहिए। व्यवहार की भूमिका की हमें जरूरत क्या है? हमें तो निश्चय की भूमिका पर चलना चाहिए। मैं मानता हूं कि ऐसा करने वाले सामान्य जनता के साथ अन्याय करते हैं और उन्हें गलत रास्ते पर ले जाते हैं। जब निमित्तों के प्रति हम जागरूक नहीं होंगे और निमित्तों से नहीं बचेंगे तो कषाय को कभी नहीं छोड़ा जा सकेगा। कषाय के रास्ते को नहीं बदला जा सकता। कषाय मंद तभी हो सकते हैं जब हम कषाय को उत्तेजित करने वाले पदार्थों से भी बचें।

पास में कोई व्यक्ति एक करोड़ रुपया रखकर कहे कि मुझे संतोष है। कोई लोभ नहीं है, ममत्व नहीं है। मैं समझता हूं, इसके पीछे शत-प्रतिशत वंचना है।

एकाध व्यक्ति लाखों में कोई अपवादस्वरूप निकल सकता है अन्यथा धोखा ही धोखा है। बाह्य संबंधों से हम मुक्त नहीं हो सकते और कषाय को मंद करने की बात सोचते हैं तो बड़ा धोखा होता है। जो व्यक्ति कषाय को मंद करना चाहता है, उसे कषाय की प्रतिसंलीनता करनी ही होगी।

क्रियातंत्र के तीन अंग

मन, वचन और काया–ये तीनों योग हैं। तीनों क्रियातंत्र के अंग हैं। इनका काम है–कार्य करना। जो काम करेगा, वह चंचल होगा। वह कभी स्थिर नहीं होगा। आपको कपड़े धोने हैं और आप चाहें कि हाथ स्थिर रहें, हिले ही नहीं, यह नहीं हो सकता। कपड़े कभी नहीं धुलेंगे। रसोई पकानी है और आप कायोत्सर्ग कर बैठ जाएं, स्थिर हो जाएं तो रसोई कभी नहीं बनेगी। काम करना है तो चंचलता करनी होगी। मन का काम चंचलता पैदा करना है, वचन और काया का काम भी चंचलता पैदा करना है। चंचलता इसका स्वभाव है, प्रकृति है। प्रतिसंलीनता करनी है तो इनकी दिशा बदलनी होगी। साधना के द्वारा प्रतिसंलीनता का प्रयोग कर मन को स्थिर किया जा सकता है, वाणी को स्थिर किया जा सकता है, काया को स्थिर किया जा सकता है। एक ओर है प्रकृति का अनुदान और दूसरी ओर है साधना का प्रयत्न। साधना के प्रयत्न के द्वारा हम प्राकृतिक अनुदानों को बदल सकते हैं। इन प्राकृतिक अनुदानों को बदलने का नाम ही है साधना और यही है कषाय को मंद करने की प्रक्रिया।

कैसे हो कषाय मंद

भगवान महावीर ने आत्मनियंत्रण के, लेश्या शुद्धि के, अध्यवसाय शुद्धि के तीन बाहरी सूत्र बतलाए, जो बाहर से हमें प्रभावित करते हैं। वे तीन सूत्र हैं–उपवास, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता। ये तीन बाहरी सूत्र हैं, जो हमारे कषाय को मंद करते हैं, लेश्या को शुद्ध करते हैं, अध्यवसाय को पवित्र बनाते हैं। जब ऐसा होता है तब कषाय अपने आप मंद हो जाता है। कषाय को मंद करने के लिए हमें एक क्रम से चलना होगा। यदि सीधे ही हम कषाय को मंद करने चलेंगे तो विफल हो जाएंगे, क्योंकि कषायों का इतना तेज आक्रमण है कि हम उसे सहन नहीं कर पाएंगे, इसलिए हमें सबसे पहले यह सोचना होगा कि कषायों को पोषण कहां से मिलता है? जिस मार्ग से उन्हें पोषण मिलता है, हम उस मार्ग को नष्ट ही कर डालें। जब पोषण बंद हो जाता है तब कषाय मंद हो जाता है।

मन, वचन और काय–ये तीन माध्यम हैं। इन तीनों के द्वारा मैल जब

अंदर पहुंचता है तब इन तीनों के द्वारा कषाय पुष्ट होते हैं। जब हम मन, वचन और काया के प्रति जागरूक हो जाते हैं, अनशन शुरू कर देते हैं, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता शुरू कर देते हैं तो कषाय को मिलने वाला पोषण बंद हो जाता है। जब पोषण नहीं मिलता, बाहर की रसद प्राप्त नहीं होती, तब धीरे-धीरे मूल नष्ट हो जाता है। उसका बल क्षीण हो जाता है। जब हमारा कषाय मंद होता चला जाएगा तब चैतन्य की रश्मियां अपने-आप बाहर फूटेंगी।

दोनों स्थितियां हमारे सामने हैं। एक स्थिति है–विशुद्ध अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या की। दूसरी स्थिति है–अशुद्ध अध्यवसाय और अशुद्ध लेश्या की। जैसे-जैसे साधना का बल बढ़ेगा, वैसे-वैसे कषाय मंद होगा। जैसे-जैसे कषाय मंद होगा, वैसे-वैसे अध्यवसाय, लेश्या, भाव, कर्म और विचार अपने-आप शुद्ध होते चले जाएंगे।

4. स्थूल और सूक्ष्म जगत का संपर्क-सूत्र

अच्छे जीवन के लिए आत्मनियंत्रण आवश्यक है, किंतु वर्तमान का मनोविज्ञान इस भाषा को कम पसंद करता है। आत्मनियंत्रण और आत्मदमन की भाषा को पुरानी भाषा माना जाता है। वर्तमान का विचार है कि मनोभावों का दमन नहीं होना चाहिए, नियंत्रण नहीं होना चाहिए। मनोभावों का नियंत्रण करने से अनेक विकृतियां पैदा होती हैं।

यदि स्वाभाविक मनोभावों को दबाया जाता है, रोका जाता है तो वे दमित वासनाएं व्यक्ति को विकृत बनाती हैं और मस्तिष्क में एक प्रकार का पागलपन भर देती हैं, इसलिए उनका दमन नहीं होना चाहिए। इस बात में कुछ सचाई है, किंतु किसी भी बात को हम पूरे सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो स्वयं सत्य का अपलाप हो जाता है।

प्रत्येक विचार सापेक्ष होता है। उस सापेक्षता को समझे बिना, उसे सर्वांगीण या सार्वभौम विचार मानकर जैसा होता है, वैसा का वैसा स्वीकार कर लिया जाता है तो सत्य की दिशा उलट जाती है और हम स्वयं असत्य की ओर प्रस्थान कर देते हैं।

उद्देश्यः आत्मशोधन

यदि केवल दमन ही होता तो बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं होती, किंतु अध्यात्म की साधना में दमन के साथ-साथ शोधन की क्रिया भी प्रस्तुत है। कोरा दमन नहीं, कोरा नियंत्रण नहीं, आत्मनियंत्रण, आत्मशोधन–दोनों साथ-साथ चलते हैं। आत्मनियंत्रण आत्मशोधन के लिए है।

आत्मशोधन उद्देश्य है तो आत्मनियंत्रण उसका साधन है। आत्मशोधन साध्य है तो आत्मनियंत्रण उसका साधन है, किंतु साधन का उपयोग न किया जाए, यह बात समझ में नहीं आती। साधन का उपयोग बहुत ही आवश्यक है, किंतु इस बात को भी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि आत्मशोधन परम आवश्यक है। शोधन की प्रक्रिया निरंतर चालू रहनी चाहिए।

आत्मशोधन का बाधक : अहंकार

आत्मशोधन की सबसे बड़ी बाधा है अहं। यह बहुत बड़ी समस्या है। व्यक्ति कुछ अर्जित किए हुए होता है। न जाने उसने कितनी गलत आदतें, गलत संस्कार अर्जित किए हैं, किंतु आदमी उनका प्रायश्चित्त करना नहीं चाहता, उनका शोधन, परिमार्जन और परिष्कार करना नहीं चाहता और इसलिए नहीं चाहता कि अहं उसमें बाधक बन बैठा है। मैंने यह किया और मैं यह स्वीकार करूं कि यह अच्छा नहीं हुआ, ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह अहं की एक ग्रंथि मन में निर्मित हो जाती है। उसका शोधन नहीं होता, प्रायश्चित्त नहीं होता। वह आदमी दुष्कृत की गर्हा नहीं कर सकता, सुकृत की अनुमोदना नहीं कर सकता और अध्यात्म की शरण में नहीं जा सकता। जो व्यक्ति दुष्कृत की गर्हा नहीं कर सकता, सुकृत की अनुमोदना नहीं कर सकता और अध्यात्म की शरण में–आत्मा की शरण में नहीं जा सकता, वह प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। इसमें अहं सबसे बड़ी बाधा है। जो अहं भाव से पीड़ित है, वह विनम्र नहीं हो सकता। वह दूसरों को सहयोग नहीं दे सकता, संयम का भी सहयोग नहीं दे सकता। उसे पग-पग पर अहं सताने लग जाता है।

ममकार : अहंकार का रूप

अहं जब विस्तृत होता है तब ममकार बन जाता है। ममकार कोई अलग नहीं है। अहं का ही रूप है ममकार। जब अहंकार किसी के साथ घनिष्ठ संबंध जोड़ लेता है, किसी को घनिष्ठ मान लेता है तो वह अहंकार ममकार के रूप में बदल जाता है। मेरा शरीर, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरा घर–यह जो मेरापन है, वह सारा ममकार है। यह अहं का ही विस्तार है। अहंकार ने शरीर, धन आदि के साथ घनिष्ठता स्थापित कर ली और वह ममकार के रूप में बदल गया। इस अहं का विसर्जन कठिन होता है। आत्मशोधन में यह बहुत बड़ी बाधा है। जो व्यक्ति आत्मनियंत्रण करता है, बाहरी आवेगों और बाहरी निमित्तों से बचता है तो अहं के शोधन की, अहं के विसर्जन की संभावनाएं उसके सामने सहज रूप में उपस्थित हो जाती हैं।

अहं की ग्रंथि बहुत जटिल होती है। उसको तोड़ना कठिन होता है। उसके शोधन की प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं–स्वाध्याय और ध्यान। इन दो साधनों के द्वारा अहं की ग्रंथि को काटा जा सकता है। अपने आपको जानने का प्रयत्न अध्ययन, मनन और चिंतन और स्वाध्याय है। जब यह ज्ञान और चिंतन एकाग्रता के निश्चित बिंदु पर पहुंचता है तब वह ध्यान बन जाता है। ज्ञान और

ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान एक ही है, वास्तव में दो नहीं है। केवल मात्रा का अंतर है, परिणाम का अंतर है। पानी पानी है और पानी बर्फ भी है। पानी में और बर्फ में कोई अंतर नहीं है, किंतु बिंदु का अंतर है। तापमान के एक बिंदु पर पानी पानी है और अंतिम बिंदु पर वही बर्फ बन जाता है, जम जाता है। पानी तरल है। ज्ञान तरल है। बर्फ ठोस है, सघन है। ध्यान ठोस है, सघन है। ज्ञान ही एक बिंदु पर पहुंच कर ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान–ये दो ऐसे साधन हैं जो अहं की ग्रंथि को तोड़ डालते हैं।

आत्मशोधन के साधन

आत्मशोधन की प्रक्रिया के दो साधन हैं–ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान। ये दोनों तप हैं। ये अहं की सारी जड़ों को उखाड़ डालते हैं। आत्मनियंत्रण की प्रक्रिया आत्मशोधन के साथ-साथ चलती है। जहां कोरा आत्मनियंत्रण होता है, आत्मशोधन नहीं होता, कोरा उपवास होता है, कोरा कायक्लेश होता है, कोरी प्रतिसंलीनता होती है। यदि उनके साथ ज्ञान और ध्यान नहीं होता तो मनोविज्ञान की बात सही हो जाती है कि कोरे आत्मनियंत्रण से मनुष्य में विकृतियां उभरती हैं, किंतु अध्यात्म के साक्षात् द्रष्टाओं ने किसी एक ही सत्य का प्रतिपादन नहीं किया और किसी एकांगी साधना का उपदेश नहीं दिया। उन्होंने समग्र मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहा कि आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए, उन्नत जीवन की उपलब्धि के लिए, अच्छे जीवन के निर्माण के लिए आत्मनियंत्रण और आत्मशोधन–दोनों जरूरी हैं। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। दोनों का योग होना चाहिए।

मोक्ष का मार्ग

महावीर से पूछा गया–'क्या ज्ञान मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं, कोरा ज्ञान मोक्ष का मार्ग नहीं है।'

'क्या दर्शन मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं।'

'क्या चारित्र मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं।'

आप आश्चर्य करेंगे यह सुनकर कि महावीर कहते हैं–'ज्ञान मोक्ष का मार्ग नहीं है। दर्शन मोक्ष का मार्ग नहीं है। चारित्र मोक्ष का मार्ग नहीं है। फिर प्रश्न होता है कि मोक्ष का मार्ग कौन-सा है? महावीर से पुनः पूछा–'भंते! फिर

मोक्ष का मार्ग कौन-सा है?' महावीर ने कहा–'अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन, अकेला चारित्र मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकता। जब तीनों का योग होता है तब मोक्ष घटित होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र–तीनों का समन्वित प्रयोग ही मोक्ष का मार्ग है। ये अकेले मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकते।'

हम किसी एक बात को पूरी बात न मान लें। हम इस दृष्टि से सोचें कि कोई व्यक्ति किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन करता है, चिंतन प्रस्तुत करता है तो वह मात्र एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी है। हम एक चिनगारी को पूरी आग न मान लें, उसे मात्र एक चिनगारी ही मानें। आग और है, चिनगारी और है। एक कथन को, एक प्रतिपादन या चिंतन को पूरा न मानें।

हम कोरे आत्मनियंत्रण को भी साधन न मानें और कोरे आत्मशोधन को भी साधन न मानें। जब आत्मनियंत्रण और आत्मशोधन दोनों का योग होता है तब अध्यात्म की यात्रा संपन्न होती है और हम जहां पहुंचना चाहते हैं, वहां पहुंच जाते हैं।

व्यक्तित्व के दो रूप

हम दो व्यक्तित्वों में जीते हैं। एक है स्थूल व्यक्तित्व और दूसरा है सूक्ष्म व्यक्तित्व। इस भौतिक शरीर से, पौद्गलिक शरीर से जो हमारा संबंध है, वह सारा स्थूल व्यक्तित्व है। हमें जीव माना जाता है। हम जीव के रूप में पहचाने जाते हैं, इसलिए कि हमारे स्थूल शरीर में कुछ ऐसी क्रियाएं हैं, लक्षण हैं जो केवल प्राणी में मिलते हैं, पदार्थ में नहीं। पदार्थ और प्राणी के बीच एक भेदरेखा खींची गई। पदार्थ अचेतन होता है और प्राणी सचेतन। सचेतन और अचेतन के बीच भेदरेखा खींची गई, कुछ लक्षण निर्धारित किए। जिनमें अमुक लक्षण मिलते हैं, वह प्राणी और जिनमें ये लक्षण नहीं मिलते, वह प्राणी नहीं होता। वह अचेतन है, पदार्थ है, पौद्गलिक है। हमारे इस स्थूल शरीर की जो भेद रेखाएं हैं, वे हमें जीव प्रमाणित करती हैं। हम उनके द्वारा जीव प्रमाणित होते हैं। हमारा सूक्ष्म व्यक्तित्व, हमारी दृष्टि में जीव नहीं है, आत्मा नहीं है। हमारा स्थूल व्यक्तित्व हमारी दृष्टि में जीव है, आत्मा कोई माने या न माने। सूक्ष्म व्यक्तित्व से स्थूल व्यक्तित्व तक पहुंचने के लिए दस संस्थानों का निर्माण किया गया है–गति, इन्द्रियां, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेद।

ये दस बड़े-बड़े संस्थान हैं, कारखाने हैं। आज के बड़े से बड़े कारखाने इनकी तुलना में छोटे पड़ते हैं। छोटे भी इतने कि एक ओर पर्वत है तो एक ओर

राई है। वर्तमान की दुनिया के सारे औद्योगिक संस्थाओं के आंकड़े हम एकत्र करें और एक स्थूल शरीर के कारखाने के आंकड़े एकत्र करें तो दोनों की तुलना नहीं हो सकेगी। हमारे शरीर का कारखाना सबसे बड़ा प्रमाणित होगा। आज के विज्ञान ने सूक्ष्मता के जगत में हमारी दृष्टि को इतना स्पष्ट कर दिया है कि आज पुरानी सूक्ष्म बातों को पुष्ट करने के लिए या प्रमाणित करने के लिए हमारे मन में साहस है, तनिक भी हिचक नहीं है। विज्ञान की इस सूक्ष्म जगत की यात्रा से पूर्व हम स्वयं प्राचीन तथ्यों को सचोट कहने में हिचकते थे और कभी-कभी मन-ही-मन उनकी यथार्थता के प्रति संदेह भी अभिव्यक्त कर देते थे, किंतु हम विज्ञान के बहुत आभारी हैं। आज के वैज्ञानिकों ने इतने सूक्ष्म तथ्य प्रतिपादित किए हैं कि अतीत में प्रतिपादित सूक्ष्म सत्यों को प्रकट करने में हमें कोई संकोच नहीं होता।

कोशिका की रचना

एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। हमारा यह शरीर कोशिकाओं (सेल्स) से बना है, कोशाणुओं से निर्मित है। शरीर की प्रत्येक कोशिका एक अवयव का निर्माण करती है। ये सेल बहुत सूक्ष्म हैं। एक इंच की लंबाई में 2500 कोशाणुओं को सीधी लाइन में रखा जा सकता है।

हर सूक्ष्म कोशाणु एक बड़ा कारखाना है। उसके ग्यारह विभाग हैं। उसका अपना विद्युत-गृह है, जो विद्युत पैदा करता है। प्रत्येक कोशिका के पास अपना मस्तिष्क है, जो सारा नियंत्रण करता है। पूरी व्यवस्था है। उसका एक विभाग ऐसा है, जो प्राप्त वस्तुओं को रसायन में बदल देता है, उसे विटामिन बनाता है। प्रत्येक सेल में दस हजार से लेकर एक लाख तक निर्देश लिखे हुए होते हैं। यदि उनको छापा जाए तो ब्रिटेन के एन्सॉइक्लोपीडिया जैसे दो हजार भाग (वॉल्यूम) निकल सकते हैं। ऐसे अरबों-खरबों सेल हैं हमारे शरीर में। इनकी तुलना किससे करें, कैसे करें? यह स्थूल शरीर के सूक्ष्म जगत की बात है। सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत कैसा होगा, कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस सूक्ष्म शरीर ने इस स्थूल शरीर का निर्माण किया, उस स्थूल शरीर की यह सूक्ष्म रचना है। जो निर्माता है सूक्ष्म शरीर, उसकी सूक्ष्मता पर विचार करें तो शायद आदमी का दिमाग काम ही नहीं कर पाएगा। बहुत सूक्ष्म है सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत।

इस सूक्ष्म शरीर ने स्थूल शरीर के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए या स्थूल शरीर को जीव का व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए दस बड़े कारखाने

खोल रखे हैं। इन कारखानों का काम यह है कि जो सूक्ष्म आए उसे स्थूल बनाना, उसे स्थूल शरीर में भेजना और इस स्थूल शरीर के व्यक्तित्व को जीव का स्वरूप प्रदान करना, जिससे कि हम पहचान सकें कि यह जीव है।

गति है जीव का लक्षण

गति का कारखाना ऐसा है जो किसी को मनुष्य, किसी को तिर्यंच बनाता है, प्राणियों की जितनी जातियां-उपजातियां हैं, वे सारी इसी की निर्मितियां हैं। वह अमुक-अमुक प्रकार के सेल्स का निर्माण करता है और अपने-अपने ढंग के प्राणी निर्मित हो जाते हैं। हर प्राणी के सेल भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और वे भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करते हैं। बड़ी बुद्धि से काम लेना पड़ता है इस गति के कारखाने को। एक छोटा-सा उदाहरण लें। इन वर्षों में मच्छरों को मारने के लिए डी.डी.टी. का प्रयोग किया गया। प्रारंभिक वर्षों में मच्छर कम होने लगे, किंतु मच्छरों के कोशाणुओं ने ऐसा परिवर्तन कर लिया कि अब डी.डी.टी. का उन पर कोई असर नहीं होता। वे बढ़ रहे हैं।

इन्द्रियः जीव का लक्षण

जीव का दूसरा लक्षण है–इन्द्रिय। जिसके इन्द्रियां होती हैं, वह जीव होता है। अजीव में इन्द्रियां नहीं होतीं। इन्द्रियों का संस्थान भी बहुत बड़ा है। यह सारी इन्द्रियों का काम संचालित करता है।

कषायः जीव का लक्षण

जीव का तीसरा लक्षण है–कषाय। जो क्रोध करता है, मान और माया करता है, लोभ करता है, वह जीव होता है। पत्थर में न क्रोध है, न मान है, न माया और न लोभ है, वह अजीव है। जिसमें कषाय है, वह जीव होता है। जिसमें कषाय नहीं है, वह जीव नहीं होता। वह अजीव होता है। कषाय हमारे स्थूल व्यक्तित्व का एक लक्षण है। कषाय के परमाणुओं को संप्रेषित करना, उनके स्रावों को बाहर भेजना। जो सूक्ष्म जगत में सूक्ष्म हैं, उन परमाणुओं को स्थूल बनाकर और एक भाव का रूप देकर बाहर भेजना इस कारखाने का काम है। यह कारखाना भी बहुत विशाल है।

लेश्या : जीव का लक्षण

चौथा संस्थान है–लेश्या का। जिसमें लेश्या होती है, वह जीव होता है। जिसमें ओरा होता है, वह जीव होता है। यहां एक प्रश्न उभरता है कि ओरा तो अचेतन में भी होता है, अजीव में भी होता है। जो भी पदार्थ हैं, उनमें से रश्मियां

निकलती हैं। पदार्थ का लक्षण ही है रश्मियों को विकीर्ण करना। हर पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं। रश्मियां ओरा बन जाती हैं। एक ईंट की रश्मियां भी ओरा बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में हम यह कैसे माने कि जिसमें लेश्या होती है, ओरा होता है, वह जीव होता है और जिसमें लेश्या नहीं होती, ओरा नहीं होता, वह अजीव होता है? यह लक्षण घटित नहीं होता। इसमें दोष है। ओरा जीव और अजीव दोनों में होता है। यह प्रश्न आता है। हम इसे समझें। यह सच है कि पदार्थ में, अजीव में भी ओरा होता है, किंतु उसका ओरा निश्चित होता है, वह बदलता नहीं। जीव का ओरा अनिश्चित होता है, बदलता रहता है। कभी उसका ओरा अच्छा होता है और कभी बुरा होता है। कभी उसके रंग अच्छे हो जाते हैं और कभी बुरे हो जाते हैं और यह इसलिए होता है कि उसको बदलने वाला लेश्यातंत्र, भावतंत्र भीतर विद्यमान है। पदार्थ में कोरा विकिरण होता है, किंतु उस विकिरण को बदलने वाला, परिवर्तित करने वाला कोई तत्त्व भीतर नहीं है। प्राणी के ओरा का नियामक तत्त्व है लेश्या।

ओरा का कारक तत्त्व है लेश्या

लेश्या के दो भेद हैं–द्रव्यलेश्या और भावलेश्या, पौद्गलिक-लेश्या और आत्मिक-लेश्या। वह निरंतर बदलती रहती है। पदार्थ में परिवर्तन नहीं होता। पदार्थ के बारे में एक वैज्ञानिक निश्चित बात कह सकता है, निश्चित नियम बना सकता है। उनके सार्वभौम नियमों की व्याख्या की जा सकती है, किंतु प्राणी के बारे में कोई निश्चित नियम या व्याख्या नहीं की जा सकती। यहां शामियाना बंधा है। यह इच्छा हो तो छाया करे, इच्छा न हो तो न करे, ऐसा कभी नहीं होता। यदि यह बंधा है तो निश्चित ही छाया करेगा, किंतु प्राणी के लिए यह घटित नहीं होता। वह जब इच्छा होती है तब छाया में बैठ जाता है और जब इच्छा होती है तब धूप में बैठ जाता है। गर्मी लगती है तो छाया में आ जाता है और सर्दी लगती है तो धूप में चला जाता है। प्राणी की यह स्वतंत्रता है। अ-प्राणी की यह स्वतंत्रता नहीं होती। रेलगाड़ी के लिए यह संभव नहीं है कि वह यह सोचे, मैं पटरी पर इतने मील चली हूं, अब सीधे रास्ते से चलूं, किंतु एक छोटी-सी चींटी के लिए यह संभव है। प्राणी की जो विशेषता है, वह है उसकी स्वतंत्रता, उसकी विचार की स्वतंत्रता। विचार का संस्थान, भाव का संस्थान इतना बड़ा है कि उसके लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, उसकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। आज के मनोवैज्ञानिकों के हजारों-हजारों प्रयोगों और अन्वेषणों के बावजूद सभी प्राणियों के लिए

कोई सार्वभौम नियम नहीं बनाया जा सका और भविष्य में भी नहीं बनाया जा सकेगा।

प्राणी और पदार्थ में यह मौलिक अंतर है कि पदार्थ का ओरा निश्चित होता है। उसमें परिवर्तन करने वाला नियामक तत्त्व नहीं होता। प्राणी का ओरा बदलता रहता है। उसमें कभी काला, कभी लाल, कभी पीला, कभी नीला और कभी सफेद रंग उभर आता है। आदमी के भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं। आदमी गुस्से में होता है तो लाल रंग का ओरा बन जाता है। आदमी शांत होता है तो सफेद रंग का ओरा बन जाता है। ओरा प्राणी का लक्षण है, किंतु इसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिए कि परिवर्तनशील ओरा प्राणी का लक्षण है। लेश्या प्राणी का लक्षण है।

संपर्क सूत्रः लेश्या

लेश्या का बहुत बड़ा कारखाना है। कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आनेवाली चैतन्य की तरंगें–इन सब तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना और उन्हें विचार तक, कर्म तक, क्रिया तक पहुंचा देना–यह इसका काम है। यह सबसे बड़ा संस्थान है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच में यदि कोई संपर्क-सूत्र है तो वह है लेश्या। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के द्वारा जो कुछ बाहर से आता है, वह कच्चा माल होता है। लेश्या उसे लेती है और उसे कषाय तक पहुंचा देती है। वह कच्चा माल कषाय के संस्थान तक पहुंच जाता है, यह लेश्या का काम है। फिर भीतर से वह कच्चा माल पक्का बनकर आता है। जो कर्म जाता है, वह फिर विपाक होकर आता है।

भीतरी स्राव जो रसायन बनकर आता है, उसे लेश्या फिर अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक, मस्तिष्क और अंतःस्रावी ग्रंथियों तक पहुंचा देती है, इसलिए यदि हमारे स्थूल शरीर में लेश्या के प्रतिनिधि संस्थाओं को खोजें, उनके बिक्री संस्थानों को खोजें तो जितनी अंतःस्रावी ग्रंथियां हैं, ये सारी लेश्या की प्रतिनिधि संस्थाएं हैं, बिक्री संस्थान हैं। उनके सेल्स मैनेजर वहां बैठे हैं। अच्छे ढंग से उनके माल की सप्लाई कर रहे हैं।

कर्मों के स्राव भीतर से आते हैं लेश्या के द्वारा। अंतःस्रावी ग्रंथियों में आकर वे सारे बाहरी व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। सारा बाहरी व्यक्तित्व उससे बदल जाता है। जो भी माल आता है, वह रंगीन आता है। कषाय शब्द का चुनाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कषाय का अर्थ होता है रंगा हुआ। लाल रंग

से रंगा हुआ या केवल रंगा हुआ। रंगे हुए कपड़े को काषायिक कपड़ा कहा जाता है।

भीतर में बड़ा रंग का संस्थान है कषाय का तंत्र। वहां जो कुछ भी जाता है, वह रंगीन होकर ही जाता है। वहां बिना रंग की कोई वस्तु नहीं है। वहां जो कुछ है, वह सारा रंगा हुआ है। रंग ही रंग का सारा संस्थान है। वहां से जो कुछ भी आता है, वह रंगकर आता है। जितने कर्म के परमाणु हैं, वे सारे के सारे रंग के परमाणु हैं।

भावानुरूप रंगों का आकर्षण

एक आदमी हिंसा का विचार करता है तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है। एक आदमी असत्य बोलता है तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है। एक आदमी क्रोध करता है तो मलिन लाल रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं। रंग दो प्रकार के होते हैं–एक है प्रकाशमान रंग और एक है गंदला रंग यानी प्रशस्त रंग और अप्रशस्त रंग। एक आदमी माया का व्यवहार करता है तो गंदले नीले रंग के परमाणु आकर्षित करता है। जो आदमी बुरे कार्य करता है, अठारह पापस्थानों का सेवन करता है, उनका आचरण करता है तो गंदा काला, गंदा नीला, गंदा लाल, गंदा पीला, गंदा सफेद–पांचों गंदें रंगों के परमाणु आकर्षित होते हैं और वे भीतर के कषायतंत्र तक पहुंच जाते हैं। उनको पहुंचाने वाली है लेश्या। संपर्क-सूत्र का सारा कार्य लेश्या के हाथ में है, फिर वहां से पक पकाकर जब विपाक होता है, पूरे रंगीन होकर जब वे बाहर आते हैं तब लेश्या उन्हें संभालती है और उन्हें बाहर तक पहुंचा देती है, विपाक तक पहुंचा देती है। वे विपाक हमारे भिन्न-भिन्न अंतःस्रावी ग्रंथियों में आकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएं और प्रतिक्रियाएं प्रकट करते हैं। रंगों का सबसे बड़ा संस्थान है लेश्यातंत्र।

हमारा सारा जीवन-तंत्र रंगों के आधार पर चलता है। आज के मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अंतरमन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करनेवाला है रंग। रंग हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह बहुत बड़ी सचाई है। हम सबसे ज्यादा रंग से प्रभावित होते हैं। रस का भी प्रभाव होता है, गंध और स्पर्श का भी प्रभाव होता है, किंतु रंग जितना प्रभाव डालता है उतना कोई नहीं डालता। हम सब रंगों से प्रभावित होते हैं। हमारे जीवन का संबंध रंग से है। हमारी मृत्यु का संबंध रंग से है। हमारे पुनर्जन्म का संबंध रंग से है।

जिस प्रकार के रंग ग्रहण करते हैं, वैसे ही हमारे भाव बन जाते हैं। जब हम हिंसा का विचार करते हैं तब काले रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं और हमारी आत्मा के परिणाम भी काले रंग के अनुरूप बन जाते हैं। जैसा सान्निध्य मिलता है, वैसा बन जाता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, वह वैसा ही दीखने लग जाता है। स्फटिक का अपना रंग नहीं होता। उसके सामने काला रंग आता है तो वह काला, पीला रंग आता है तो वह पीला, लाल रंग आता है तो वह लाल और नीला रंग आता है तो वह नीला बन जाता हैं। आत्मा के परिणामों का अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं, आत्मा के परिणाम उस रंग में बदल जाते हैं, वैसी ही हमारी भावलेश्या हो जाती है। यह संस्थान हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधि से संबद्ध संस्थान है, इसलिए इस विषय पर हमें बहुत विस्तार से चर्चा करनी होगी।

जिस लेश्या में मृत्यु, उसी लेश्या में जन्म

एक व्यक्ति मरता है। वह अगले जन्म में पैदा होता है। पूछा गया कि वह अगले जन्म में क्या होगा? कैसा होगा? उत्तर मिला–जिस लेश्या में मरेगा, उसी लेश्या में उत्पन्न होगा। जिस रंग में मरेगा, उसी रंग में पैदा होगा।

ज्ञान और ध्यान के साथ, कर्म और जीवन के साथ, मृत्यु और पुनर्जन्म के साथ–सबके साथ रंगों का संबंध है। स्थूल व्यक्तित्व का ऐसा कौन-सा विषय है, जिसके साथ रंग का संबंध न हो। यह अंगुली हिलती है। इसका भी अपना रंग है। एक अंगुली का नाम है–तर्जनी। इसका काम है तर्जना देना। इसे ही तर्जनी क्यों कहा गया? दूसरी अंगुली को तर्जनी क्यों नहीं कहा गया? इसे तर्जनी इसलिए कहा गया कि इसका रंग तर्जना देने वाला है। हमारी अंगुलियों का, हमारे घुटने और एड़ी का, हमारे पैर तक के भाग का रंग, हमारे कटि तक के भाग का रंग और शरीर के ऊपरी भाग का रंग अलग-अलग है। सारा रंग ही रंग है। जो भी हम खाते हैं, वह आहारपर्याप्ति के कोष में जाता है। आहारपर्याप्ति की वे कोशिकाएं सबसे पहले उन परमाणुओं को रंग और रूप में बदलती हैं। उनको रंग देती हैं। हमारा सारा विचार रंग से संबद्ध है। हमारा चिंतन और स्मृति रंग से संबद्ध है। सारे व्यक्तित्व को रंग प्रभावित किए हुए हैं, इसलिए इस विषय पर विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है।

योग जीव का लक्षण

पांचवां संस्थान है–योग का, प्रवृत्ति का। यह भी व्यक्तित्व के पहचान का एक लक्षण है। योग का अर्थ है चंचलता। प्रश्न हो सकता है कि यह जीव

का लक्षण कैसे बन सकता है? चंचलता परमाणु में भी होती है। इसका उत्तर है कि जीव में स्वेच्छाकृत चंचलता होती है, परमाणु में स्वेच्छाकृत चंचलता नहीं होती। प्राणी का लक्षण केवल गति नहीं है, किंतु स्वेच्छाकृत गति है। गति अचेतन में भी होती है। दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें गति न हो। पुद्गल और जीव–दोनों में गति है। पुद्गल में स्वेच्छाकृत गति नहीं होती, जीव में स्वेच्छाकृत गति होती है, इसलिए योग भी जीव का एक लक्षण है।

जीव के लक्षण

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपयोग और वेद–ये पांचों ही जीव के लक्षण हैं। जिसमें ज्ञान होता है, वह जीव और जिसमें ज्ञान नहीं होता, वह अजीव। जिसमें देखने की शक्ति होती है, वह जीव और जिसमें देखने की शक्ति नहीं होती, वह अजीव। जिसमें अनियत आचरण की क्षमता होती है, वह जीव और जिसमें यह क्षमता नहीं होती, वह अजीव। जिसमें उपयोग की शक्ति–चाहे तो जानना और न चाहे तो न जानना, यह होती है, वह जीव और बाकी अजीव। जिसमें दूसरे प्राणी को उत्पन्न करने या जन्म देने की क्षमता होती है, वह जीव और जिसमें यह क्षमता नहीं होती, वह अजीव।

ये दस ऐसे संस्थान हैं, जो हमारे सूक्ष्म व्यक्तित्व और स्थूल व्यक्तित्व के बीच में बैठे हैं और सूक्ष्म शरीर से आने वाले अनुदान को उपलब्ध कर उसे स्थूल बनाकर स्थूल व्यक्तित्व में संप्रेषित करते हैं और स्थूल व्यक्तित्व को एक जीव होने का गौरव प्रदान करते हैं।

5. जो व्यक्तित्व का रूपांतरण करता है (1)

प्रत्येक समझदार व्यक्ति अपना रूपांतरण चाहता है, व्यक्तित्व को बदलना चाहता है। जो जैसा है, वैसे में संतुष्ट नहीं होता और अच्छा बनना चाहता है। व्यक्तित्व के रूपांतरण की यह भावना प्रत्येक व्यक्ति में सतत बनी रहती है, परंतु प्रश्न है कि व्यक्तित्व का रूपांतरण कैसे हो और कहां हो? वह कौन-सा केन्द्र है, जहां पहुंचकर व्यक्ति रूपांतरित हो सकता है, अपने व्यक्तित्व को बदल सकता है।

व्यक्तित्व का आवरण और व्यक्तित्व का रूपांतरण–ये दो बातें हैं। व्यक्तित्व पर आवरण तो जब चाहे तब डाला जा सकता है। जो व्यक्ति जैसा है, वैसा दीखना कम पसंद करता है। वह बहुत बार अपने व्यक्तित्व पर आवरण डाले रहता है, जिससे दूसरा उसे पहचान न सके, उसके असली रूप को जान न सके। आदमी को यथार्थ में जान पाना, पहचान पाना बहुत ही कठिन है, क्योंकि उसके व्यक्तित्व पर इतने आवरण हैं कि कोई भी मूलरूप को नहीं जान सकता।

कोई भी व्यक्ति अपने आपको क्रोधी या मायावी प्रदर्शित करना नहीं चाहता। क्रोधी व्यक्ति अपने आपको अत्यंत शांत और क्षमाशील प्रदर्शित करना चाहता है और मायावी व्यक्ति भी अपने आपको बहुत ऋजु और सरल दिखाना चाहता है। वह स्वयं को वीतराग जैसा दिखाना चाहता है। इस प्रकार व्यक्तित्व पर अनेक आवरण डाल दिए जाते हैं।

व्यक्ति की पहचान नहीं हो सकती। व्यक्ति को समझने में जितना धोखा होता है, उतना धोखा और किसी को समझने में नहीं होता। पदार्थ को समझने में कोई धोखा नहीं होता, किंतु व्यक्ति को सही रूप में पहचानने में धोखा होता है और इसका कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व पर आवरण डालना जानता है। उसमें आवरण डालने की तीव्र बुद्धि है, क्षमता है। व्यक्तित्व का रूपांतरण दूसरी बात है। रूपांतरण करना आवरण डालना नहीं है। रूपांतरण में

व्यक्ति बिल्कुल बदल जाता है। व्यक्ति नया हो जाता है। उसका नया जन्म हो जाता है, फिर आवरण डालने की बात नहीं होती। रूपांतरण से व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। अच्छा बुरा बन सकता है और बुरा अच्छा बन सकता है। हमारी इस दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसे सर्वथा अच्छा कहा जा सके और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसे सर्वथा बुरा कहा जा सके।

हम जिसको बुरा मानते हैं, वह अच्छा भी है और जिसे अच्छा मानते हैं, वह बुरा भी है। अच्छाई और बुराई दोनों साथ-साथ चलती हैं। अंतर इतना-सा होता है कि अच्छाई जब उभरकर सामने आती है तब बुराई नीचे रह जाती है और जब बुराई उभरकर सामने आती है तब अच्छाई नीचे रह जाती है, इसलिए हमें उस बिंदु की खोज करनी है, जहां व्यक्ति का रूपांतरण होता है या जो व्यक्ति को रूपांतरित करता है। खोज से यह निष्पत्ति हुई कि वह बिंदु है लेश्या। लेश्या एक ऐसा चैतन्यकेन्द्र है, जहां पहुंचने पर व्यक्ति का रूपांतरण घटित होता है।

चेतना के स्तर

चेतना के तीन स्तर हैं–

1. **स्थूल चेतना का स्तर**–यह स्थूल शरीर के साथ कार्यशील रहता है।

2. **लेश्या का स्तर**–यह विद्युत शरीर, तैजस शरीर के साथ काम करता है।

3. **अध्यवसाय का स्तर**– यह अति सूक्ष्म शरीर (कर्म शरीर) के साथ काम करता है।

शरीर तीन हैं–स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अतिसूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर है औदारिक, सूक्ष्म शरीर है तैजस और अति सूक्ष्म शरीर है कर्म शरीर। इन तीन स्तरों पर तीन चेतनाकेन्द्र काम करते हैं। एक है चित्त चेतनाकेन्द्र, दूसरा है लेश्या चेतनाकेन्द्र और तीसरा है अध्यवसाय चेतनाकेन्द्र। ये तीनों तीन स्तरों पर काम करते हैं। चित्त, मन और इन्द्रियों का संबंध स्थूल शरीर से है।

लेश्या हमारे स्थूल से संबद्ध नहीं है। जिनके मस्तिष्क है, सुषुम्ना है, नाड़ी संस्थान है, उनके लेश्या होती है और जिन जीवों में ये नहीं होते, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उनके भी लेश्या होती है। यह लेश्यातंत्र भावों का निर्माण करने वाला तंत्र है। यह चेतनाकेन्द्र सबसे अधिक सक्रिय और जाग्रत होता है। जितनी स्नायविक क्रियाएं हैं, वे सारी इस शरीर से संबंध रखती हैं।

मन का कोई भी विचार, वाणी की कोई भी प्रवृत्ति, शरीर की कोई भी क्रिया और बुद्धि या चित्त की कोई भी क्रिया इस शरीर तंत्र के बिना, स्नायविक योग के बिना नहीं होती। ज्ञानवाही स्नायु और क्रियावाही स्नायु दोनों प्रकार के स्नायु इन सारी क्रियाओं का संपादन करते हैं, किंतु लेश्या के लिए इन स्नायुओं की कोई अपेक्षा नहीं है। यह स्नायु से परे, स्थूल शरीर से परे है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मनियंत्रण स्नायविक स्तर पर होता है और आत्मशोधन लेश्या के स्तर पर होता है।

व्यक्तित्व के पहलू

हमारे व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं–भाव, विचार और व्यवहार। व्यवहार हमारी कायिक प्रवृत्ति है, कायिक आचरण है। विचार हमारी मानसिक प्रवृत्ति है। ये दोनों स्नायुओं से संबंधित हैं। मन भी स्नायविक प्रवृत्ति है और व्यवहार भी स्नायविक प्रवृत्ति है। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं है। वह लेश्या तंत्र से होने वाली क्रिया है। व्यवहार का नियंत्रण किया जा सकता है। इस प्रकार बैठो, इस प्रकार मत बैठो। यह करो, वह मत करो। यह सब स्नायविक प्रवृत्ति है। इस पर नियंत्रण किया जा सकता है।

वाणी की प्रवृत्ति पर नियंत्रण किया जा सकता हैं और मन की क्रिया पर भी नियंत्रण किया जा सकता है, किंतु जब हम व्यवहार और विचार से परे जाते हैं, भाव के जगत में प्रवेश करते हैं और चेतना के उस स्तर पर जाते हैं, वहां नियंत्रण कोई काम नहीं देता। हमारा यह प्रसिद्ध सूत्र है कि योग की प्रवृत्ति का, क्रियात्मक आचरण का त्याग किया जा सकता है, प्रत्याख्यान किया जा सकता है, किंतु आंतरिक मलिनता का त्याग और प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता।

प्रमाद और कषाय का त्याग कभी नहीं होता। जितना त्याग या प्रत्याख्यान होता है, वह सारा-का-सारा क्रियात्मक प्रवृत्तियों का होता है। वह क्रियात्मक प्रवृत्ति चाहे मन की हो, चाहे वाणी की हो, चाहे शरीर की हो। सारा नियंत्रण, त्याग या प्रत्याख्यान होगा इन क्रियात्मक प्रवृत्तियों का। इसका तात्पर्य है कि स्थूल शरीर की चेतना तक, स्थूल शरीर की स्नायविक क्रिया तक ही त्याग और नियंत्रण होता है। इससे आगे जो कुछ होता है, वह स्वाभाविक होता है, किया हुआ नहीं होता। भाव और लेश्या के क्षेत्र में नियंत्रण नहीं, शोधन होता है। हमारे में नियंत्रण का भी अवकाश है और शोधन का भी अवकाश है। हम नियंत्रण के क्षेत्र में शोधन को न लाएं और शोधन के क्षेत्र में नियंत्रण को न लाएं। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। एक है नियंत्रण की सीमा, एक है शोधन की सीमा।

रूपांतरण जरूरी है

बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति नियंत्रण करना चाहता है, शोधन करना चाहता है, संकल्प करना चाहता है, अच्छा होना चाहता है, फिर भी वह वैसा हो नहीं पाता। त्याग करता है, प्रत्याख्यान करता है, दृढ़ निश्चय करता है, परंतु जो अंतर में बदलना चाहिए, वह नहीं बदलता, जो आदत बननी चाहिए, वह नहीं बनती। तब व्यक्ति के मन में प्रश्न उभरता है। इसका अच्छा समाधान इस लेश्या-तंत्र के द्वारा मिलता है। यदि हम स्नायविक स्तर पर इस प्रश्न को समाहित करना चाहें तो हो नहीं सकता। स्नायविक स्तर की साधना केवल नियंत्रण तक ले जाती है, रूपांतरण तक नहीं ले जाती है। जब तक हम रूपांतरण के स्तर पर नहीं जागते, वहां चित्तवृत्तियों का जागरण नहीं करते, चेतना को वहां नहीं जगाते, वहां ध्यान नहीं करते तो नियंत्रण नहीं हो सकता है, शोधन नहीं हो सकता। जब तक शोधन नहीं होता, तब तक नियंत्रण की बात सामने आती रहेगी, रूपांतरण नहीं होगा।

रूपांतरण के बाद नियंत्रण समाप्त हो जाता है, क्योंकि रूपांतरित व्यक्ति के लिए नियंत्रण की जरूरत नहीं होती। जो व्यक्ति शुक्ललेश्या में, पद्मलेश्या में और तेजोलेश्या में पहुंच जाता है, उस व्यक्ति के लिए नियंत्रण की बात बहुत कम आवश्यक होती है। जो व्यक्ति वीतराग बन गया, उसके लिए नियंत्रण की जरूरत नहीं होती। जो व्यक्ति अप्रमत्त अवस्था में चला जाता है, उसके लिए नियंत्रण किस काम का। जब तक लेश्या के द्वारा अपने व्यक्तित्व का रूपांतरण नहीं हो जाता, तब तक नियंत्रण को नहीं छोड़ा जा सकता। ये दोनों सीमाएं हैं और इन दोनों सीमाओं को हमें बहुत ही स्पष्टता से समझ लेना है।

व्यक्तित्व की कसौटीः भाव जगत

भाव से विचार और विचार से क्रिया। क्रिया स्थूल है, विचार उससे सूक्ष्म है और भाव उससे भी सूक्ष्म। क्रिया और विचार–दोनों स्नायविक प्रेरणा है। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं है, शरीर की प्रवृत्ति नहीं है। वह स्थूल शरीर से परे, फिजिकल-बॉडी से परे, जो लेश्यातंत्र है, उसकी प्रवृत्ति है, उसकी क्रिया है। शोधन का, रूपातंरण का यह पहला बिंदु है। वहां पहुंचकर हम रूपांतरण कर सकते हैं। व्यक्ति को पहचानने का यह पहला बिंदु है। स्नायविक बिंदु के जगत में बहुत धोखा दिया जा सकता है और व्यक्ति को पहचानने पर बहुत बड़ा धोखा हो सकता है।

कोई व्यक्ति बहुत क्रूर होता है, किंतु दूसरे से मिलने में इतना विनम्र

व्यवहार करता है कि सामने वाले व्यक्ति धोखे में आ जाते हैं। व्यावसायिक जगत में न जाने इस प्रकार के कितने धोखे चलते हैं। वह मायावी व्यक्ति अपने आपको इतना मिलनसार, इतना विनम्र और इतना स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ प्रदर्शित करता है और जब उसका अंतरंग स्वरूप सामने आता है तब दोनों स्वरूपों में सामंजस्य कहीं नजर नहीं आता। दोनों एक दूसरे से अत्यंत विपरीत होते हैं। इसीलिए व्यक्तित्व के पहचान की कसौटी मानस-जगत और व्यवहार-जगत नहीं है, किंतु भाव-जगत है, जहां कोई धोखा नहीं हो सकता। जो जैसा है, वैसा रूप ही वहां मिलेगा।

जैसा भाव, वैसा आभामंडल

प्राचीनकाल में साधना संपन्न आचार्य अपने शिष्य की पहचान, उसकी योग्यता की परख उसके आभामंडल के आधार पर करते थे। लेश्या और भावमंडल को देखकर उसे जान लेते थे। जैसा भावमंडल, वैसा आभामंडल। आभामंडल बता देगा कि इस व्यक्ति का भावमंडल कैसा है और भावमंडल यह बता देगा कि व्यक्ति कैसा है। वहां कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। आज की दुनिया में ऐसे वैज्ञानिक उपकरण प्राप्त हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के अंतर्मन को देखा जा सकता है।

अपराधों की जांच की जाती है। अपराधों की खोज करने वाली शाखाएं इस प्रकार के उपकरणों का उपयोग करती हैं। ये मशीनें बता देती हैं कि अमुक ने चोरी की या नहीं की? अमुक झूठ बोल रहा है या सच? व्यक्ति को पूछने की जरूरत नहीं है। मशीन के सामने बिठा दिया जाता है। यंत्र की सुई घूमती है। ग्राफ उतरता है। पता लग जाता है अपराध का और अपराधी का। इसमें भी धोखा हो सकता है, क्योंकि सामने जब यह वातावरण होता है तो व्यक्ति के मन की क्रियाएं भी बदल जाती हैं। इसमें धोखे की संभावना है, किंतु आभामंडल में धोखा होने की कोई संभावना नहीं है।

आभामंडल के संकेत

आज के वैज्ञानिकों ने अनेक गवेषणाओं के बाद यह घोषणा की कि शरीर में जो रोग होगा, उसकी पूर्व सूचना तीन महीने पहले मिल जाएगी। तीन महीने से पहले वह रोग आभामंडल में उतर जाएगा, फिर धीरे-धीरे वह स्थूल शरीर तक पहुंचेगा। उसको वहां अभिव्यक्त होने में तीन महीने लग जाएंगे। तीन महीने पहले जब यह ज्ञात हो जाएगा कि अमुक रोग उभरने वाला है तब व्यक्ति उसकी पूर्व-चिकित्सा करा लेगा, जिससे कि वह रोग उभरे ही नहीं।

अनेक महीनों पूर्व यह घोषणा की जा सकती है कि यह व्यक्ति अमुक दिन मरेगा, क्योंकि आभामंडल पर मृत्यु पहले ही उतरने लग जाती है।

देवताओं का आभामंडल मृत्यु से छह माह पूर्व क्षीण होने लग जाता है। उन्हें सूचना मिल जाती है कि छह माह बाद उन्हें देवजन्म को छोड़कर अन्यत्र जाना होगा, दूसरा जन्म लेना होगा। उनकी मृत्यु को जानने का आभामंडल सशक्त माध्यम है।

हमारे सूक्ष्मजगत में घटित होने वाले सारे निर्देशों को आभामंडल लाता है अध्यवसाय में। कर्म शरीर में जो-जो घटित होने वाली घटनाएं सूक्ष्म स्पंदन के रूप में घटित हो रही हैं, उनको भावजगत में उतारने वाला आभामंडल है और भाव जगत में जो घटनाएं उतरती हैं, उनके सारे निर्देश आभामंडल में पहुंचते हैं।

अध्यवसाय : तरंग की भाषा

हम भाषा से परिचित हैं और लिपि से परिचित हैं। हम दोनों को जानते हैं, किंतु यह बहुत ही स्थूल बात है। मन जब कुछ सोचता है तब चित्र होता है, भाषा नहीं होती। हम जो मन में सोचते हैं, उसे भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। सोचते हैं तब उसका चित्र होता है और बोलते हैं तब लिपि बन जाती है। मनःपर्यवज्ञानी हमारे मन के भावों को तत्काल जान जाता है। वह लिपि को नहीं पढ़ता, किंतु चित्रों को पढ़ता है। एक व्यक्ति ने आज कुछ सोचा। जैसे ही उसने सोचा, विचार पूरा किया कि उसके विचारों के चित्र मन से निकलकर आकाश-मंडल में फैल जाते हैं। हजार वर्ष बाद भी एक मनःपर्यवज्ञानी, जिसमें मानसिक अवस्थाओं को पढ़ने की क्षमता है, वह उन विचारों द्वारा उत्सर्जित चित्रों को देख कर जान जाएगा कि अमुक व्यक्ति ने यह सोचा था।

मानसिक चित्र, मन की आकृतियां आकाश मंडल में भरी पड़ी हैं। मन की भाषा चित्र की भाषा है, लिपि की भाषा नहीं है। भाव की भाषा उससे भी सूक्ष्म है। वह रेखाओं की भाषा है। वहां स्पंदन रेखाओं का रूप ले लेते हैं। अध्यवसाय की भाषा कोरी तरंगों की भाषा है। वहां कोई रेखाएं नहीं हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है–

* अध्यवसाय की भाषा तरंग की भाषा है, स्पंदन की भाषा है।
* लेश्या की भाषा रेखांकन की भाषा है।
* मन की भाषा चित्र की भाषा है।
* आदमी की भाषा लिपि की भाषा है, अक्षरात्मक भाषा है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

हम जो सूक्ष्म जगत में भेजते हैं, वह सारा स्थूल जगत में उतरता है। मनोवैज्ञानिकों ने जो व्याख्याएं की हैं, वे वास्तव में जटिल बनी हैं। वे अधूरी हैं, क्योंकि वे व्यवहार की व्याख्या परिस्थिति के आधार पर करते हैं। एक व्यक्ति कभी घृणा करता है और कभी प्रेम करता है। यह कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति कभी घृणा करे और कभी प्रेम करे। आश्चर्य इस बात का है कि वह व्यक्ति प्रातःकाल जिससे घृणा करता है, सायंकाल उससे प्रेम करने लग जाता है। यह क्यों होता है?

व्यावहारिक मनोविज्ञान इस प्रश्न के उत्तर में कहता है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार के ओब्जेक्ट से जो बात सीखता है, वह वैसा ही करने लगता है। वह व्यक्ति बचपन में ही यह बात सीख चुका है। माता ने उसे कभी दुलारा, प्यार किया तो उसने प्रेम सीख लिया। माता ने उसे कभी डांटा, फटकारा तो उसने घृणा सीख ली, क्रोध करना सीख लिया और उत्तेजित होना सीख लिया। व्यक्ति जो कुछ सीखता है, वह सारा व्यवहार से सीखता है। मनोविज्ञान व्यवहार का इससे आगे कोई समाधान नहीं दे पाता, किंतु हमारा व्यवहार इतना सरल नहीं है। वह इतनी जटिलताओं से भरा है कि केवल परिस्थिति के प्रतिबिंबों को ग्रहण करने से पूरा समाधान नहीं हो सकता, किंतु यदि हम इन सारी समस्याओं को व्यवहार जगत से विचार जगत तक ले जाएं, विचार जगत से भाव जगत तक ले जाएं और भाव जगत से अध्यवसाय जगत तक ले जाएं, तब हमें पूरी व्याख्या प्राप्त हो सकती है, पूरा समाधान मिल सकता है।

मूर्च्छा : कर्म जगत

अध्यवसाय के जगत में, कर्म शरीर के जगत में मूर्च्छा है। प्रेम भी मूर्च्छा है और घृणा भी मूर्च्छा है। प्रेम करना भी मूर्च्छा है और घृणा करना भी मूर्च्छा है। दोनों एक हैं, दो नहीं हैं। केवल मात्रा का अंतर है। केवल प्रकंपनों का अंतर है और कोई अंतर नहीं है। विज्ञान के जगत में इन विरोधी बातों को सुलझाने का बहुत प्रयत्न हुआ है। एक है रंग और एक है शब्द। वैज्ञानिक कहेगा कि इनमें कोई अंतर नहीं है। केवल फ्रिक्वेंसी का अंतर है। रंग को सुना जा सकता है। यदि रंग को शब्द की फ्रिक्वेंसी प्राप्त हो जाए तो वह भी सुनाई दे सकता है। फ्रिक्वेंसी का अंतर मिट जाए तो रंग और शब्दों में कोई अंतर नहीं रह जाता। ध्वनि को देखा जा सकता है, यदि उसे रंग की फ्रिक्वेंसी प्राप्त हो जाए।

प्रेम, घृणा आदि मूर्च्छा की फ्रिक्वेंसियां हैं, मूर्च्छा के प्रकंपन हैं। प्रकंपनों

की मात्रा घट-बढ़ जाती है तब प्रेम उभरता है, घृणा उभरती है। प्रेम भी आवृत्तियों के भेद से घृणा बन जाता है। एक ही मूर्च्छा के नानारूप बन जाते हैं। क्रोध भी मूर्च्छा है, मान भी मूर्च्छा है, माया और लोभ भी मूर्च्छा है। भय भी मूर्च्छा है, कामवासना भी मूर्च्छा है। एक ही मूर्च्छा के ये नानारूप हैं।

ये नानारूप हमारे जीवन में अभिव्यक्त होते रहते हैं, इसलिए एक बच्चा जो कभी प्रेम करता है, कभी घृणा करता है, वह केवल मां से ही नहीं सीखता है, जैसा कि मनोविज्ञान मानता है, किंतु प्रेम और घृणा का सारा प्रवाह उस मूर्च्छा से आ रहा है, जो भीतर पल रही है। वह मूर्च्छा बाह्य जगत की उत्तेजनाओं का निमित्त पाकर उभरती है, उत्तेजित होती है। हम सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत की घटनाओं को ठीक से समझ लेते हैं तो व्यक्तित्व के रूपांतरण की बात भी स्पष्टता से समझ में आ जाती है।

व्यक्तित्व का रूपांतरण लेश्या की चेतना के स्तर पर हो सकता है।

लेश्याएं अच्छी होंगी तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। लेश्याएं बुरी होंगी तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। दोनों ओर बदलेगा, रूपांतरण घटित होगा। इसीलिए हमें बहुत आश्चर्य होता है कि एक दुर्दांत डाकू था, वह अचानक संत बन गया। एक संत था, वह अचानक डाकू बन गया। यह कैसे होता है? जिस व्यक्ति को हमने पचास वर्ष तक संत का जीवन जीते देखा और उसी को अंतिम अवस्था में डाका डालते हुए देखते हैं, आश्चर्य होता है।

जिस व्यक्ति को हमने पचास वर्ष तक डाकू का जीवन जीते देखा और उसी को जब एक संत के रूप में देखते हैं तो आश्चर्य होता है। इतना बड़ा परिवर्तन कैसे घटित होता है? इसमें केवल आवरण का ही परिवर्तन नहीं हुआ है। डाकू ने संत का मात्र चोगा ही नहीं पहना है और संत ने डाकू का चोगा ही नहीं पहना है, किंतु दोनों में रूपांतरण घटित होता है? यह रूपांतरण भाव जगत में घटित होता है तब ऐसा होता है। यह भाव जगत की घटना है, लेश्या जगत की घटना है। वह एक ऐसा संस्थान है, कारखाना है, जहां सबकुछ बदल जाता है। वहां व्यक्ति के सारे भावों का रूपांतरण हो जाता है और व्यक्ति आमूलचूल बदल जाता है। जब भाव बदल जाता है तब भाव के पीछे चलने वाला विचार अपने आप बदल जाता है। जब विचार बदल जाता है, तब विचार के पीछे चलने वाला व्यवहार भी स्वतः बदल जाता है।

हम फिर बदलने की बात को समझें। हम व्यवहार को नियंत्रण के द्वारा ही बदल सकते हैं। हम विचार को नियंत्रण के द्वारा ही बदल सकते हैं। ऐसा

विचार मत करो कि निषेध ही चलेगा। दोनों चलेंगे। वास्तव में विधि और निषेध अलग-अलग नहीं हैं। दोनों एक हैं। कुछ लोग इस बात पर उलझ जाते हैं कि इस वैज्ञानिक युग में नियंत्रण की बात करना सारे विज्ञान को उलट देना है। वे भूल जाते हैं इस बात को कि विधि और निषेध को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता।

विद्युत के दो प्रकार हैं–पोजिटिव और नेगेटिव। दोनों को अलग कर दें, बिजली नहीं जलेगी, दोनों का योग करें, बिजली जल उठेगी। विधि और निषेध–दोनों निरंतर साथ-साथ चलते हैं। एक का विधान करते हैं तो दूसरे का निषेध स्वतः प्राप्त हो जाता है।

आज की चिकित्सा प्रणाली में थोड़ा-सा अंतर है। वह है खंड चिकित्सा प्रणाली। एक समय ऐसा था, जब अखंड चिकित्सा प्रणाली चलती थी। घुटने में दर्द है। पुराने चिकित्सक घुटने का इलाज नहीं करते। वे कहते कि यह तो रोग का लक्षण है। यह घुटने में अभिव्यक्त हुआ है। घुटने में क्या है, जो रोग हो जाए? यह तो इस बात की सूचना देता है कि शरीर में रोग है। सिर में दर्द है। सिर पर दर्द का इलाज नहीं होगा। शरीर का इलाज होगा। न घुटने के दर्द का इलाज, न सिर के दर्द का इलाज, न कान के दर्द का इलाज, न हाथ के दर्द का इलाज। ये सारे शरीर के अंग हैं, अवयव हैं। शरीर को देखो कि बीमारी कहां है? मूल को देखो कि बीमारी कहां है? पूरे शरीर की चिकित्सा करो, ये सारे दर्द मिट जाएंगे। शरीर स्वस्थ होने पर न घुटने का दर्द रहेगा, न सिर का दर्द रहेगा, न कान और हाथ का दर्द रहेगा। यह अखंडित चिकित्सा प्रणाली है। शरीर के खंड-खंड का इलाज नहीं, पूरे शरीर का इलाज करो।

आध्यात्मिक चिकित्सा : अखंड प्रणाली

खंडित चिकित्सा प्रणाली से कुछ विकृतियां भी पैदा हुई हैं, भ्रांतियां भी पैदा हुई हैं। इस प्रणाली से चिकित्सा होती है, मादक गोलियां लेते हैं, स्नायुओं में शामकता बढ़ती है और वे कुछ ठीक होते हुए से लगते हैं, किंतु जब शामकता की शक्ति थोड़ी-सी क्षीण होती है, तब वह अवयव पुनः दर्द करने लग जाता है। सिरदर्द हुआ, सेरोडिन, एनासिन आदि गोलियां लीं। सिर का दर्द मिट गया-सा लगता है। रोज-रोज इन गोलियों का प्रयोग होता है। जैसे ही इनका नशा दूर होता है, वह रोग फिर प्रकट हो जाता है। इन शामक औषधियों ने, इस खंड चिकित्सा प्रणाली ने कभी रोग का समाधान नहीं दिया। उसे मिटाया नहीं।

अखंड चिकित्सा प्रणाली समूचे शरीर का निदान करती है, पूरे शरीर का इलाज करती है और शरीर के मूल केन्द्रों को स्वस्थ बनाती है। हृदय की गति, लीवर की गति, गुर्दे की क्रिया आदि-आदि जब ठीक होते हैं तब जहां अवरोध है, दर्द है, वह अपने आप ठीक हो जाता है। सारे अवरोध समाप्त हो जाते हैं।

मानसिक चिकित्सा प्रणाली या आध्यात्मिक चिकित्सा प्रणाली भी अखंड चिकित्सा प्रणाली है। इस अखंड प्रणाली में विधि और निषेध साथ-साथ चलेंगे। यहां दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। नियंत्रण का काम नियंत्रण करेगा, निषेध का काम निषेध करेगा और विधि का काम विधि करेगी। भावों की शुद्धि जहां होती है, वहां भाव शुद्ध होंगे, जहां विचार और नियंत्रण की सीमा है, वहां उनकी शुद्धि होगी।

व्यक्तित्व का रूपांतरण कैसे घटित होता है, इसे हम समझें। यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि व्यक्तित्व का रूपांतरण स्थूल शरीर की सीमा में नहीं हो सकता। वह हो सकता है लेश्या की चेतना के स्तर पर। अब पुनः प्रश्न होता है कि हम उस लेश्या की चेतना के स्तर पर कैसे पहुंचे? किस माध्यम से पहुंचे, जिससे कि हमारा व्यक्तित्व रूपांतरित हो। हमें यह यात्रा स्थूल शरीर से ही प्रारंभ करनी होगी। हमें रंग का सहारा लेना होगा।

रंग हमारे व्यक्तित्व को बहुत प्रभावित करते हैं। ये व्यक्तित्व पर जितना प्रभाव डालते हैं, उतना प्रभाव और कोई नहीं डालता। रंग स्थूल व्यक्तित्व को भी प्रभावित करते हैं और सूक्ष्म व्यक्तित्व को भी प्रभावित करते हैं। वे तैजस शरीर और लेश्या तंत्र को भी प्रभावित करते हैं। रंगों का अखंड साम्राज्य है। वे अध्यवसाय कर्म-शरीर तक काम करते हैं। आगे-पीछे चारों ओर रंग ही रंग हैं। यदि हम रंगों की क्रियाओं और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को समझ लेते हैं तो व्यक्तित्व के रूपांतरण में हमें बहुत बड़ा सहयोग मिल सकता है।

जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उदात्त करना चाहता है, अच्छा बनाना चाहता है तो वह सबसे पहले अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण करेगा, उनको वश में रखेगा। समाज में रहने वाला कोई भी व्यक्ति, जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं होता, मन पर नियंत्रण नहीं होता, वह समाज में प्रतिष्ठित नहीं होता, इसलिए वह सबसे पहले मन और इन्द्रियों पर एक सीमा तक नियंत्रण करता है। समाज में जो व्यक्ति ऊंचे आसन पर हैं, उनके लिए नियंत्रण करना और अधिक जरूरी हो जाता है, इसीलिए राजनीति के आचार्यों ने कहा—जो बड़ा नेता होना चाहे, वह सबसे पहले अपने पर नियंत्रण करे। अपनी इन्द्रियों

पर काबू रखे। वे इन्द्रियों पर इतना नियंत्रण तो अवश्य ही रखे, जिससे समाज में उनकी उच्छृंखलता प्रदर्शित न हो। लोग व्यवहार को देखते हैं। अध्यात्म सामने नहीं आता। व्यवहार सामने आता है। व्यवहार में भद्दा रूप प्रदर्शित न हो, यह अपेक्षित है। व्यक्ति में भद्दापन हो या न हो, समाज उसकी चिंता नहीं करता। वह इस बात की चिंता करता है कि व्यक्ति का भद्दापन प्रदर्शित न हो। नेता अपनी जुबान पर इतना नियंत्रण तो अवश्य ही रखे कि वह ऐसी बात कभी न कहे, जिससे सारा संगठन विघटित हो जाए। कभी-कभी नेता की एक बात पर सारा शासन-तंत्र ही टूट जाता है। नेता अपने मन पर नियंत्रण तो अवश्य ही रखे।

भाव-विचार-व्यवहार

मन पर, वाणी पर और व्यवहार पर एक सीमित नियंत्रण की अपेक्षा सबको रहती है, किंतु यदि कृष्णलेश्या है, काले रंग के परमाणु निरंतर खींचे जा रहे हैं तो व्यक्ति के भाव बुरे बन जाते हैं। वह हजार बार ऐसा निश्चय कर ले, राजनीति का पाठ पढ़े, उपदेश सुने, फिर भी जब प्रसंग आएगा तो वह ऐसी बात कह देगा, जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है। ये काले रंग के परमाणु उसे संचालित कर रहे हैं। काले रंग के परमाणुओं से बनने वाले भाव उसे संचालित कर रहे हैं। वे भाव विचारों पर उतरते हैं। विचार व्यवहार पर उतरते हैं और व्यक्ति चाहे या न चाहे, अभद्र बात कह दी जाती है। व्यक्ति के मन में फिर चिंतन आता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिए था। जब तक ये काले रंग के परमाणु, नीले और कापोतवर्ण के परमाणु आकर्षित होते रहते हैं और वे लेश्यातंत्र और भावतंत्र को प्रभावित करते हैं, तब व्यक्ति का विचार हो या न हो, वह वैसा व्यवहार करना चाहे या न चाहे, किंतु वह व्यवहार घटित हो जाएगा। इस बिंदु पर आकर पुरुषार्थ की सीमा को भी समझना होता है। यह एक ऐसा बिंदु है, जहां पुरुषार्थ की सीमा का मूल्य समझ में आ सकता है।

व्यक्तित्व का रूपांतरण कैसे हो?

हमारा कर्तृत्व स्वतंत्र है। आत्मा का कर्तृत्व स्वतंत्र है। हम पुरुषार्थ करते हैं, किंतु पुरुषार्थ की सीमा है चित्त तक, स्थूल शरीर तक, स्नायविक जगत तक। जहां भाव का जगत है, वहां पुरुषार्थ की सीमा बदल जाती है। यदि हमारे वैसे परमाणुओं का संग्रह हो रहा है या हम वैसा संग्रह करते जा रहे हैं तो यह हमारा स्थूल पुरुषार्थ–चित्त, मन और शरीरतंत्र का पुरुषार्थ–वहां काम नहीं दे सकता। स्थूल जगत में कभी-कभी ऐसा लगता है कि पुरुषार्थ तो चला, फिर भी वह स्नायविक-जगत से, स्थूल-शरीर की सीमा तक काम करने वाली

चेतना से समाधान लेना चाहता है। वहां उसका समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमारे पुरुषार्थ के विपरीत पुरुषार्थ करते हुए भी परिणाम विपरीत आता है तो हमें फिर लेश्या के जगत में, भाव के जगत में जाकर समाधान खोजना होगा। कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा है कि एक ओर तो हमारा पुरुषार्थ चल रहा है और उधर मन बुरे विचारों के परमाणुओं को, काले, नीले और कापोती वर्ण के परमाणुओं को खींच रहा है, हमारा पुरुषार्थ पर आघात होगा, उन परमाणुओं से वह पुरुषार्थ टकराएगा और वह सफल नहीं होगा।

हर बात को सापेक्षता से समझना होता है। महावीर ने कहा–'पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, तू ही तेरा शत्रु है।' यह भी सापेक्ष बात है। किस सीमा में आत्मा मित्र होता है और किस सीमा में आत्मा शत्रु होता है? पुरुषार्थ को मित्र और शत्रु बनाने की क्या मर्यादाएं हैं? यदि हम स्थूल जगत के साथ सूक्ष्म जगत को नहीं समझते हैं, विचार, व्यवहार और चित्त की चेतना के साथ लेश्या और अध्यवसाय की चेतना को नहीं जोड़ते हैं तो पूरा समाधान प्राप्त नहीं होता, इसलिए व्यक्तित्व के रूपांतरण के लिए हमें सूक्ष्म जगत पर ध्यान देना होता है।

संदर्भः जितेन्द्रिय-अजितेन्द्रिय का

दो शब्द हैं–अजितेन्द्रिय और जितेन्द्रिय। सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला व्यक्ति एक सीमा तक जितेन्द्रिय होना चाहता है। साधना करने वाला व्यक्ति व्यापक सीमा तक जितेन्द्रिय होना चाहता है, किंतु समस्या दोनों के सामने है कि क्या नियंत्रण से ही जितेन्द्रिय हो सकते हैं? बहुत कठिन बात है। जितेन्द्रिय होने के लिए इस नियंत्रण कक्ष से परे जाकर रंगों की समस्या पर भी हमें ध्यान देना होगा। यदि हम चमकते हुए पीले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करते हैं तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति निर्मित हो जाती है। हम जितेन्द्रिय हो सकते हैं। पद्मलेश्या का अभ्यास करने वाला व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है। कृष्ण और नीललेश्या में रहने वाला व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है। कृष्णलेश्या का सूत्र है अजितेन्द्रिय। पद्मलेश्या का सूत्र है–जितेन्द्रिय। ये दोनों प्रकार के परमाणु एक दूसरे से विरोधी हैं। जब तक काले रंग के परमाणुओं का प्रभाव बना रहता है, तब तक हम जितेन्द्रिय नहीं हो सकते। जब पीले रंग के परमाणुओं से हमारा लेश्यातंत्र और आभामंडल सक्रिय होता है, तब हमें जितेन्द्रिय बनने की सुविधा मिल जाती है।

सूक्ष्म और स्थूल–दोनों जगत के प्रभावों को समझकर हम अपने व्यक्तित्व के रूपांतरण के लिए प्रयत्न करें। वह पुरुषार्थ कभी विफल नहीं होगा।

6. जो व्यक्तित्व का रूपांतरण करता है (2)

आत्मनियंत्रण से पूर्व आत्मशोधन की चर्चा प्राप्त होती है। आत्मशोधन हुए बिना आत्मनियंत्रण का कार्य पूरा नहीं होता। आत्मनियंत्रण की अपनी सीमा है। आदत को बदलने के लिए, स्वभाव को बदलने के लिए, व्यक्तित्व के पूरे रूप को बदलने के लिए आत्मशोधन आवश्यक है। यह कोरा दिशांतरण नहीं है, मार्गांतरीकरण नहीं है, किंतु संपूर्ण रूपांतरीकरण है। मनोविज्ञान का मार्गांतरीकरण एक मौलिक वृत्ति के मार्ग को बदलने की प्रक्रिया है, उसको दूसरी दिशा में ले जाने की पद्धति है।

व्यक्ति में काम की मनोवृत्ति है। जब वह वृत्ति उदात्त बनती है तब कला, सौंदर्य आदि अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियों में बदल जाती है। आत्मशोधन में दिशांतरण नहीं होता, किंतु स्वभाव मूलत: बदल जाता है। उसका सर्वथा विलय हो जाता है और वह वृत्ति बदल जाती है। उसके तीव्र विपाकों, तीव्र अनुभवों को इतना मंद कर दिया जाता है कि वह आदत या स्वभाव कोई बाधा उपस्थित न कर सके।

प्रश्न है कि आत्मशोधन की प्रक्रिया क्या है और उसके सूत्र कौन-कौन-से हैं? अध्यात्म के साधकों ने, आत्मद्रष्टाओं ने इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण खोजें की और सौभाग्य है कि उनकी खोजें आज भी हमारे समक्ष सुरक्षित हैं।

ग्रंथितंत्र आदतों का उद्गम है

मनुष्य की जितनी आदतें बनती हैं, उनका मूल उद्गम-स्थल है ग्रंथितंत्र। हमारे शरीर के दो मुख्य भाग हैं–एक है नाड़ीतंत्र और दूसरा है ग्रंथितंत्र। नाड़ी तंत्र में हमारी सारी वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव में आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती हैं। व्यवहार, अनुभव या अभिव्यक्तीकरण–यह सब नाड़ीतंत्र का काम है, किंतु आदतों की उत्पत्ति ग्रंथितंत्र में होती है। जो हमारी अंत:स्रावी ग्रंथियां हैं, उनमें आदतें जन्म लेती हैं, वे ही आदतें मस्तिष्क के पास

पहुंचती हैं, अभिव्यक्त होती हैं और व्यवहार में उतरती हैं, इसलिए विज्ञान के क्षेत्र में एक नए शब्द का प्रचलन हुआ है–'न्यूरो एण्डोक्राइन सिस्टम'। इसका अर्थ है–ग्रंथितंत्र और नाड़ीतंत्र का संयुक्त कार्य।

हमारी वृत्तियां, भाव या आदतें–इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तंत्र है लेश्यातंत्र। जब तक लेश्यातंत्र शुद्ध नहीं होता, तब तक आदतों में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेश्यातंत्र को शुद्ध करना आवश्यक है। उसको शुद्ध करने की प्रक्रिया को समझने से पहले यह समझना जरूरी है कि अशुद्धि कहां जन्म लेती है और कहां प्रकट होती है। यदि हम उस तंत्र को ठीक समझ लेते हैं तो उसे शुद्ध करने की बात को समझने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

तीन अशुभ लेश्याएं

बुरी आदतों को उत्पन्न करने वाली तीन लेश्याएं हैं–कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या। क्रूरता, हत्या की भावना, कपट, असत्य बोलने की भावना, प्रवंचना, धोखाधड़ी, विषय की लोलुपता, प्रमाद, आलस्य आदि जितने दोष हैं, ये सब इन तीन लेश्याओं से उत्पन्न होते हैं। हमारे इस स्थूल शरीर में इन लेश्याओं के संवादी स्थान हैं, जिनमें ये वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। अधिवृक्क-ग्रंथियां (एड्रीनल ग्लैण्डस) और जननग्रंथियां (गोनाड्स)–ये जो ग्रंथियां हैं–ये इन लेश्याओं के संवादी स्थान हैं। इन अप्रशस्त तीन लेश्या के भाव यहां जन्म लेते हैं।

हम योगशास्त्र की दृष्टि, लेश्या के सिद्धांत की दृष्टि और वर्तमान के शरीर शास्त्र की दृष्टि–इन तीनों दृष्टियों से इस पर विचार करें और इसकी तुलना करें।

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार काम वासना का स्थान है–जननग्रंथियां (गोनाड्स) वहां भय, आवेग, बुरे भाव जन्म लेते हैं। इन दोनों ग्रंथियों–'एड्रीनल और गोनाड्स' को योगशास्त्र की भाषा में स्वाधिष्ठान-चक्र और मणिपुर-चक्र कहा जाता है। आश्चर्य न करें। सत्य को हम किसी छोर से पकड़ें, एक ही सत्य उपलब्ध होगा। यदि हम सत्य की दिशा में चलते हैं तो किसी भी कोण से चलें–चाहे शरीर को खोजते-खोजते चलें, चाहे योग की खोज में चलें और चाहे अध्यात्म के दर्शन की खोज में चलें, किसी भी खोज में चलें, जहां सत्य का बिंदु है, वहां तक पहुंच जाएंगे। सबका एक-सा अनुभव होगा।

लेश्या और योगः शरीर शास्त्रीय तुलना

योग का एक ग्रंथ है–आत्मविवेक। उसमें बताया है कि क्रूरता, वैर, मूर्च्छा, अवज्ञा और अविश्वास–ये सब स्वाधिष्ठान चक्र में उत्पन्न होते हैं। तृष्णा, ईर्ष्या, लज्जा, घृणा, भय, मोह, कषाय और विषाद–ये सब मणिपुर चक्र में जन्म लेते हैं।

तीसरा है अनाहत चक्र। यह हृदय के स्थान का चक्र है। इस चक्र में लोलुपता, तोड़फोड़ की भावना, आशा, चिंता, ममता, दंभ, अविवेक, अहंकार सारे जन्म लेते हैं।

ये तीन चक्र हैं–स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र और अनाहत चक्र, जहां हमारी सारी वृत्तियां जन्म लेती हैं।

अब हम लेश्या की दृष्टि से विचार करें। अविरति क्षुद्रता, निर्दयता, नृशंसता अजितेन्द्रियता–ये कृष्णलेश्या के परिणमन हैं। ईर्ष्या, कदाग्रह, अज्ञान, माया, निर्लज्जता, विषय-वासना, क्लेश, रस-लोलुपता–ये नीललेश्या के परिणमन हैं। वक्रता-वक्र आचरण, अपने दोषों को ढकने की मनोवृत्ति, परिग्रह का भाव, मिथ्या दृष्टिकोण, दूसरे के मर्म को भेदने की वृत्ति, अप्रिय कथन–ये कापोतलेश्या के परिणमन हैं।

शरीर शास्त्रीय दृष्टि, योग शास्त्रीय दृष्टि और लेश्या दृष्टि–इन तीनों को हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें। लेश्या के सिद्धांत में जो तीन लेश्याएं हैं, योग शास्त्र की दृष्टि में जो तीन चक्र हैं और शरीर शास्त्रीय दृष्टि में जो एड्रीनल और गोनाड्स ग्रंथियां हैं–इन सबका वर्णन समान-सा है। लेश्या का सिद्धांत मानता है कि सारी आदतें तीन लेश्याओं में जन्म लेती हैं। योगशास्त्र मानता है कि सारी आदतें तीन चक्रों में जन्म लेती हैं और शरीर शास्त्र के अनुसार ये सारी आदतें दो ग्रंथियों में जन्म लेती हैं। तीनों के प्रतिपादन में अद्भुत समानता है। यह सत्य स्पष्ट हो गया कि सारी बुरी वृत्तियां पेडू के परिपार्श्व से लेकर नाभि के स्थान तक या हृदय के स्थान तक जन्म लेती हैं। इतना ही स्थान है इनका। इस सत्य को समझ लेने पर बदलने की बात को समझने में बहुत सरलता हो जाती है।

बुरी वृत्तियों का उद्गम स्थल

शरीर के तीन भाग हैं–एक भाग है नाभि के ऊपर का, जो ऊर्ध्वलोक कहलाता है। दूसरा भाग है नाभि का, जो तिर्यक् लोक या मध्यलोक कहलाता

है। तीसरा भाग है नाभि से नीचे का, जो अधोलोक कहलाता है। आदतें या बुरी वृत्तियां अधोलोक में या मध्यलोक में जन्म लेती हैं। ऊर्ध्वलोक का भी कुछ हिस्सा आ जाता है। जब हमारा मन, हमारे विचार नाभि से नीचे के भाग में शक्तिकेन्द्र तक दौड़ते रहते हैं तब बुरी वृत्तियां उभरती हैं, विकसित होती हैं। उनका चक्र चलता रहता है। बाद में आदत बन जाती है। उसका अनुबंध हो जाता है। हमें सबसे पहले यह तय करना होगा कि हमारा मन नाभि केन्द्र पर न जाए। उसे हृदय से ऊपर के भाग की यात्रा करने दें। उसी भाग में लगाए रखें। हमारा मन यदि ऊपरी भाग की यात्रा में लगा रहेगा तो आदतों में स्वत: परिवर्तन होना शुरू हो जाएगा। मन की यात्रा जितनी नीचे होगी, उतनी ही आदतें बिगड़ती जाएंगी।

आदतों का बनना-बिगड़ना मन के रमण और विरमण पर आधृत है। मन शरीर के नीचे के भाग में रमण न करे, विरमण करे। मन शरीर के ऊपरी भाग में रमण करे, विरमण न करे। भगवान महावीर ने कहा–**जे आसवा ते परिसवा। जे परिसवा ते आसवा।** जो आने के मार्ग हैं, वे ही जाने के मार्ग हैं और जो जाने के मार्ग हैं, वे ही आने के मार्ग हैं। आने और जाने के मार्ग दो नहीं होते। जो भीतर जाते हैं, वे बाहर आते हैं और जो बाहर आते हैं, वे भीतर जाते हैं। जिनका आस्रव होता है, उनका परिश्रव होता है। यह चक्र बराबर चलता रहता है।

तेरापंथ धर्मसंघ के चौथे आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने राजस्थानी भाषा में एक पद्य में इस तथ्य को बहुत ही सुंदर अभिव्यक्ति दी है। वह पद्य है–

जिण कर्म ना उदय थकी, हणे कोई पर प्राण।
तिण करम ने कहिए सही, प्राणातिपात पापठाण॥

कर्मवर्तुल

जिस कर्म के उदय से हिंसा कर्म के परमाणु विपाक में आए, अंत:स्रावी ग्रंथियों के द्वारा वे बाहर आए, मस्तिष्क तक पहुंचे और व्यक्ति में हिंसा करने की भावना जगा गए। व्यक्ति में वह भावना प्रबल बनी और वह व्यवहार में हिंसा करने उतर गया। जब वह व्यवहार में हिंसा करने उतरा तो फिर कर्म का बंध हुआ, फिर वे काले परमाणु आए और भीतर चले गए। पूरा वर्तुल बन गया। इधर से प्रकट होकर उधर काम में आते हैं और फिर से उनका आक्रमण होता चला जाता है। इस वर्तुल से बाहर निकलना कठिन होता है।

आदतें पौद्गलिक हैं

हिंसा आदि वृत्तियों से आकृष्ट होने वाले परमाणु रंगीन होते हैं। गणधर गौतम ने भगवान से पूछा–भंते! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह ..... आदि वृत्तियों के कितने रंग, कितने रस, कितने गंध और कितने स्पर्श होते हैं? भगवान ने कहा–प्राणातिपात आदि में दो वर्ण, दो गंध, पांच रस और चार स्पर्श होते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ–इन सबमें भी ये होते हैं। ये सारी आदतें पौद्गलिक हैं। इनमें वर्ण होता है, गंध होता है, रस होता है और स्पर्श होता है। ये रंगीन परमाणु हमारी ग्रंथियों में आते हैं और नई आदतों के लिए नई सामग्री दे जाते हैं।

इस वर्तुल से निकलने का रास्ता क्या है? यह एक प्रश्न है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा इस वर्तुल से बाहर निकला जा सकता है। यही एक मात्र साधन है, जो इस वर्तुल को तोड़ सकता है, फिर प्रश्न होता है कि प्रेक्षाध्यान के द्वारा क्या होगा? प्रेक्षाध्यान के द्वारा हम मन की गति को बदल देते हैं। मन रमण करता है। रमण का अर्थ है–प्रियता या अप्रियता में जाना। या तो मन प्रियता का भाव लेकर हमारे शरीर में एक लहर बनकर दौड़ता है या अप्रियता का भाव लेकर हमारे शरीर में एक लहर बनकर दौड़ता है। प्रियता का भाव राग है और अप्रियता का भाव द्वेष है। जब मन राग की या द्वेष की लहर के साथ दौड़ता है तब नाना प्रकार की तरंगें उत्पन्न करता है। यह उसका रमण है। जब हम मन को प्रेक्षा करने में लगा देते हैं तब वह विरमण में बदल जाता है। वह सीधा चैतन्य के पास पहुंच जाता है।

गौतम ने महावीर से पूछा–भंते! प्राणातिपात का विरमण, मृषावाद का विरमण, अदत्तादान का विरमण, मैथुन का विरमण, क्रोध, मान, माया और लोभ का विरमण–इनमें कितने वर्ण, कितने रस, कितने गंध और कितने स्पर्श होते हैं? भगवान महावीर ने कहा–इनमें कोई वर्ण नहीं होता, कोई रस नहीं होता, कोई गंध नहीं होता और कोई स्पर्श नहीं होता, क्योंकि ये सब चैतन्य की रश्मियां हैं।' रमण है–पुद्गल और विरमण है–चैतन्य। रमण है रंगयुक्त और विरमण है रंगमुक्त। जब हम प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करते हैं, राग और द्वेष–दोनों से छूटकर केवल जानने की दृष्टि से शरीर को देखते हैं, तब हम केवल जानते हैं, देखते हैं।

प्रेक्षाध्यान में हम केवल जाने, देखें, कोई संवेदन न करें। प्रिय-अप्रिय की कोई प्रतिक्रिया न करें। केवल जानें, केवल देखें। समताभाव, तटस्थभाव

और द्रष्टाभाव को बनाएं रखें। जब मन की यह स्थिति बनती है और रागद्वेष से शून्य मन से हम शरीर की प्रेक्षा करते हैं, तब हमारा समूचा शरीर करण बन जाता है–पारदर्शी, शुद्ध और पवित्र बन जाता है। हम ग्रंथितंत्र को बदलने के लिए चैतन्यकेन्द्रों की प्रेक्षा करते हैं। समूचे शरीर को करण बनाने के लिए पूरे शरीर की प्रेक्षा करते हैं।

निदर्शन अवधि ज्ञान का

स्थानांग सूत्र का एक मार्मिक प्रसंग है। जिस व्यक्ति को अतीन्द्रिय ज्ञान–अवधिज्ञान उपलब्ध होता है तो वह अवधिज्ञानी व्यक्ति किस माध्यम से देखता है? देखने का माध्यम है–शरीर। शरीर से ही प्रकाश की किरणें निकलेंगी। अवधिज्ञान की ज्योति प्रकट होगी तो इसी शरीर से होगी। यह शरीर एक ढक्कन है। हम जब तक केवल स्नायविक संस्थान के भीतर यात्रा करते हैं और स्नायु संस्थान के माध्यम से ही जानते-देखते हैं, तब तक शरीर करण नहीं बनता, किंतु जब हम प्रेक्षा का प्रयोग करते हैं–अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय का प्रयोग करते हैं तब यह समूचा शरीर करण बन जाता है। जब पूरा शरीर करण बन जाता है तब अवधिज्ञानी पूरे शरीर से देखता है। यदि पूरा शरीर करण नहीं बनता, केवल दायां कंधा करण बनता है तब अवधिज्ञानी दाएं कंधे से देखेगा।

यदि बायां कंधा करण बनता है तो अवधिज्ञानी बाएं कंधे से देखेगा। यदि आगे के चैतन्यकेन्द्र करण बन गए तो अवधिज्ञानी आगे से देखेगा। यदि पीछे सुषुम्ना में कोई चैतन्यकेन्द्र करण बन गया तो अवधिज्ञानी पीछे से देखेगा। यदि ज्ञानकेन्द्र जागृत हो गया, करण बन गया तो अवधिज्ञानी सिर से देखेगा। यह देशावधिज्ञान है। जिसे देशावधिज्ञान प्राप्त होता है, वह व्यक्ति शरीर के किसी एक हिस्से से जानता-देखता है। जिसे सर्वावधिज्ञान प्राप्त होता है, वह पूरे शरीर से जानता-देखता है। हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका में करण बनने की क्षमता है। वह पारदर्शी, निर्मल और तैजस बन सकती है और सारे आवरणों को दूर कर सकती है। आवश्यकता है करण बनने की।

शासक है चित्त

करण के दो अर्थ हैं–एक अर्थ है शरीर का संस्थान और दूसरा अर्थ है चित्त की धारा, परिणाम। हमारे इस भौतिक शरीर का सबसे बड़ा शासक है चित्त। समूचे शरीर में चित्त का शासन है। मन उसी का अनुचर है, उसके पीछे चलने वाला कर्मचारी है। मूल शासक है चित्त। चित्त अपौद्गलिक है, मन

पौद्गलिक है। चित्त अवर्ण है, मन सवर्ण है। इस स्थूल शरीर में लेश्या के बाद सबसे पहला स्थान है चित्त का। यह सारे तंत्र को संचालित करता है। मन, शरीर और वचन–तीनों इसके द्वारा संचालित हैं। जब प्रेक्षाध्यान के द्वारा चित्त निर्मल बनता है, करण बन जाता है तब हमारी ग्रंथियां भी निर्मल बनने लग जाती हैं।

योगशास्त्र में कमल और चक्र–ये दो शब्द मिलते हैं। हमारे शरीर में ये कमल हैं–नाभि कमल, हृदय कमल आदि। ये चक्र हैं–मणिपुरचक्र, अनाहतचक्र आदि। जैन आचार्यों ने इन पर विशद प्रकाश डाला है। उन्होंने बताया है कि शरीर का जो अवयव करण बनता है, शरीर में जो शुद्धि होती है, उसमें केवल कमल और चक्र–दो ही आकार नहीं बनते। स्वस्तिक, नंद्यावर्त, कलश आदि अनेक आकार बनते हैं। जब तक व्यक्ति जागृत नहीं होता, सम्यग्दृष्टि नहीं होता, तब तक उसके सारे चैतन्यकेन्द्र भद्दे आकार के होते हैं, गिरगिट के आकार के होते हैं। जब वे चैतन्यकेन्द्र जागृत हो जाते हैं, व्यक्ति सम्यक् दृष्टि हो जाता है, तब आंतरिक शुद्धि की अवस्था में सारे आकार बदल जाते हैं, पवित्र और सुंदर आकार वाले हो जाते हैं।

उपाय आदत परिवर्तन का

नाभि के ऊपर के स्थान जब बदल जाते हैं तब नाभि केन्द्र का शोधन अपने आप होने लग जाता है। आदत को बदलने का सबसे बड़ा सूत्र है–ग्रंथितंत्र का परिवर्तन, मन की यात्रा का परिवर्तन। मन की यात्रा नाभि, पेडू और नीचे तक न हो, किंतु हृदय, गला, नासाग्र, भृकुटि और सिर की ओर हो। मन की दिशा नीचे की ओर न हो, बुद्धि की दिशा नीचे की ओर न हो, किंतु ऊर्ध्वगामी हो। ऊर्ध्वरमण का नाम ही है विरमण और नीचे की ओर यात्रा का नाम है रमण। ऊर्ध्वरमण से हमारी ग्रंथियां शुद्ध होने लगती हैं, आदतों में अपने आप परिवर्तन होने लग जाता है, उनमें स्वभावतः रूपांतरण शुरू हो जाता है तब आदतों को पोषण देने वाला कोई नहीं रहता।

कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या–ये तीनों लेश्याएं बदल जाती हैं। कृष्णलेश्या शुद्ध होते-होते नीललेश्या बन जाती है। नीललेश्या विशुद्ध होते-होते कापोतलेश्या बन जाती है। कापोतलेश्या जब शुद्ध होती है तब तेजोलेश्या बन जाती है। हमारी समूची यात्रा तेजोलेश्या से प्रारंभ होती है। रंग का मनोविज्ञान बताता है कि अध्यात्म की यात्रा लाल रंग से शुरू होती है। बालसूर्य जैसे लाल रंग से अध्यात्म की यात्रा प्रारंभ होती है।

हमारी अध्यात्म यात्रा तेजोलेश्या से शुरू होती है। तेजोलेश्या का रंग है–बालसूर्य जैसा। यह यात्रा जब होती है तब सारी धाराएं बदल जाती हैं। कृष्णलेश्या में आवृत्ति ज्यादा, तरंगें छोटी। नीललेश्या में तरंग की लंबाई बढ़ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। कापोतलेश्या में तरंग की लंबाई और बढ़ जाती है तथा आवृत्ति और कम हो जाती है। तेजोलेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो जाता है। पद्मलेश्या में और बदलता है। शुक्ललेश्या में पहुंचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लंबाई मात्र रह जाती है। एक ही तरंग बन जाती है। इस लेश्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपांतरण हो जाता है।

व्यक्तित्व के रूपांतरण की प्रक्रिया है–लेश्या का शोधन, लेश्या के शोधन की प्रक्रिया है–ग्रंथितंत्र का शोधन और ग्रंथितंत्र के शोधन की प्रक्रिया है–प्रेक्षाध्यान। यदि हम प्रेक्षाध्यान के द्वारा समूचे शरीर को देखते हैं तो पूरा शरीर करण बन जाता है। वह एक निर्मल दर्पण बन जाता है। उसकी मलिनता समाप्त हो जाती है। उसका आवरण समाप्त हो जाता है। ज्ञान का आवरण और दर्शन का आवरण समाप्त हो जाता है। शक्ति का प्रतिरोध समाप्त हो जाता है। मोह या मूर्च्छा का वलय टूट जाता है। देखने की शक्ति तीव्र हो जाती है। जिस व्यक्ति की विद्युत तीव्र हो गई, तैजस शक्ति तीव्र हो गई, उस व्यक्ति के देखने मात्र से शरीर वज्र-सा बन जाता है।

गांधारी की घटना है। गांधारी ने दुर्योधन को देखा। उसके देखने मात्र से दुर्योधन का शरीर वज्रमय बन गया। वह अभेद्य बन गया। उसे भेद पाना कठिन हो गया। कौरव और पांडव का युद्ध हुआ। दुर्योधन अजेय था। उसको मारना सरल नहीं था, क्योंकि उसका समूचा शरीर वज्रमय था। सबके सामने कठिन समस्या थी। भीम और अर्जुन जैसे वीर भी उसे मार डालने में असमर्थ थे। वज्र पर कोई प्रहार टिकता नहीं। श्रीकृष्ण रहस्यदाता थे, उन्होंने रहस्योद्घाटन किया कि यदि दुर्योधन को मारना है तो उसके कटिभाग पर प्रहार करो, क्योंकि वह भाग वज्रमय नहीं हो सका है। जब गांधारी ने दुर्योधन की ओर देखा, तब दुर्योधन कटिवस्त्र पहने हुए था। शरीर का जितना भाग निर्वस्त्र था, वह गांधारी की तैजस शक्ति से वज्रमय बन गया और कटिभाग, जो सवस्त्र था, वह ज्यों का त्यों रह गया। पांडवों को रहस्य का पता लगा। दुर्योधन की कटि पर प्रहार हुआ और वह तत्काल धराशायी हो गया। तैजस शरीर के विकास के साथ निकलने वाली रश्मियों के कारण, दर्शन-शक्ति के कारण शरीर का कण-कण वज्रमय बन जाता है। जब निर्मल मन, चेतना और तैजस शरीर की विकसित

शक्ति के साथ शरीर के कण-कण को देखा जाता है, तब शरीर का आवरण हटता है और शरीर के सोए हुए चैतन्यकेन्द्र जाग जाते हैं। उनकी मूर्च्छा टूट जाती है और शक्ति का वलय बन जाता है।

व्यक्तित्व रूपांतरण के साधन

स्वभाव को बदलने के लिए दो साधन हैं–ज्ञान और दर्शन, केवल जानना और केवल देखना। इनसे बड़ा कोई साधन नहीं है। साधन वही होता है, जो उपादान होता है। मिट्टी के घड़े का साधन मिट्टी ही हो सकती है। यदि मिट्टी न हो तो मिट्टी का घड़ा नहीं बन सकता, चाहे कितना ही कुशल कुम्हार हो, चाक हो और भी सारे उपकरण हों, पर उपादान चाहिए। उपादान के बिना कार्य निष्पन्न नहीं होता। मूल उपादान है जानना और देखना। जब हम जाग जाते हैं, केवल देखने और जानने की शक्ति का उपयोग करने लग जाते हैं, जब हमारा चित्त या मन केवल देखने और जानने की शक्ति का सहारा लेकर ग्रंथितंत्र को जानता है, देखता है, तब ग्रंथितंत्र शुद्ध होने लगता है। वह निरावरण, मूर्च्छाशून्य और प्रतिरोध की शक्ति से शून्य होने लगता है। जब ग्रंथितंत्र शुद्ध होता है तब अपने आप लेश्यातंत्र शुद्ध होने लगता है, क्योंकि लेश्या तंत्र के पास जो कुछ जाता है, वह ग्रंथितंत्र के माध्यम से ही जाता है।

चक्र नाम की भी सार्थकता है। चक्र इसलिए कि वह घूमता रहता है। अरहट्ट की माला है। वह नीचे कुएं में जाती है। पानी भर कर लाती है। बाहर आकर खाली होती है और फिर भीतर जाकर भरती है। यह चक्र चलता ही रहता है। भीतर से जो परिश्राव आता है, उस स्राव को ग्रंथियां बाहर लाती हैं और शरीर की ग्रंथियां अपने माध्यम से बाहर की वस्तु को अंदर ले जाती हैं। जब ग्रंथियां शुद्ध होने लगती हैं तब लेश्याएं शुद्ध होने लगती हैं। जब लेश्याएं शुद्ध होती हैं तब अध्यवसाय शुद्ध होने लगते हैं। जब अध्यवसाय शुद्ध होते हैं तब कषाय के तीव्र विपाक मंद हो जाते हैं। मंद विपाक कोई भी बुरी आदत का निर्माण नहीं कर सकता। यह है शोधन की प्रक्रिया। अध्यात्म के आचार्यों ने इस आत्मशोधन की प्रक्रिया को इतने सुंदर ढंग से प्ररूपित किया है कि उसे समझकर व्यक्तित्व को बदला जा सकता है।

7. वृत्तियों के रूपांतरण की प्रक्रिया

धम्मो दीवो पइट्ठाणं

मनुष्य धर्म की शरण में आना चाहता है। धर्म में शरण देने की क्षमता है। धर्म एक दीप है, प्रकाशपुंज है, एक प्रतिष्ठा है, आधार है, गति है। शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते हैं, पर धर्म एक उत्तम शरण है, जो हमें त्राण देता है। आदमी अधर्म से बचना चाहता है और धर्म की शरण में आना चाहता है। इसका प्रयोजन है रूपांतरण, बदलना। अधर्म के जीवन में जो उपलब्ध नहीं होता, उसे उपलब्ध करने के लिए और जो उपलब्ध होता है, उसे छोड़ने के लिए वह धर्म की शरण में आता है।

बुरी आदतें, बुरे विचार, भय, घृणा, ईर्ष्या, चिंता, व्यग्रता और मानसिक तनाव–ये सारे अधर्म के जीवन में उपलब्ध होते हैं, आदमी इन्हें छोड़ना चाहता है। मन की शांति, तनावमुक्ति, प्रेम, मित्रता सबके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार, उदारता और सौहार्द–इन सबको उपलब्ध करना चाहता है, इसलिए वह धर्म की शरण में आता है।

धर्म की शरण

धर्म की शरण मिले और आदमी बदले नहीं, यहां एक प्रश्नचिह्न हमारे समक्ष आता है। धर्म की शरण मिले और कुछ भी न बदले तो मानना चाहिए कि कहीं कोई त्रुटि अवश्य है या तो धर्म उपलब्ध नहीं हुआ या व्यक्ति धर्म को उपलब्ध नहीं हुआ। कहीं न कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। इस प्रश्न पर हम विचार करें। यही वह प्रश्न है, जहां व्यक्ति बदल सकता है। जिसके जीवन में धर्म सिद्ध हो जाता है, उसमें धर्म के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं, उसमें तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। धर्म की यात्रा शुरू होती है और लेश्याओं के भाव, विचार और व्यवहार हमारे जीवन में मूर्त बनने लग जाते हैं।

धार्मिक के लक्षण

औदार्यं दाक्षिण्यं पापजुगुप्सा च निर्मलो बोधः।
लिङ्गानि धर्मसिद्धेः प्रायेण जनप्रियत्वं च॥

जिसके जीवन में धर्म सिद्ध होता है, उसमें उदारता आदि लक्षण प्रकट होते हैं। तर्क शास्त्र का एक नियम है कि लिंग के द्वारा लिंगी को जाना जाता है। साधन के द्वारा साध्य को जाना जाता है। धूएं को देखकर व्यक्ति अग्नि का अनुमान करता है। वैसे ही उपर्युक्त लक्षणों को देखकर जान लिया जाता है कि अमुक आदमी में धर्म सिद्ध हो चुका है।

जिस व्यक्ति में उदारता है, दाक्षिण्य है, हर बात को अनुकूलता से स्वीकार करता है, पापजुगुप्सा है, बुरी आदतों के प्रति घृणा है, दूसरों की बुरी आदतों के प्रति ही घृणा नहीं, अपनी बुरी आदतों के प्रति भी घृणा है, उसका ज्ञान इतना निर्मल होता है कि हर बात सत्यपूर्ण ही निकलती है, उसके मुंह से कभी झूठी बात नहीं निकलती। वह जो सोचता है, जो भाव करता है, ज्ञान की प्रत्येक रश्मि, प्रत्येक धारा निर्मलता के साथ प्रवाहित होती है–ये लक्षण बताते हैं कि व्यक्ति में धर्म सिद्ध हो गया है। एक और लक्षण है कि धार्मिक व्यक्ति प्रायः जनप्रिय होता है। यह लक्षण सबमें हो, ऐसा जरूरी नहीं है, पर चार लक्षण होने जरूरी हैं।

लेश्या के परिवर्तन के द्वारा ही जीवन में धर्म सिद्ध हो सकता है। जब कृष्ण, नील और कापोत–ये तीन लेश्याएं बदल जाती हैं और तेजो, पद्म और शुक्ल–ये तीन लेश्याएं अवतरित होती हैं तब परिवर्तन घटित होता है। लेश्याओं के बदले बिना जीवन नहीं बदल सकता। लेश्याएं कोरी जानने की नहीं हैं। यह कोरा तत्त्वज्ञान नहीं है। ये बदलने के सूत्र हैं। ये रटने के सूत्र नहीं, अभ्यास के सूत्र हैं।

तेजोलेश्या

मार्क्स ने ठीक ही कहा था कि दर्शन कोरा ज्ञान देता है, जीवन को परिवर्तित नहीं करता, रूपांतरित नहीं करता। आज धर्म का रूप भी लगभग ऐसा ही हो गया है कि व्यक्ति जीवनभर धर्म का आचरण करता है और मौत के समय उसका लेखा-जोखा किया जाए तो परिणाम शून्य आता है। जीवन में कोई परिवर्तन घटित नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में जो विचार बनते हैं, वे अस्वाभाविक नहीं लगते कि धर्म केवल प्रियता की अनुभूति देता है, कोरा ज्ञान देता है, व्यक्ति को बदलता नहीं है, किंतु यह सचाई धर्म के आवरण की

सचाई है, धर्म की सचाई नहीं है। यह केवल धर्म की चमड़ी की सचाई है, धर्म की आत्मा की सचाई नहीं है।

धर्म की सचाई यह है कि जो धार्मिक होगा, वह निश्चित ही बदलेगा। यह हो नहीं सकता कि धार्मिक हो, धर्म का आचरण करता हो और न बदला हो। धार्मिक होने का अर्थ ही है कि परिवर्तन की यात्रा पर चल पड़ना, रूपांतरण की ओर प्रस्थान कर देना। यहां से तेजोलेश्या की यात्रा शुरू हो जाती है, अध्यात्म की यात्रा शुरू हो जाती है। जब तेजोलेश्या की यात्रा प्रारंभ होती है तब अध्यात्म के स्पंदन जाग जाते हैं।

जब अध्यात्म के स्पंदन जागते हैं तब परिवर्तन अपने आप शुरू हो जाता है। ऐसे सुखद स्पंदन जागते हैं, जिन स्पंदनों का जीवन में पहले कभी अनुभव नहीं किया। व्यक्ति ने मान रखा था कि सुख पदार्थ से ही उपलब्ध होता है, किंतु तेजोलेश्या के स्पंदन जैसे ही जागते हैं, जैसे ही दर्शनकेन्द्र पर ध्यान होता है और वे चमकीले स्पंदन जागते हैं और तब जो सुख का अनुभव होता है, वह अपूर्व होता है।

व्यक्ति की भ्रांति टूट जाती है। वह सोचता है कि मैंने मान रखा था कि सुख तो पदार्थ से ही मिलता है, किंतु आज यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि जैसा सुख दर्शनकेन्द्र के जागने पर अनुभूत होता है, वैसा सुख जीवन में किसी भी पदार्थ से नही मिला। सारी धारणाएं बदल जाती हैं, सारी यात्रा बदल जाती है और स्वभाव का परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है। मैं सोचता हूं कि धर्म के आचरण से यदि आदमी का स्वभाव न बदलता हो, बुरी आदतें न बदलती हों तो धर्म का आचरण व्यर्थ है। ऐसे धर्म का आचरण क्यों किया जाए? क्या प्रयोजन है उसका? हमारे सामने कोई प्रयोजन तो होना चाहिए। अधर्म को छोड़ें, बहुत सारी बातों का नियंत्रण करें और उपलब्ध कुछ भी न हो तो दोनों ओर से गए, न इधर के रहे, न उधर के रहे–**नो हव्वाए नो पाराए।**

व्यक्तित्व को रूपांतरित करने की सबसे बड़ी प्रक्रिया है प्रेक्षाध्यान। प्रेक्षाध्यान के द्वारा हमारा पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है। अनजाने बदलता है। हम केवल एक लक्ष्य का निर्धारण करते हैं, एक ध्येय की प्रतिमा को निर्मित करते हैं कि मन को निर्मल करना है, मन की मलिनता से होने वाली बुरी आदतों को छोड़ना है।

इस प्रतिमा का निर्माण कर हम प्रेक्षाध्यान में बैठते हैं, शरीर की प्रेक्षा करते है, दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं, चैतन्यकेन्द्रों की प्रेक्षा करते हैं, धीरे-धीरे

रूपांतरण घटित होने लगता है। हमें पता ही नहीं लगता, अपने आप बदलना शुरू हो जाता है। ज्ञान हो तो पता लग सकता है। ज्ञान न हो तो पता नहीं लग सकता। पता लगे या न लगे, बदलना प्रारंभ हो जाता है। ज्ञान होना एक बात है और बदलना दूसरी बात है। प्रेक्षाध्यान की साधना करने वाले व्यक्तियों में कल्पनातीत रूपांतरण हुआ है।

वैज्ञानिक यंत्र

रूस के वैज्ञानिकों ने ऐसे सूक्ष्म यंत्र बनाएं हैं जिनसे हमारे जैविक सक्रिय बिंदुओं का पता लगाया जा सकता है। वहां सूइयां चुभाई जाती हैं और इच्छित परिणाम उपलब्ध किए जाते हैं। आदमी को बुरी आदतों से कैसे मुक्त किया जाए–यह चिंता आज सारी दुनिया के लोग कर रहे हैं। प्राचीन समय में बुरी आदतों से छुटकारा दिलाने की चिंता केवल धार्मिक लोग ही करते थे, पर आज ज्ञान बहुत बढ़ गया। आज यह चिंता सब क्षेत्रों के लोग करते हैं। राजनीतिज्ञ भी करते हैं, वैज्ञानिक भी करते हैं, डॉक्टर भी करते हैं, धार्मिक भी करते हैं, सब लोग करते हैं।

रूस के वैज्ञानिकों के सामने एक प्रश्न आया कि आदमी को तंबाकू की आदत से कैसे मुक्त किया जाए? उन्होंने सत्तर आदमी चुने। उनके कानों पर एक्यूपंक्चर का प्रयोग किया। कान के तीन भाग हैं–एक है भीतर का भाग, एक है मध्य का भाग, एक है बाहर का भाग। वैज्ञानिकों ने आदमी के कान के मध्य भाग में, जहां जैविक सक्रिय बिंदु थे, वहां सूइयां चुभोईं। पांच दिन तक यह प्रयोग चला। इसका परिणाम यह आया कि सत्तर व्यक्तियों में से पचास व्यक्तियों ने तंबाकू पीना सर्वथा छोड़ दिया। शेष बीस व्यक्तियों ने पीना कम कर दिया। इससे निष्कर्ष यह निकाला गया कि कान के जैविक बिंदुओं पर यदि सूई चुभोई जाए तो व्यक्ति के मन में तंबाकू के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है।

आत्म-संशन के प्रयोग

प्रेक्षाध्यान स्वभाव परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। केवल यही एक प्रक्रिया नहीं है और भी प्रक्रियाएं हैं। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में तीन तत्त्व मुख्य हैं–प्रेक्षा, भावना और अनुप्रेक्षा। हम केवल प्रेक्षा का ही प्रयोग नहीं कर रहे हैं, केवल दर्शन-शक्ति का ही प्रयोग नहीं कर रहे है, हम साथ-ही-साथ भावना का प्रयोग भी कर रहे हैं और अनुप्रेक्षा का प्रयोग भी कर रहे हैं। परिवर्तन के लिए भावना का प्रयोग भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है।

आज बहुत सारे मनोवैज्ञानिक आत्म-सम्मोहन या पर-सम्मोहन के द्वारा अनेक प्रकार की जटिलतम आदतों को बदलने में सफल हुए हैं। इस दिशा में बहुत विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। भावना का प्रयोग आत्म-सम्मोहन या आत्म-संशन का प्रयोग है।

महावीर ने कहा कि जो साधक भावनाओं से शुद्धात्मा बन जाता है, वह जल में नौका की तरह हो जाता है–**भावणायोगसुद्धप्पा** ..... भावना के आधार पर व्यक्ति संसार समुद्र को तर जाता है। भावना के योग से बुरी आदतों से मुक्त हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। भारतीय साहित्य में आत्म-संशन का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। इसके प्रयोग होते रहे हैं। वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग इस प्रकार है–

मेरे मुंह में वाक् सदा स्फूर्त रहे। मेरी नसों में प्राण सदा प्रवाहित रहे। मेरी आंखों में देखने की शक्ति रहे। मेरे कानों में सुनने की शक्ति बनी रहे। इस प्रकार के आत्म-संशन के द्वारा प्राचीन ऋषि अपनी शक्तियों का विकास करते थे और अपनी शक्तियों को बनाए रखते थे। वे सौ वर्ष तक जीने में सफल हो जाते थे।

आदमी की अकालमृत्यु का एक कारण है हीन-भावना। जब आदमी हीन-भावना से ग्रस्त होता है तब वह अपनी सारी शक्तियों को खो बैठता है। आत्म-संशन बहुत सक्रिय तत्त्व है। अपनी शक्तियों को सूचित करना, जाग्रत करना और जीवित रखना–यह आत्म-संशन का एक प्रकार है। अपनी शक्तियों के प्रति मूर्च्छित हो जाना, उदासीन हो जाना, हीन-भावना से ग्रस्त हो जाना–यह भी आत्म-संशन का एक प्रकार है। दोनों का अपना-अपना प्रभाव होता है।

फ्रांस के एक प्रोफेसर बालदी ने आत्म-संशन के कुछ प्रयोग किए। एक व्यक्ति से कहा–'तुम्हारे हाथ में एक चम्मच दे रहा हूं। वह बहुत गर्म है। उसे कैसे छुओगे? छुओगे तो हाथ जल जाएगा। यह चम्मच लो।' उस व्यक्ति ने चम्मच हाथ में लिया और वह जल गया। हाथ में फफोले हो गए। चम्मच में कुछ नहीं था। वह कोरा ठंडा चम्मच था, किंतु उस चम्मच से भी हाथ जल उठा। फफोले हो गए। यह कैसे हुआ? यह सारा आत्म-संशन, आत्मसूचन या आत्म-सम्मोहन के द्वारा घटित हुआ।

व्यक्ति का एक स्तर है चेतना का, लेश्या का या भावना का। जब उस स्तर तक कोई बात चली जाती है, तैजस शरीर शारीरिक विद्युत तक कोई बात चली जाती है, वहां वह घटित होने लगता है, जो चाहा जाता है। पदार्थ ही

प्रभावित नहीं करता, किंतु पदार्थ के साथ जाने वाली चेतना भी प्रभावित करती है। चेतना के स्तर पर हम जिस बात को पकड़ लेते हैं, हमारे जीवन में वही घटित होने लग जाता है। सचमुच घटित हो जाता है।

डॉक्टरों ने एक प्रयोग किया। एक स्वस्थ आदमी था। एक डॉक्टर आया। उसकी नब्ज देखकर कहा–अरे! तुम्हें तो ज्वर हो गया है। वह घर से बाहर निकला। दूसरा डॉक्टर रास्ते में मिला। उसने कहा–यह क्या, लगता है तुम्हें ज्वर हो गया है। आगे चला। एक तीसरा डॉक्टर मिला। उसने कहा–अरे भाई! तुम्हें ज्वर कब से हो गया है।

वह व्यक्ति घबरा गया। वह घर गया। अपने घरेलू डॉक्टर को बुलाया। डॉक्टर आया, उसने कहा–बुखार हो गया है। बुखार बढ़ता ही गया। वह 104 डिग्री तक पहुंच गया। व्यक्ति घबरा गया। यह आत्म-संशन का प्रयोग था। प्रयोग का चक्का घूमा। नया डॉक्टर आया, उसने सारी परीक्षा कर कहा–अरे! किसने कहा कि तुम्हें ज्वर है? तुम तो स्वस्थ हो। तुम्हारी नाड़ी स्वस्थ है। बुखार नहीं है। जिसने बुखार बतलाया, वह डॉक्टर पागल था। तुम चिंता मत करो। कोई ज्वर नहीं है। तुम ज्वर की बात को मन से निकाल दो। कुछ घंटों बाद परीक्षण किया गया। सचमुच बुखार नहीं था।

बीमारी का हेतु लेश्या की विकृति

बुखार आ जाता है, बुखार चला जाता है बिना बीमारी के, बिना घटना के। क्रोध आ जाता है, क्रोध चला जाता है। स्थानांग सूत्र में क्रोध की उत्पत्ति के कई कारण बताए गए हैं। उनमें एक है परहेतुक क्रोध और एक है आत्महेतुक क्रोध। एक है दूसरे के निमित्त से आने वाला क्रोध और एक है अपने आप आने वाला क्रोध। मन में इस प्रकार का भाव निर्मित हुआ कि क्रोध उभर आया। कोई बाह्य कारण नहीं है। यह अपने ही निमित्त से आने वाला क्रोध है। इसी प्रकार अपने ही निमित्त से, बिना किसी बाहरी निमित्त के अभिमान भी आता है, कपट और भय भी आता है। घृणा भी आती है। अपने आप होने वाले भय से हम बहुत परिचित हैं। आप बैठे हैं। विचारों का प्रवाह चलता है। ऐसे विचार अचानक उभरते हैं कि व्यक्ति भयंकर रूप से डरने लग जाता है। वह शारीरिक दृष्टि से प्रताड़ित जैसा हो जाता है।

हमारे भीतरी जगत में घटित होने वाली घटनाएं बड़ी विचित्र हैं। हम केवल बाहरी निमित्तों से ही प्रभावित नहीं होते। बाहर के जर्म्स आते हैं, हम बीमार पड़ जाते हैं। ऐसा ही नहीं है। बिना बाहरी जर्म्स के भी हम बीमार हो

जाते हैं। हमारे भीतर भी बीमारी के अनेक निमित्त हैं। यथार्थ में बीमारी की जड़ें लेश्याओं में हैं। जब तक लेश्या शुद्ध रहेगी, आदमी कभी बीमार नहीं होगा। जब-जब लेश्या विकृत होती है, आदमी बीमार होना शुरू हो जाता है। इस शरीर में तो उस बीमारी की अभिव्यक्ति मात्र होती है। बाहरी कीटाणु मिलते हैं तो वे भी बीमारी के निमित्त बन जाते हैं। बाहरी कीटाणु न भी मिलें तो भी बीमारी व्यक्त हो जाती है।

साधना में भावना का बहुत महत्त्व है। बुरी आदतों की जड़ों को उखाड़ डालने का यह एक सशक्त माध्यम है। इसके द्वारा पुरानी आदतें मिटती हैं और नई आदतों का निर्माण होता है। भावना दोनों काम करती है–ध्वंस भी करती है और निर्माण भी करती है। बुरी आदतों के बदलने और नई आदतों के निर्माण का बिंदु है–लेश्यातंत्र, भावतंत्र। वहां रूपांतरण घटित होता है, क्योंकि लेश्या के पास तैजस की शक्ति है, विद्युत की शक्ति है। विद्युत की शक्ति के बिना इतना बड़ा परिवर्तन नहीं हो सकता। आज का सारा वैज्ञानिक-चमत्कार विद्युत पर आधृत है। यदि आज के युग से विद्युत समाप्त हो जाए तो सारा विज्ञान ही धराशायी हो जाएगा।

विज्ञान का अपना कोई स्वतंत्र जीवन नहीं है। तैजस शरीर में जो क्षमता है, जो विद्युत है, उसके द्वारा ही जीवन तंत्र का सारा परिवर्तन घटित होता है। लेश्या के पास विद्युत की बहुत बड़ी शक्ति है। तैजस शरीर और लेश्या की चेतना–ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। दोनों सहचारी हैं। दोनों साथ मिलकर काम करते हैं, इसलिए परिवर्तन घटित करने के लिए लेश्या पर ध्यान देना होता है। उसमें सम्मोहन का भी बहुत बड़ा हाथ है। इसका कारण स्पष्ट है कि हम जिस चेतना के स्तर पर प्रभावित होते हैं, वह चेतना है लेश्या। यहीं हम प्रभावित होते हैं दूसरों के द्वारा, बाहरी स्रावों से और भीतरी स्रावों से। यह प्रभावित होने का जो विद्युत चुंबकीय क्षेत्र हमारे शरीर में है, वह है लेश्या। भावना, सम्मोहन, मंत्र–ये सारे एक ही कोटि में आ जाते हैं। जप क्या है? एक ही बात को बार-बार दोहराना। बार-बार दोहराने से वह बात भीतर तक पहुंच जाती है।

मंत्र क्या है? यही तो मंत्र है। हम मंत्र का जप करते हैं, मंत्र की आराधना करते है और मंत्र के द्वारा हमारी प्राणधारा, ऊर्जा भीतर की तैजस-ऊर्जा तक पहुंच जाती है। जब तक वहां नहीं पहुंचती, मंत्र का जागरण नहीं होता। मंत्र का जागरण हुए बिना, मंत्र का चैतन्य हुए बिना मंत्र कोई काम नहीं कर सकता। वही मंत्र फल देता है, जो जागृत है, चेतनावान है। मंत्र-जागरण का अर्थ है

भीतर की तैजसशक्ति से बाहर की प्राण ऊर्जा को जोड़ देना, उसका एक संबंध स्थापित कर देना।

भावना का प्रयोग

भावना, आत्म-संशन, जप और मंत्र–ये सारे परिवर्तन के साधन हैं। अब हमें समझना होगा कि भावना का प्रयोग कैसे करें? भावना के प्रयोग की विधि को समझे बिना हम परिवर्तन घटित नहीं कर सकते। हमने यह सिद्धांतरूप से स्वीकार कर लिया कि भावना द्वारा व्यक्तित्व का परिवर्तन हो सकता है, होता है, किंतु प्रश्न है कि वह कैसे होता है? भावना का प्रयोग हम कैसे करें? अपने मन की बात, अपनी स्थूल चेतना की बात को भीतर तक कैसे पहुंचाएं? इस प्रक्रिया को जान लेना आवश्यक है।

इस प्रक्रिया का पहला सूत्र है कायोत्सर्ग। भावना का प्रयोग करना है तो पहले कायोत्सर्ग करना होगा। कायोत्सर्ग यदि नहीं है, शरीर की प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है, स्नायविक प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है तो बात आगे नहीं पहुंच सकती, क्योंकि आगे अवरोध है। स्नायु अवरोध पैदा कर रहे हैं। आगे जाने के लिए रास्ता साफ नहीं है। पहले रास्ते से सारे अवरोध मिटाने होंगे। कायोत्सर्ग इसका साधन है। इसके द्वारा हम समीकरण करते हैं।

कायोत्सर्ग का महत्त्व

जैन योग परंपरा में सर्वाधिक बल कायोत्सर्ग पर दिया है। कायोत्सर्ग हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। मुनि स्थान से बाहर जाए या आए, तो सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग करना होता है। उसके बाद वह दूसरे काम में लग सकता है। भिक्षा के लिए, शौच के लिए या अन्य किसी प्रयोजन से बाहर जाए तो आते ही सबसे पहले कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग करना अनिवार्य है। स्वाध्याय करे तो स्वाध्याय से पूर्व कायोत्सर्ग करे। ध्यान करे तो ध्यान से पूर्व कायोत्सर्ग करे। सोए तो सोने से पहले कायोत्सर्ग करे। उठे तो उठते ही कायोत्सर्ग करे। प्रतिलेखन करे, अहिंसा की दृष्टि से वस्त्रों का निरीक्षण करे तो निरीक्षण करने से पूर्व कायोत्सर्ग करे और निरीक्षण के बाद कायोत्सर्ग करे। नींद में कोई दुःस्वप्न आ जाए तो तत्काल उठकर कायोत्सर्ग करे। किसी कारणवश या प्रमादवश कोई हिंसा हो जाए, कभी झूठ बोल दिया जाए, कभी अस्वाभाविक या बुरा आचरण हो जाए तो प्रायश्चित्त के लिए कायोत्सर्ग करे। नदी को पार करे तो कायोत्सर्ग करे।

प्रतिक्रमण के प्रारंभ में कायोत्सर्ग करे और प्रतिक्रमण के अंत में कायोत्सर्ग करे। आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पचीस, पचास, सौ, पांच सौ और

हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग के बिना मुनि का कोई जीवन ही नहीं होता। यह व्यवस्था इसलिए की गई कि यदि हमें किसी बात को भीतर तक पहुंचाना है तो जब तक कायोत्सर्ग नहीं होगा, शरीर का शिथिलीकरण नहीं होगा, स्नायविक अवरोध नहीं मिटेंगे, बात भीतर तक नहीं पहुंच पाएगी।

समाधि की शर्त

कायोत्सर्ग अत्यंत आवश्यक है। शरीर की प्रवृत्तियों का विसर्जन करें, शिथिलीकरण करें मांसपेशियों का, हाथों का, पैरों का। अध्यात्म की यात्रा कब शुरू हो सकती है? समाधि कब उपलब्ध हो सकती है? इसकी शर्त क्या है? इसकी शर्त है कोई प्रवृत्ति न करें। हाथ का संयम करें। प्रश्न होगा कि हाथ का संयम करना कौन-सी बड़ी बात है? हाथ बहुत महत्त्वपूर्ण अवयव है हमारे शरीर का। एक्यूपंक्चर पद्धति के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे मस्तिष्क में जो चैतन्यकेन्द्र, जैविक सक्रिय-बिंदु हैं, वे सारे के सारे केन्द्र हाथ में हैं। हाथ में क्या नहीं है! जो शरीर में है, वह सारा हाथ में है, फिर कहा–पैरों का संयम करो। यह और अजीब बात है, क्योंकि हाथ तो फिर भी एक उत्तम अवयव है। पैर शरीर का निम्नतम भाग है। पैर बहुत महत्त्वपूर्ण अवयव है। पैर के अंगूठे और अंगुली में चैतन्यकेन्द्र हैं, ग्लैण्ड्स हैं, पैर के अंगूठे में पिट्यूटरी ग्लैण्ड्स है। पैर के अगूंठे में आंख है, कान है।

प्राचीनकाल में यह बताया जाता था कि जब आंख की ज्योति कम हो जाए तो पैर की अंगुलियों पर तेल की मालिश की जाए। यह कहां का संबंध? ज्योति कम हुई आंख की और तेल मालिश करना होता है पैर की अंगुलियों पर। आज यह बात विचित्र-सी नहीं लगती। जब हमें यह पता लग गया कि पैर की अंगुलियों में आंख है, कान है, तब ये बातें अनहोनी-सी नहीं लगतीं। आंख और कान का इलाज पैर की अंगुलियों से किया जा सकता है और पिट्यूटरी या पीनिअल ग्लैण्ड का समाधान पैर के अंगूठे से किया जा सकता है।

प्राचीन काल में जैन परंपरा में महाप्राण ध्यान की पद्धति प्रचलित थी। यह ध्यान की महत्त्वपूर्ण पद्धति थी। आचार्य भद्रबाहु ने बारह वर्ष तक महाप्राण ध्यान की साधना की थी। जो महाप्राण ध्यान में जाता है, वह संसार से पूर्णरूप से विलग हो जाता है। उसका कोई संपर्क नहीं रहता। सारे बाह्य संपर्क टूट जाते हैं। साधक गहरी समाधि की अवस्था में चला जाता है। यदि परिस्थितिवश साधक को अवधि से पहले सचेत करना होता है तो उसका एकमात्र उपाय है–पैर के अंगूठे को दबाना।

आचार्य पुष्यमित्र महाप्राण ध्यान की साधना में लगे। एक शिष्य उनकी देखरेख के लिए नियुक्त था। कुछ दिन बीते। किसी को पता नहीं था कि आचार्य विशिष्ट साधना में संलग्न हैं। ऊहापोह होने लगा। कुछ शिष्यों ने सोचा कि इसने आचार्य को मार डाला है। ऊहापोह बढ़ा। राजा तक यह बात गई। राजा आया। उत्तर साधक से पूछताछ की। उसने कहा–'आचार्य विशिष्ट साधना में संलग्न हैं। अभी साधना का काल पूरा नहीं हुआ है।' राजा ने कहा–'मैं अभी आचार्य से मिलना चाहता हूं। आवश्यक काम है।' उत्तर साधक अंदर गया। आचार्य के पैर के अंगूठे को दबाया। आचार्य सचेत हो गए। उन्होंने कहा–'असमय में कैसे उठा दिया?' उत्तर साधक बोला–'ऐसा ही घटना-चक्र घटित हो गया। मैं क्या करूं।'

अंगूठे का महत्त्व

प्रश्न हो सकता है कि अंगूठे का और ध्यान का क्या संबंध हो सकता है? हमारे में समाधि घटित होती है दर्शनकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र की गहराई में जाने पर। अंगूठे में दोनों केन्द्र हैं। यह सुंदर स्थान है। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का संगम-बिंदु है। यह इड़ा और पिंगला का संगम-स्थल है। जो व्यक्ति यहां पहुंच जाता है, समाधि घटित हो जाती है। साधक महाप्राण की स्थिति में चला जाता है। इस केन्द्र को हमें जागृत करना है।

हाथ और पैर बहुत ही महत्त्व के केन्द्र हैं। पांव को निकम्मा न मानें। जब हम भूमि पर चलते हैं तब एड़ी विद्युत ग्रहण कर सारे शरीर को पहुंचाती है। कितना महत्त्वपूर्ण काम है।

जब हाथ का संयम, हाथ का शिथिलीकरण, पैर का संयम, पैर का शिथिलीकरण, वाणी का संयम, वाणी का शिथिलीकरण घटित होता है तब इन्द्रियों के तनाव कम हो जाते हैं। उनमें उठने वाली आकांक्षाओं की तरंगें कम हो जाती हैं। जब यह सब घटित होता है तब अध्यात्म-रमण या अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है। जब अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है तब आत्मा समाधि में चली जाती है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि समाधि में जाने के लिए, अध्यात्म की यात्रा शुरू करने के लिए, आदतों को बदलने के लिए सबसे पहली शर्त है कायोत्सर्ग। जब तक हम कायोत्सर्ग करना नहीं सीख लेते, तब तक ये सब घटित नहीं हो सकते।

8. स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र

अध्यात्म ने व्यक्ति को बदलने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया दी। उस प्रक्रिया के अनेक चरण हैं। उसका पहला चरण है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग है शरीर का शिथिलीकरण। इससे पुरानी आदतों में परिवर्तन आता है, उनका शोधन होता है।

कायोत्सर्ग का संकल्प सूत्र है–

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्गं।

साधक संकल्प की भाषा में कहता है–'जो आदत या स्वभाव प्रिय नहीं है, उसको उत्तर-पार करने के लिए, उसका उदात्तरूप करने के लिए, प्रायश्चित्त करने लिए, विशोधि करने के लिए, मन को निर्मल बनाने के लिए, जो व्यसन या आदत का घाव हो गया है, उस घाव को भरने के लिए, उस शल्य को मिटाने के लिए, उन बुरी आदतों के द्वारा जो मूर्च्छा के परमाणु, कर्म के परमाणु चारों ओर शरीर और मन पर व्याप्त हो गए हैं, उन पापकारी परमाणुओं का उन्मूलन करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूं।' कायोत्सर्ग सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है, स्वभाव को बदलने वाला है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह स्वभाव परिवर्तन नहीं कर सकता।

स्वभाव-परिवर्तन का पहला सूत्र : ऑटो रिलेक्शेसन

सेल्फ हिप्नोटिज्म स्व सम्मोहन के विशेषज्ञों ने चार सूत्र प्रस्तुत किए हैं। इस पद्धति का पहला सूत्र है–आटो रिलेक्शेसन–स्व शिथिलीकरण।

यह कायोत्सर्ग की ही प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग किए बिना स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया फलित नहीं हो सकती। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो, सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा। यह स्वभाव परिवर्तन का सूत्र है।

स्वभाव-परिवर्तन का दूसरा सूत्र : सेल्फ एनेलिसिस

सेल्फ एनेलिसिस–अनुप्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति अपने स्वभाव को बदल सकता है। जिसे हम बदलना चाहते हैं, जिस आदत में परिवर्तन लाना चाहते हैं, उसका विश्लेषण करना होता है। उसकी अनुप्रेक्षा करनी होती है। आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्लेषण करना होगा। सेल्फ एनेलिसिस हिप्नोटिज्म का दूसरा सूत्र है।

कायोत्सर्ग की पद्धति का दूसरा सूत्र है अनुप्रेक्षा। दोनों समानांतर रेखाओं पर चलते हैं। यदि मैं क्रोध को छोड़ना चाहता हूं तो मुझे सबसे पहले अपना आत्मविश्लेषण करना होगा कि क्रोध क्यों बुरा है? क्यों छोड़ना चाहता हूं। यदि वह बुरा नहीं है तो छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। क्या क्रोध बुरा है? इस विश्लेषण पर जाऊंगा, अनुप्रेक्षा करूंगा, गहरे में उतरूंगा, अपाय विचय ध्यान की स्थिति तक पहुंच जाऊंगा। वहां मुझे ज्ञात होगा कि क्रोध एक प्रकार का ज्वर है। वह जब शरीर में उतरता है तब शरीर को कष्ट देता है और शक्तियों को क्षीण कर देता है। क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल ग्रंथि का ज्वर है। वह तीनों की शक्तियों को क्षीण करता है।

क्रोध का प्रहार

व्यक्ति जब क्रोध करता है तब सबसे पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है। मस्तिष्क ज्वर-पीड़ित हो जाता है। उस समय इतनी उत्तेजना और इतनी अतिरिक्त ऊर्जा खपती है कि बड़ी बेचैनी छा जाती है और सारा अंग-प्रत्यंग प्रतप्त जैसा हो जाता है। क्रोध का दूसरा प्रहार होता है हृदय पर। क्रोध आते ही हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। उसकी गति तेज हो जाती है और उसे अस्वाभाविक ढंग से काम करना पड़ता है। क्रोध का तीसरा प्रहार होता है एड्रीनल ग्रंथि पर। क्रोध के आते ही एड्रीनल ग्रंथि को अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है और उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है, हृदय की शक्ति क्षीण होती है और एड्रीनल ग्रंथि की शक्ति क्षीण होती है।

ये तीनों मस्तिष्क, हृदय और एड्रीनल ग्रंथि जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। क्रोध के कारण इन तीनों की शक्तियां क्षीण होती हैं। जब मस्तिष्क की शक्तियां क्षीण होती हैं तब सारा नाड़ितंत्र गड़बड़ा जाता है। जब हृदय की शक्ति क्षीण होती है तब समूचा रक्तसंचार अस्त-व्यस्त हो जाता है। जब एड्रीनल ग्रंथि की शक्तियां क्षीण होती हैं तब व्यक्ति की कर्मजा शक्ति नष्ट

हो जाती है। ये हैं क्रोध के परिणाम। यह उसका विपाक विचय है। अनुप्रेक्षा करते-करते जब साधक इन परिणामों तक पहुंचता है तब उसे लगता है कि क्रोध कम करना चाहिए, उसे छोड़ देना चाहिए।

फिर एक प्रश्न होता है–क्या मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं? साधक इस पर विचार करता है। इस प्रश्न पर विचार करते-करते इस तथ्य पर पहुंचता है कि मुझमें बहुत बड़ी क्षमता है। मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं। इस चिंतन से वह अनुप्रेक्षा के अगले चरण पर पहुंच जाता है।

स्वभाव-परिवर्तन का तीसरा सूत्रः विवेक

विवेक के द्वारा व्यक्ति स्वभाव को बदल सकता है। साधक सोचता है कि क्रोध को इसलिए छोड़ सकता हूं कि मैं क्रोध नहीं हूं। क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है। यदि क्रोध मेरा स्वभाव होता तो मैं कभी नहीं छोड़ पाता। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता, किंतु क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है, मैं क्रोध नहीं हूं, मैं उससे भिन्न हूं। मैं ज्ञानमय हूं, मैं दर्शनमय हूं, मैं आनंदमय हूं। क्रोध मेरे ज्ञान को आवृत करता है। क्रोध मेरे दर्शन को आवृत करता है। क्रोध मेरे आनंद को आवृत करता है। उसे विकृत करता है। वह मेरी शक्तियों को विनष्ट करता है। इस चिंतन से वह इस विवेक पर पहुंच जाता है कि मैं क्रोध नही हूं और क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है।

स्वभाव-परिवर्तन के तीन सूत्र हैं–स्वसम्मोह (कायोत्सर्ग), अनुप्रेक्षा और विवेक।

जब साधक ने यह मान लिया कि क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, मैं क्रोध नहीं हूं तब बात बहुत सुलझ जाती है, ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जब ज्ञान स्पष्ट हो जाता है तब चरण अपने आप आगे बढ़ने लगते हैं। भगवान ने कहा–**पढमं नाणं तओ दया।** पहले ज्ञान स्पष्ट होना चाहिए। आत्मसम्मोहन का एक कथन है–ज्ञान एक शक्ति है। ज्ञान जब स्पष्ट हो जाता है, तब आचरण की सुविधा हो जाती है।

स्वभाव-परिवर्तन का चौथा सूत्र : ध्यान

ध्यान के माध्यम से भी स्वभाव परिवर्तन हो सकता है। दर्शनकेन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। दोनों भृकुटियों के बीच का स्थान है–दर्शनकेन्द्र। यह हमारे अंतर ज्ञान का केन्द्र है। यह अंतर्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि का केन्द्र है। जितना आंतरिक ज्ञान प्रकट होता है, वह इसी केन्द्र से प्रकट होता है। जब ध्यान

दर्शनकेन्द्र पर स्थापित होता है, तब अपनी बात को भीतर तक पहुंचाने में बड़ी सुविधा हो जाती है। मनोविज्ञान मानता है कि जो बात हमारे स्थूल मन तक पहुंचती है, वह कार्यकर नहीं होती। उससे व्यक्तित्व का परिवर्तन नहीं हो सकता। जब हम दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करते हैं तब हमारा विचार, हमारा संकल्प अंतर्मन तक पहुंच जाता है। वह संकल्प लेश्यातंत्र और अध्यवसाय तंत्र तक पहुंच जाता है। परिवर्तन घटित होने लगता है।

स्वभाव-परिवर्तन का पांचवा सूत्र : शरण

शरण भी स्वभाव के बदलने में सहायक है। आत्मसम्मोहन के वर्तमान सिद्धांत में शरण की बात नहीं मिलती। वहां आत्मशिथिलीकरण, आत्मविश्लेषण और आटोसजेशन की बात मिलती है, स्वतः सूचना की बात मिलती है, किंतु शरण की बात नहीं मिलती।

शरण में जाना यह बहुत महत्त्व का सूत्र है। प्रश्न है किसकी शरण में जाना? किसी दूसरे की शरण में जाने की जरूरत नहीं है, अपनी ही शक्ति की शरण में जाना है या हमें उसकी शरण में जाना है, जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतआनंद और अनंतशक्ति के धनी हैं। जिसमें ये चारों अनंत प्रस्फुटित हो चुके हैं, उसकी शरण में जाना है। जिसमें ये बीज अंकुरित हो चुके हैं, पल्लवित, पुष्पित और फलित हो चुके हैं, उसकी शरण में जाना है । किसी व्यक्ति विशेष की शरण में नहीं जाना है। इस अनंत चतुष्टयी की शरण में जाना है। जब यह शरण उपलब्ध हो जाती है तब तैजसशक्ति का विकास होता है। उस समय विद्युत की इतनी तीव्र तरंगें उपलब्ध होती हैं कि रूपांतरण का क्रम प्रारंभ हो जाता है।

एक सूफी संत थे संत खैयाद। बहुत बड़े साधक थे। जा रहे थे घोर जंगल से। शिष्य साथ में था। समय हुआ और वे नमाज पढ़ने बैठे। कंबल बिछाया। उस पर बैठ गए। शिष्य भी बैठ गया। इतने में शेर के दहाड़ने की आवाज आई। शिष्य डरा। उसने अपना कंबल समेटा और वह तत्काल पेड़ पर चढ़ गया, किंतु संत खैयाद अविचल भाव से वैसे ही बैठे रहे। नमाज पढ़ते रहे। शेर वहां आ पहुंचा। आस-पास में सूंघकर चला गया। नमाज पूरी हुई। शिष्य पेड़ से उतरकर नीचे आया। दोनों आगे बढ़ गए। जा रहे थे। इतने में एक जंगली कुत्ता सामने आ गया। जैसे ही कुत्ता सामने आया, संत खैयाद ने अपना डंडा संभाला और डंडा लेकर प्रतिरोध की मुद्रा में खड़े हो गए। शिष्य देखता रहा।

वह पूछ बैठा–'गुरुदेव! यह क्या? जब शेर आया तब तो आप अविचल भाव से बैठे रहे और एक कुत्ता सामने आया तो आप प्रतिरोध की मुद्रा में खड़े हो गए। मैं रहस्य समझ नहीं पाया।' संत खैयाद बोले–'उस समय मैं परम आत्मा की शरण में था, खुदा मेरी रक्षा कर रहा था। अब तुम मेरे साथ हो।'

अनंत चतुष्टयी की शरण

सचमुच! जब हम अनंत की शरण में जाते हैं, अनंत-चतुष्टयी की शरण में चले जाते हैं तब अनंत चतुष्टयी के स्पंदन से तैजस शरीर और चेतना का कण-कण तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तादात्म्य का अनुभव करता है, उस समय हमारी तैजस की धाराएं इतनी फूट पड़ती हैं, फिर किसी का भय नहीं हो सकता।

शरण में जाना स्वभाव-परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जब हम अनंत चतुष्टयी की शरण में जाते हैं, तब हमारे सामने अनंत ज्ञान दौड़ता है, अनंत दर्शन की धाराएं दौड़ती हैं, अनंत आनंद की धाराएं विकसित होती हैं और अनंत शक्ति के अनुभव के बीज फूटने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में रूपांतरण कैसे नहीं होगा? जो उन क्षणों में विद्यमान होते हैं, उनमें वैसा परिणमन होने लग जाता है। भीतरी परिणमन शुरू हो जाता है। एक बिंदु ऐसा आता है कि परिणमन होते-होते वह स्थूल रूप ले लेता है, सघन रूप ले लेता है और व्यक्ति सचमुच बदल जाता है।

स्वभाव-परिवर्तन का छठा सूत्र : भावना

भावना के प्रयोग के द्वारा स्वभाव को भी बदला जा सकता है। यह आत्म-सूचन–सेल्फ सजेशन है। हम अपने आपको सूचना दें। जब हम गहरे ध्यान की स्थिति में बैठे हों तब सूचना दें कि मैं क्रोध को छोड़ना चाहता हूं। मैं क्रोध से मुक्त हो रहा हूं। मैं क्रोध को नहीं चाहता। क्रोध के परमाणु मेरे पास नहीं रह सकते। क्रोध मुझे उत्तेजित नही कर सकता। क्रोध मेरे मस्तिष्क में और मेरे स्नायुतंत्र में अपनी तरंग कभी नहीं फैला सकता। पूरे निश्चय और दृढ़ता के साथ ये सूचनाएं दें, सुझाव दें, अपने आपको संबोधित करें, भावित करें। चित्त को इतना भावित कर लें, उस पर इतनी पुट लगा लें कि चित्त बिल्कुल भावित हो जाए।

भावित चित्त शक्तिशाली होता है

एक सामान्य वस्तु है, किंतु उसको भावित करने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है, बिना भावित किए किसी भी वस्तु की क्षमता नहीं बढ़ती। अन्न जब आग पर पकाया जाता है तब वह आग से भावित हो जाता है। रंगीन बोतलों

में पानी सूर्य की रश्मियों में रखा जाता है। वह पानी रंग से भावित हो जाता है। सामान्य पानी की जो शक्ति है, उसकी तुलना उससे नहीं हो सकती। उस भावित पानी से असाध्य रोगों की चिकित्सा की जाती है। अनेक रोग मिटते हैं।

पानी भावित किया जाता है, दूध भावित किया जाता है, चीनी और सब्जी भावित की जाती है और न जाने कितनी चीजें भावित की जाती हैं। चुंबक पर पानी की बोतलें रखी जाती हैं और पानी चुंबक से भावित हो जाता है। उस पानी में औषधीय गुण बढ़ जाते हैं। नाना प्रकार की बीमारियों को मिटाने के लिए वह पानी काम आता है। भोजन और पेय पदार्थों को यदि धूप में रखें तो उनका गुण-धर्म बदल जाता है। मंत्र विद्या का प्रयोक्ता जल को भावित करता है। वह मंत्र का जाप करता है और जल को अभिमंत्रित करता जाता है। वह जल शक्तिशाली हो जाता है। उसमें इतनी क्षमता आ जाती है कि वह बड़े-बड़े उपद्रवों को मिटा सकता है, फिर वह केवल पानी नहीं रहता और कुछ बन जाता है।

हम एक विचार को लें और पांच-दस मिनट तक मन को भावित करते जाएं। ऐसा प्रयत्न करें कि उस भावना से हमारा पूरा चित्त भावित हो जाए। केवल एक-दो बार दोहराने से कुछ नहीं बनता। उसमें समय लगाना चाहिए। पहले उच्च-स्वर में बोल-बोल कर मन को भावित करें, फिर मंद स्वर में भावित करें और फिर उच्चारण किए बिना मानसिक स्तर पर चित्त को भावित करें। हम तीनों प्रकार से मन को भावित करें और भावना को वहां तक पहुंचा दें, जहां उसे पहुंचना है। जब मन भावित हो जाए तब हम व्युत्सर्ग करें। मन के भावित हो जाने पर-मैं अपने पुराने स्वभाव का व्युत्सर्ग करता हूं, छोड़ता हूं, मेरा इसके साथ कोई संबंध नहीं है, ऐसा कहें।

जब तक 'मैं' और 'मेरा' यह संबंध बना रहता है, तब तक आदत नहीं बदल सकती, स्वभाव नहीं बदल सकता। हमें व्युत्सर्ग करना होगा–'मैं' और 'मेरे' का। अब मैं इस आदत को छोड़ता हूं, मेरा इसके साथ कोई संबंध नहीं है। यह मेरी नहीं है और मैं इसका नहीं हूं। इतना हो जाने पर फिर वह साधक उद्यत होकर कहता है–'मैं फिर नहीं करूंगा। इसके लिए मैं पूर्णरूप से सावधान और जागृत होता हूं।' यह पूरी प्रक्रिया है स्वभाव परिवर्तन की, व्यक्तित्व के रूपांतरण की, आदत को बदलने की।

स्वभाव को बदला जा सकता है

सामान्य धारणा यह है कि स्वभाव नहीं बदलता, नहीं बदला जा सकता, किंतु यह सही नहीं है। यदि कोई व्यक्ति दो-तीन महीनें तक इन सूत्रों का प्रयोग

करता है तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आदत बदल जाएगी। वह पूर्ववत् रह नहीं सकती। जो सत्य है, उस सत्य को हम कैसे टाल सकते हैं। मैं निश्चय की भाषा इसलिए बोल रहा हूं कि इस प्रक्रिया के निष्कर्ष में कोई संदेह नहीं है। जो शाश्वत सत्य है, वहां संदिग्ध भाषा बोलने की जरूरत नहीं, इसलिए मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि आदत बदलती है। यह ध्रुव सत्य है। जो प्रयोग करेगा, इस प्रक्रिया से गुजरेगा, वह अपनी आदतों को अवश्य ही बदल देगा। समय का अंतर हो सकता है, संकल्प-शक्ति का अंतर हो सकता है, निश्चय और आंतरिक शक्तियों के प्रति श्रद्धा का अंतर हो सकता है, किंतु निष्पत्ति का अंतर नहीं हो सकता।

दृढ़ निश्चय के साथ प्रक्रिया का अभ्यास करने पर स्वभाव अपने आप बदल जाता है। यदि हम स्वभाव-परिवर्तन की बात न मानें तो मिथ्यादृष्टि कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, सम्यग्दृष्टि कभी व्रती नहीं हो सकता, व्रती कभी महाव्रती नहीं हो सकता, अप्रमत्त कभी वीतरागी और केवली नहीं हो सकता। जो धर्म स्वभाव परिवर्तन की बात को नहीं मानता, वह धर्म अपने अनुयायियों को धोखे में डालता है, उनका विकास नहीं कर सकता। एक योग्य शिक्षक अपने शिष्यों को बदलने में सक्षम होता है, वह शिष्यों को बदल देता है, रूपांतरित कर देता है। आइंस्टीन स्कूल में पढ़ रहा था। अध्यापक ने गणित का सवाल पूछा। उत्तर ठीक नहीं दिया जा सका। अध्यापक ने कहा–'आइंस्टीन! तुम बुद्धू हो और बुद्धू ही बने रहोगे। कभी आगे नहीं बढ़ सकोगे।' समय बदला और एक दिन यह आया कि आइंस्टीन और गणित पर्यायवाची बन गए।

आंध्र प्रदेश में एक गुरु अपने पांच सौ शिष्यों को पढ़ा रहा था। उसके मन में भावना जागी। उसने एक प्रयोग शुरू किया और पांच सौ के पांच सौ शिष्य स्मृति, बुद्धि और मेधा में अग्रणी बन गए। मैं अपनी बात कहूं। एक दिन था कि मैं अपने साथियों में सबसे पिछड़ा हुआ था। आचार्य तुलसी का मार्ग दर्शन मिला। उनका वरद हस्त मुझे उपलब्ध हुआ। धीरे-धीरे रूपांतरण घटित होने लगा–ज्ञान के क्षेत्र में, विद्या और मेधा के क्षेत्र में, स्वभाव और व्यवहार के क्षेत्र में। रूपांतरण की प्रक्रिया से प्रत्येक मनुष्य तलहटी से शिखर तक पहुंच सकता है। प्रक्रिया के बिना यह संभव नहीं है। बिना मार्ग पर चले, बिना आरोहण किए, कोई शिखर को नहीं छू सकता। जो जहां है, वहीं रहेगा। जहां पचास वर्ष पहले था, उसी बिंदु पर वह पचास वर्ष बाद भी रहेगा। कोई अंतर नहीं आएगा, क्योंकि उसे प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है और यदि प्रक्रिया उपलब्ध

भी है तो भी वह उसका अभ्यास नहीं कर रहा है। ऐसी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

अध्यात्म का समूचा मार्ग रूपांतरण की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का अभ्यास-क्रम है। जो व्यक्ति इस अभ्यास-क्रम को स्वीकार कर लेता है, वह निश्चित ही अपनी लेश्याओं को बदल देता है। वह कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं का अतिक्रमण कर वह तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में चला जाता है। वह इन लेश्याओं के स्पंदनों के अनुभवों में चला जाता है। वहां जाने पर स्वभाव में अपने आप परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है। यह है हमारे स्वभाव परिवर्तन की प्रक्रिया।

धर्म लोकोत्तर है

मैं फिर इस बात को दोहराना चाहता हूं कि जो धार्मिक अपने स्वभाव को बदलना नहीं चाहता, वह यथार्थ में धार्मिक नहीं है। जो धर्मगुरु अपने अनुयायियों के स्वभाव को बदलने का उपक्रम नहीं करता, वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं कहा जा सकता। दोनों ओर से उपक्रम चलना चाहिए। अनुयायी बदलना चाहे और मार्गदर्शक उन्हें बदलने की प्रक्रिया बतलाए, अभ्यास-क्रम बतलाए, ऐसा होने पर ही धर्म की तेजस्विता, धर्म की वास्तविकता प्रकट होगी और धर्म का अलौकिक रूप–लोकोत्तर स्वरूप हमें प्राप्त होगा। धर्म लौकिक नहीं है, वह लोकोत्तर है। वह लोकोत्तर इसलिए है कि लौकिक पदार्थ से जो नहीं मिलता, वह धर्म से मिलता है। धन लौकिक उपक्रम से प्राप्त होता है। सत्ता लौकिक उपक्रम से मिलती है। दुनिया के सारे उपक्रम लौकिक हैं। इन लौकिक प्रयत्नों से अनेक चीजें मिलती हैं, किंतु मन की शांति, स्वभाव का परिवर्तन, व्यक्तित्व का रूपांतरण, सहज और अलौकिक आनंद प्राप्त नहीं होता। ये सब धर्म से मिलते हैं। अध्यात्म इनकी उपलब्धि का साधन है। इसलिए धर्म या अध्यात्म लोकोत्तर या लोकोत्तम तत्त्व है। जब हम लोकोत्तम तत्त्व के प्रति चलते हैं, उस दिशा में प्रस्थान करते हैं और यदि हमें वही प्राप्त हो, जो लौकिक प्रयत्नों से प्राप्त होता है, वह कुछ भी न मिले, जो लौकिक प्रयत्नों से नहीं मिलता तो फिर लौकिक उपाय और लोकोत्तर के बीच में कोई भेदरेखा नहीं खींची जा सकेगी। लौकिक और लोकोत्तर के बीच में यही भेदरेखा हो सकती है कि जो लौकिक उपायों से नहीं मिलता, वह लोकोत्तर उपायों से मिल जाता है। भेदरेखा का आदि बिंदु यही होगा।

आज के इस बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक युग में इस प्रश्न पर और

अधिक गहराई से चिंतन करना आवश्यक है। हम धर्म और अध्यात्म के लोकोत्तर स्वरूप का अभ्यास करें और उस अभ्यास के द्वारा ऐसी उपलब्धियां हासिल करें, जो लौकिक अभ्यास से संभव नहीं हैं। आज अपराधों की बाढ़-सी आ रही है।

लौकिक साधनों के बावजूद भी आज अपराध बढ़ रहे हैं, कम नहीं हो रहे हैं। हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश में यदि अपराध हो तो माना जा सकता है कि यहां धन का अभाव है, गरीबी है, इसलिए लोग अपराध करते हैं, किंतु दुनिया के सबसे वैभवशाली देश में यदि हिन्दुस्तान से हजार गुना अपराध हों तो इसे क्या माना जाए? यह नहीं कहा जा सकता कि वहां अपराध अभाव या गरीबी के कारण बढ़ रहे हैं। वहां अपराधों का मूल कारण है अतिभाव। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लौकिक पदार्थों के विकास से अपराधों को नहीं मिटाया जा सकता, मनुष्य को नहीं बदला जा सकता। इस बिंदु पर खड़े होकर ही हमें अध्यात्म की दिशा में जाने की आवश्यकता महसूस होती है। तब हमें ज्ञान होता है कि दुनिया में एक ऐसा तत्त्व भी है, जो लौकिक नहीं है, जो पदार्थ से संबद्ध नहीं है, किंतु अलौकिक और पदार्थातीत है। इस बिंदु पर पहुंचकर ही हम अपराधों को कम कर सकते हैं, बुरी आदतों को बदल सकते हैं और व्यक्तित्व का रूपांतरण कर सकते हैं।

प्रतिपक्ष भावना का निर्माण

स्वभाव परिवर्तन के बाद एक बात पर और ध्यान देने की जरूरत है। व्युत्सर्ग घटित हो जाने के पश्चात् प्रतिपक्षी स्वभाव का चित्त-निर्माण आवश्यक होता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

उदाहरण के लिए–मैं क्रोध को छोड़ने के लिए उसकी पूरी प्रक्रिया से गुजरता हूं और व्युत्सर्ग तक पहुंच जाता हूं। वहां पहुंचकर मुझे एक बात और करनी होती है कि जिसका मैं व्युत्सर्ग कर रहा हूं, वह कहीं फिर न आए, मुझसे संबद्ध न हो जाए।

एक बुढ़िया थी। उसके चार दामाद थे। चारों मरकर प्रेत हुए। वे बारी-बारी से बुढ़िया के घर आने लगे। वह एक प्रेत को गंगाजी में छोड़ आती तो दूसरा घर पर मौजूद रहता। उसे गंगाजी में डाल आती तो तीसरा प्रेत घर पर मिलता और उसे भी गंगाजी में डाल आती तो चौथा प्रेत घर पर मिलता। उसे जब गंगाजी में डाल आती तो फिर पहला प्रेत आ जाता। यह क्रम चलता रहा। वह उन प्रेतों से छुटकारा नहीं पा सकी।

एक व्यक्ति ने दारिद्र्य से कहा–मैं कमाने के लिए परदेश जा रहा हूं, यात्रा करना चाहता हूं, तुम यहीं रहकर मेरे घर की देखभाल करो। दारिद्र्य बोला–यह कैसे हो सकता है? आज तक मैंने तुम्हारा साथ निभाया है। आज मैं तुम्हें अकेले विदेश कैसे जाने दूं? तुम विदेश में रहो और मैं यहां रहूं। यह कैसे संभव हो सकता है? मैं कच्चा मित्र नहीं हूं। मैं सर्वत्र साथ ही रहूंगा। उस व्यक्ति ने कहा–मुझे तब विदेश जाने की जरूरत ही नहीं है।

यदि यही क्रम रहे कि हम जिस आदत को छोड़ें, जिसका हम व्युत्सर्ग करें, व्युत्सर्ग कर हम अपने घर पहुंचे और वह आदत आगे फिर तैयार मिले तो हमारी प्रक्रिया पूरी नहीं होगी, इसलिए हमें प्रतिपक्षी भावना के चित्त का निर्माण करना होगा। यदि क्रोध को छोड़ना है तो उसका प्रतिपक्ष 'क्षमा' का चित्त हमें निर्मित करना होगा। क्षमा का चित्र इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो कि फिर क्रोध को आने का मौका ही न मिले। बुढ़िया के दामाद को आने का अवसर न मिले और दारिद्र्य को साथ चलने का मौका न मिले।

रूपांतरण का अंतिम चरण है–प्रतिपक्ष भावना का निर्माण। क्रोध को बदलना हो तो उपशम के चित्त का निर्माण करो। अभिमान को बदलना हो तो मृदुता के चित्त का निर्माण करो। माया को बदलना है तो ऋजुता की प्रतिमा का निर्माण करो और लोभ से छुटकारा पाना हो तो संतोष की प्रतिमा को उभारो।

हम प्रेक्षाध्यान के प्रारंभ में कायोत्सर्ग के पश्चात् एक ध्येय का निर्माण करते हैं कि मैं अपने मन को निर्मल बनाना चाहता हूं और मन की मलिनता के कारण होने वाली आदतों को समाप्त करना चाहता हूं। इस ध्येय की प्रतिमा के पश्चात् कायोत्सर्ग, प्रेक्षाध्यान में प्रवेश करते हैं। हमारी सारी ऊर्जा उन आदतों को बदलने में, मन की निर्मलता को विकसित करने में अपने आप सक्रिय हो जाती है और एक दिन ऐसा आता है कि इस प्रयोग से गुजरने वाला व्यक्ति सचमुच एक नया जन्म ले लेता है और एक नया व्यक्ति बन जाता है।

9. रंगों का ध्यान और स्वभाव-परिवर्तन

लक्ष्मी और अंधकार के रंग

एक बार लक्ष्मी के पास अंधकार के रंग मिलकर आए। जिसका व्यक्तित्व सावर्जनिक होता है, उसके पास सब आते हैं, वह सबका होता है। उसे सबके साथ संबंध रखना होता है। लक्ष्मी का व्यक्तित्व सार्वजनिक है। दुनिया में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसका संबंध लक्ष्मी से न हो या लक्ष्मी का संबंध उससे न हो। दुनिया का एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो लक्ष्मी के बिना जी सके, उसकी छत्रछाया के बिना रह सके। इसलिए लक्ष्मी का व्यक्तित्व व्यापक, विराट और सार्वजनिक है।

अंधकार के रंग लक्ष्मी के पास आकर बोले–'देवि! आप हमारा सहयोग करें। आपके सहयोग के बिना, आपकी छत्रछाया के बिना हमारा सम्मान नहीं होता, हमारा कोई आदर नहीं करता। इसलिए जहां हमारा अस्तित्व है, हमारी प्रतिष्ठा है, वहां आपको हमारा सहयोग करना होगा और हमारे साथ रहना होगा। हम आपकी छत्रछाया के इच्छुक हैं।'

लक्ष्मी ने कहा–'अच्छी बात है, आऊंगी,' फिर लक्ष्मी के मन में प्रश्न उठा। उसने रंगों से पूछा–'यह तो बताओ कि तुम्हारी छत्रछाया में रहने वाले लोग कौन हैं और कौन व्यक्ति तुम्हें अच्छे लगते हैं?

अंधकार के रंग बोले–'जो व्यक्ति क्षुद्र होता है, ओछी वृत्ति वाला होता है, स्वार्थी होता है, जो बिना सोचे-समझे काम करने वाला होता है, जो नृशंस होता है, जिसका इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नही होता, जो आसक्त होता है, क्रोध करता है, बात-बात में द्वेष की भावना लाता है, जो शठता से परिपूर्ण है, प्रमत्त है, आलसी है, रसलोलुप और वक्र आचरण वाला है, जिसका दृष्टिकोण मिथ्या है, जो किसी भी बात को सम्यक् ग्रहण नही करता, जैसे–यदि उसे कोई कहे कि तुम भारी होते जा रहे हो तो वह कहता है–क्या तुम्हारे बाप की रोटी खाता हूं? कोई कहता है कि तुम दुबले होते जा रहे हो तो वह कहता है–शरीर

मेरा है, तुम्हें क्या चिंता? वह किसी भी बात को सम्यक् ग्रहण नही करता। पत्नी खाने के लिए कहे तो भी लड़ेगा कि तुमने इतना जल्दी खाने को क्यों कहा और यदि खाने के लिए न कहे तो भी लड़ेगा कि तुम मेरी देखभाल ही नहीं करती हो। वह पूरा का पूरा अन्यथा ग्रहण ही करता है, जो अप्रियभाषी और कर्कश वचन बोलने वाला है, जो चोरी करने वाला है, ईर्ष्या करने वाला है ऐसे व्यक्ति हमें बहुत प्रिय हैं।

रंगों की बात

लक्ष्मी ने सुना और वह असमंजस मे पड़ गई। काले रंगों को छत्रछाया देना स्वीकार कर लिया, उनके साथ जाना और रहना स्वीकार कर लिया। अब वह दुविधा में पड़ गई। उसने सोचा–ऐसे व्यक्तियों के साथ कैसे रह पाऊंगी? उसने एक उपाय निकाला।

वह रंगों से बोली–'मैं तुम्हारे साथ चलूंगी। तुम्हारे घर में नहीं रहूंगी, बाहर ही अलिंद में रहूंगी।' लक्ष्मी उनके साथ चली गई। उसने अपनी छत्रछाया का वहां विस्तार भी किया, किंतु वह घर के भीतर कभी नहीं गई। वह सदा अलिंद में ही बैठी रही।

जो इस प्रकार के कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले लोग हैं, जो काले वर्ण वाले लोग हैं, उनके पास भी लक्ष्मी होती है, पर वह घर के भीतर नहीं जाती, शरीर के बाहर-बाहर रहती है। वह शरीर की सुविधा देती है, पर घर के भीतर नहीं जाती। मन के भीतर नहीं जाती, अतः मन की शांति नहीं होती।

लक्ष्मी और प्रकाश के रंग

एक दिन ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग बना। प्रकाश के रंग मिलकर आए और लक्ष्मी से बोले–'महादेवी! आपकी छत्रछाया चाहिए, क्योंकि तुम्हारे बिना कोई जी नहीं सकता, सुखपूर्वक नहीं रह सकता।'

लक्ष्मी बोली–'अच्छी बात है। तुम्हारे पास आ जाऊंगी। तुम्हें छत्रछाया दूंगी,' फिर पूछा–'तुम्हारा घर कैसा है? तुम्हारे लोग कैसे हैं? तुम्हारा परिवार कैसा है? तुम्हें कैसे लोग प्रिय हैं?'

प्रकाश के रंगों ने कहा–'जिनका व्यवहार विनम्र होता है, जो चपल नहीं होते, स्थिर मन के होते हैं, जो भीतर से भी अचंचल होते हैं और बाहर से भी अचंचल होते हैं, जो कपटी नहीं होते, मखौल नहीं करते, जो प्रियधर्मा होते

हैं, जो धर्म में दृढ़ होते हैं, जिनका क्रोध और मान क्षीण हो चुका है, जिनका चित्त इतना शांत है कि दुःख उनका स्पर्श तक नहीं कर पाता, ऐसे लोग हमें प्रिय हैं। वे हैं हमारे परिवार के सदस्य।'

एक बहुत बड़े संत हुए हैं। उनका नाम था मिलरेप्पा। मरने को थे। तीव्र वेदना हो रही थी। शिष्यों ने पूछा–'गुरुदेव! आपको दुःख हो रहा है? उन्होंने कहा–'नहीं, संसार में चारों ओर दुःख है, पर मुझे दुःख नहीं हो रहा है, क्योंकि मेरा मन शांत है। जिसका चित्त शांत होता है, उसको दुःख नहीं होता। दुःख है और दुःख होना–ये दो घटनाएं हैं। दुनिया में दुःख है, किंतु दुःख का अनुभव करना एक दूसरी बात है। कभी-कभी जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं कि जब मन दूसरे काम में लग जाता है, बड़े काम में उलझ जाता है, तब दुःख की सर्वथा विस्मृति हो जाती है।

बनार्डशा के जीवन की एक घटना है। वे बहुत मजाक करने वाले व्यक्ति थे। एक बार हार्ट में दर्द हो गया। डॉक्टर को बुलाया और कहा–'हार्ट में दर्द हो गया है।' डॉक्टर जानता था। वह बोला–'शा! मुझे बहुत पीड़ा हो रही है। क्या करूं?' डॉक्टर ने ऐसा आकार बनाया कि शा घबरा गया, वे तत्काल उठे, पानी लाए, पानी पिलाया और उपचार किया। डॉक्टर ठीक हो गया। वह उठा और बोला–'शा! मुझे फीस दें।' शा ने कहा–'किस बात की फीस दूं?' डॉक्टर ने कहा–'मैंने तुम्हारा इलाज किया है। उसकी फीस चुकाओ।' शा बोला–'इलाज तो मैंने तुम्हारा किया। उपचार कर मैंने तुम्हें स्वस्थ बनाया।' डॉक्टर ने कहा–'शा! मैंने यह सारा नाटक आपके लिए ही तो रचा था। बताइए, आपका दर्द कहां गया?' वास्तव में शा उस समय दर्द को भूल ही गए थे। उन्हें विस्मृति हो गई थी। दर्द का उन्हें भान ही नहीं रहा।

लक्ष्मी और प्रशस्त लेश्या

जिसका चित्त प्रशांत होता है, उसके आस-पास दुःख भले ही हो, किंतु दुःख उसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता, ध्यान के द्वारा उसके शरीर का एक-एक कण इतना वज्रमय बन जाता है कि दुःख को भीतर घुसने का अवकाश ही नहीं मिलता। जो उपशांत होता है, जो जितेन्द्रिय होता है, जो मितभाषी होता है, जो पापभीरु और हित की एषणा करने वाला होता है–ऐसे लोग हमें प्रिय हैं। यह बात प्रकाश के रंगों ने लक्ष्मी से कही।

लक्ष्मी बोली–'मुझे भी ऐसे ही लोग पसंद हैं। आप जाएं, चिंता न करें। मैं आपके यहां आऊंगी, बाहर नहीं, भीतर रहूंगी।' लक्ष्मी आई और भीतर

जाकर बैठ गई। तेजस, पद्म और शुक्ल लेश्या के लोगों के पास लक्ष्मी रहती है। बाहर नहीं, भीतर, इसलिए वैसे लोगों के मन में सदा शांति बनी रहती है। कभी-कभी उन्हें शारीरिक बाधाएं भी सताती हैं, पदार्थों का अभाव भी होता है, पर उनका मन कभी अशांत नहीं होता, क्योंकि लक्ष्मी भीतर आसन जमाए बैठी है।

यह प्रश्न बहुत बार आता है कि बुरे काम करने वालों के पास कितना धन होता है? उनके पास धन होता है, पर हम उस सूत्र को न भूलें कि लक्ष्मी बाहर बैठी है, घर के भीतर नहीं है। वैसे व्यक्तियों को शारीरिक सुविधाएं मिल सकती हैं, किंतु उनका मन अशांत रहता है।

लोग यह भी कहते हैं कि अच्छे आचरण करने वालों के पास धन होता है, पर उतना नहीं होता, जितना अपेक्षित होता है। वे वैभवशाली जीवन नहीं जी पाते। यह सच है, पर हम इस बात को न भूलें कि तेज, पद्म और शुक्ललेश्या वाले लोगों के अंतःकरण में लक्ष्मी बैठी रहती है। उनकी मन की शांति कभी नहीं टूटती। वे कभी-कभी शारीरिक असुविधाएं भी भोगते हैं, पर मन अशांत नहीं होता।

शांति और अशांति का प्रश्न लेश्याओं से जुड़ा हुआ है। यह कृष्णलेश्या और शुक्ललेश्या का प्रश्न है। यह पद्मलेश्या और नीललेश्या का प्रश्न है। यह तेजोलेश्या और कापोतलेश्या का प्रश्न है। यदि हम लेश्याओं के मर्म को समझ लेते हैं तो प्रश्न स्वयं समाहित हो जाते हैं। हमारा दृष्टिकोण इतना बहिर्मुखी हो गया है कि हम मनुष्य का मूल्यांकन केवल पदार्थ के आधार पर करते हैं और केवल पदार्थ को ही धन या लक्ष्मी मानते हैं, यह हमारा दृष्टिकोण बदलना चाहिए। मूल्यांकन का एक ही दृष्टिकोण नहीं है, कई दृष्टिकोण हैं।

विश्लेषण अल्प-महान ऋद्धि का

भगवान महावीर से पूछा गया—भंते! अल्प ऋद्धिवाले जीव कौन हैं? महान ऋद्धिवाले जीव कौन हैं?

भगवान ने कहा—कृष्णलेश्या के जीव अल्प ऋद्धिवाले होते हैं, दरिद्र होते हैं। नीललेश्या के जीव उनकी अपेक्षा महर्द्धिक होते हैं, कापोतलेश्या के जीव उनकी अपेक्षा से महर्द्धिक होते हैं, तेजोलेश्या के जीव और अधिक महर्द्धिक होते हैं, पदम्लेश्या के जीव और अधिक ऋद्धिशाली और शुक्ललेश्या के जीव सबसे अधिक ऋद्धि संपन्न होते हैं, वैभवशाली होते हैं।

कृष्णलेश्या के जीव सबसे कम वैभवशाली होते हैं और शुक्ललेश्या के जीव सबसे अधिक वैभवशाली होते हैं। महावीर ने यह नहीं कहा कि जो करोड़पति होता है, अरबपति होता है, वह महर्द्धिक है और जिसके पास सौ, हजार ही होता है, वह अल्प ऋद्धिवाला है। उनके मूल्यांकन का दृष्टिकोण भिन्न है। यदि वैभव और संपदा का यह दृष्टिकोण हमारे पास होता तो मन की अशांति का प्रश्न इतना जटिल नहीं होता। आज समूचे विश्व में मन की अशांति का प्रश्न बहुत ही जटिल बना हुआ है। उसका यही कारण है कि आदमी संपदा को एक आंख से देखता है। बाहर की संपदा को ही संपदा मानता है। एक आंख से देखे, किंतु उसकी दूसरी आंख फूटी हुई नहीं होनी चाहिए। वह उस दूसरी आंख से भीतरी संपदा को भी देखे, भीतर भी झांके।

एक चारण कवि न्याय के लिए हाकिम के पास गया। हाकिम ने निर्णय ठीक नहीं किया, तब उसका कवि हृदय बोल उठा–

सुण हाकम संग्राम कह, आंधो मत हुवै यार।
औरां रे दो चाहिजै, थारै चाहिजै चार॥

हाकिम साहब अंधे मत बनो। उचित न्याय करो। दो आंखें बाहर को देखने के लिए हैं और दो भीतर को देखने के लिए चाहिए।

लेश्या की भाषा में मैं कह सकता हूं कि हमारे भी चार आंखें होनी चाहिए। दो आंखें बाहर की संपदा को देखने के लिए और दो भीतर की संपदा को देखने के लिए चाहिए, किंतु लगता ऐसा है कि बाहर की संपदा को देखने के लिए तो हमारी ये दो आंखें भी बहुत बड़ी बन जाती हैं, चार हो जाती हैं और भीतरी संपदा को देखने के लिए आंखें उपलब्ध ही नहीं हैं, आदमी अंधा बना हुआ है।

सामाजिक व्यक्तित्व

महावीर ने लेश्या के सिद्धांत में लेश्या के आधार पर ऋद्धि और वैभव की चर्चा की है। दो दृष्टिकोण होते हैं–एक है पदार्थ का और दूसरा है व्यक्ति का भाव और आचरण। जो व्यक्ति कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में रहता है, उसे बाहरी संपदा कभी-कभार उपलब्ध भी हो जाती है, किंतु व्यक्ति का आंतरिक जीवन समाप्त हो जाता है। अध्यात्म-साधना के संदर्भ में हम यह स्पष्ट समझें कि दीपावली के महान पर्व पर हम केवल धन की ही कामना न करें, किंतु गुणों की भी कामना करें।

हम केवल बाहरी व्यक्तित्व को सुखी बनाने की ही कामना न करें, किंतु आंतरिक व्यक्तित्व को सुखी, समृद्ध और आनंदमय बनाने की कामना करें। ये दोनों बातें होगी तो सामाजिक व्यक्ति का जीवन पूरा बनेगा, अन्यथा खंडित रहेगा, टूटा हुआ रहेगा। बाहर का जीवन अखंड-सा लगेगा, पर भीतर सबकुछ टूटा-टूटा सा होगा। बाहरी संपदा पाकर भी लगेगा कि भीतर रिक्तता है, खालीपन है। अभी कुछ पाया नहीं है। मन को कभी चैन नहीं होगा, शांति नहीं होगी। यह दरिद्रता बनी की बनी रहेगी। इसलिए आध्यात्मिक दीपावली को मनाने के लिए हम रंगों की उपासना करें, रंगों का ध्यान करें। व्यक्तित्व को बदलने के तीन साधन हैं। दो साधनों की चर्चा हम कर चुके हैं। जो व्यक्ति प्रकाशमय रंगों का ध्यान करता है, वह अपने आंतरिक व्यक्तित्व का निर्माण कर लेता है। जो व्यक्ति अंधकार के रंगों का ध्यान करता है, वह अपने व्यक्तित्व को अंधकार से भर देता है, छिन्न-भिन्न कर देता है।

निर्माण का रंग—लाल

प्रकाश के दो-तीन रंगों की चर्चा मैं करना चाहता हूं। तेजोलेश्या का बाल सूर्य जैसा लाल रंग है। लाल रंग निर्माण का रंग है। लाल रंग का तत्त्व है अग्नि। हमारी सारी सक्रियता, शक्ति, तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति—सबका स्रोत है लाल रंग। लाल रंग हमारा स्वास्थ्य है। डॉक्टर सबसे पहले देखता है कि रक्त में श्वेत कण कितने हैं और लाल कण कितने हैं? लाल कण कम होते हैं तो वह अस्वास्थ्य का द्योतक है। लाल रंग प्रतिरोधात्मक शक्ति का प्रतीक है। वह बाहर से आने वाले को रोकता है, भीतर नहीं आने देता। लाल रंग में यह क्षमता है कि वह बाह्य जगत से अंतर्जगत में ले जा सकता है।

जब तक कृष्ण, नील और कापोतलेश्या काम करती है, तब तक व्यक्ति अंतर्मुखी नहीं हो सकता, आध्यात्मिक नहीं हो सकता, अंतर्जगत की यात्रा नहीं कर सकता। वह आंतरिक सुखों का अनुभव नहीं कर सकता। हम प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया में आंतरिक सूक्ष्म स्पंदनों का अनुभव करना सिखाते हैं। मन जब सूक्ष्म होता है तब वह सूक्ष्म प्रकंपनों को पकड़ने में सक्षम हो जाता है।

एक और बात है रंगों का अनुभव करना। जब तैजसशरीर के साथ हमारा संपर्क स्थापित होता है तब रंग दीखने लग जाते हैं। जब हम दर्शनकेन्द्र को सक्रिय करते हैं तब बालसूर्य का रंग दीखने लग जाता है। उस समय व्यक्ति को कितनी आनंदानुभूति होती है, बताई नहीं जा सकती। उस आनंद का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले ही उसे जान सकते हैं, वे उसे बता नहीं सकते। लाल रंग

के अनुभव से, तेजोलेश्या के स्पंदनों की अनुभूति से अंतर्जगत की यात्रा प्रारंभ होती है। लाल रंग नाड़ीसंस्थान और रक्त को सक्रिय बनाता है।

जब हम दर्शनकेन्द्र पर लाल रंग का ध्यान प्रारंभ करते हैं और जब वह ध्यान सधता है तब आदतों में परिवर्तन आना प्रारंभ हो जाता है। कृष्ण, नील और कापोतलेश्या के काले रंगों से होने वाली आदतें तेजोलेश्या के प्रकाशमय लाल रंग से समाप्त होने लगती है। अचानक स्वभाव में परिवर्तन आता है। पद्मलेश्या का रंग पीला है। यह रंग बहुत शक्तिशाली होता है। यह गर्मी पैदा करने वाला रंग है। लाल रंग भी गर्मी पैदा करता है। उत्क्रमण की सारी प्रक्रिया गर्मी बढ़ाने की प्रक्रिया है। तेजोलेश्या में भी गर्मी बढ़ती है, पद्मलेश्या में भी गर्मी बढ़ती है और जब वह गर्मी पूरी मात्रा में बढ़ जाती है, चरम शिखर को छू लेती है और गर्मी बढ़ने का अवकाश नहीं रहता तब शुक्ललेश्या के द्वारा गर्मी का उपशमन होता है और तब निर्वाण घटित हो जाता है। आज रंग के विज्ञान में बहुत खोजें हुई हैं और हो रही हैं। रंग का मनोविज्ञान कहता है कि पीला रंग मन की प्रसन्नता का प्रतीक है। इससे मन की दुर्बलता मिटती है, आनंद बढ़ता है।

आगम कहते हैं–पीतलेश्या से चित्त प्रशांत होता है, शांति बढ़ती है और आनंद बढ़ता है। दर्शन की शक्ति पीले रंग से विकसित होती है। दर्शन का अर्थ है–साक्षात्कार, अनुभव। इससे तर्क की शक्ति नहीं बढ़ती, साक्षात्कार की शक्ति बढ़ती है, अनुभव की शक्ति का विकास होता है।

आत्म-साक्षात्कार का रंग

पीले रंग की क्षमता है–मन को प्रसन्न करना, बुद्धि का विकास करना, दर्शन की शक्ति को बढ़ाना, मस्तिष्क और नाड़ीसंस्थान को सुदृढ़ करना, सक्रिय बनाना। यदि हम हृदयकेन्द्र या आनंदकेन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करते हैं और मस्तिष्क तथा विशुद्धिकेन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करते हैं, तो अंधकार के रंगों द्वारा निर्मित आदतें विघटित होने लगती हैं और नई आदतें बननी प्रारंभ हो जाती हैं। लेश्याध्यान का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। यह जैन साधना पद्धति का अपूर्व प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा आत्म-साक्षात्कार की झलक मिलती है। साधकों को मिली है। लेश्या कोरी जानने, देखने और रटने की बात नहीं है, यह साधना की पूरी प्रक्रिया है। यह समूचे व्यक्तित्व को बदलने की प्रक्रिया है। तीन काली लेश्याओं ने जिस व्यक्तित्व का निर्माण कर रखा है, उसे विघटित करने के लिए तीन प्रकाश लेश्याएं सक्षम हैं। वे नया व्यक्तित्व उभार देती हैं।

लेश्या और रंग

लेश्याओं के छः रंग हैं। उनमें तीन खराब हैं और तीन अच्छे। तीन प्रशस्त रंग हैं और तीन अप्रशस्त रंग हैं। काला, नीला और कबूतरिया (कापोत)–ये खराब ही नहीं होते। हमें दो भेद करने होंगे–प्रकाश के रंग और अंधकार के रंग। अंधकार का काला, नीला और कापोत रंग खराब होता है और प्रकाश का काला, नीला और कापोत रंग अच्छा होता है। इसी प्रकार अंधकार का लाल, पीला और श्वेत रंग खराब होता है और प्रकाश का लाल, पीला और श्वेत रंग अच्छा होता है। कृष्णलेश्या विशुद्ध होती-होती नीललेश्या बनती है। महावीर से पूछा–भंते! क्या कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या के परिणाम अप्रशस्त होते हैं?

महावीर ने कहा–ऐसा नहीं है। कृष्ण, नील और कापोतलेश्या के समय हमारे परिणाम प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों होते हैं, इसलिए सापेक्षता से कहा जाता है कि कृष्णलेश्या की अपेक्षा नीललेश्या विशुद्ध है, नील लेश्या की अपेक्षा कापोतलेश्या विशुद्ध है। हमें दो प्रकार करने होंगे–एक संक्लेश का और दूसरा असंक्लेश का। संक्लेश का चरम बिंदु है–कृष्णलेश्या और असंक्लेश का चरम बिंदु है–शुक्ल लेश्या। असंक्लेश अर्थात् विशुद्धि। विशुद्धि की जघन्य अवस्था है तेजोलेश्या, मध्यम है पद्म लेश्या और उत्कृष्ट है शुक्ल लेश्या। संक्लेश का अर्थ है अविशुद्धि। अविशुद्धि का चरम बिंदु है–कृष्णलेश्या, मध्य है नीललेश्या और जघन्य है कापोतलेश्या।

सारे रंग खराब नहीं होते, सारे रंग अच्छे नहीं होते। श्वेत रंग भी यदि अंधकार का होता है तो खराब होता है और प्रकाश का होता है तो अच्छा होता है।

एक अमरीकी महिला वैज्ञानिक जा. जे. सी ट्रस्ट ने मनुष्य के आभामंडल के विषय में अनेक खोजें कीं। उसने रंगों का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया। एक थे प्रकाश के रंग और एक थे अंधकार के रंग। उनकी तुलना प्रशस्त और अप्रशस्त रंगों से की जा सकती है। काला रंग खराब ही नहीं होता है। वह संरक्षण देने वाला रंग है। ध्यान में भी काले रंग का बड़ा महत्त्व है। तीर्थंकरों की उपासना भी काले रंग से की जाती है। वैदिक साधना पद्धति में ब्रह्मा की उपासना लाल रंग से की जाती है, क्योंकि लाल रंग निर्माता है। विष्णु की उपासना काले रंग में की जाती है, क्योंकि काला रंग संरक्षण का रंग है। महेश की उपासना सफेद रंग में की जाती है, क्योंकि शिव संहार करने वाले हैं। काला

रंग अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। सफेद रंग अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है।

अध्यात्म के विकास में बैंगनी रंग का बहुत महत्त्व है। मनुष्य की हिंसात्मक वृत्तियों को बदलने में यह रंग बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

लक्ष्मी पूजा और प्रकाश की पूजा के अवसर पर हम पवित्र रंगों का ध्यान करें। श्वेत और पीत रंग का ध्यान कर अपने पवित्र संकल्पों को अंतर्जगत तक पहुंचाकर हम ऐसी आराधना की पद्धति का विकास कर सकते हैं, जो लौकिक पद्धति से भी अधिक शक्तिशाली हो। इस पद्धति के दोनों लाभ हैं। मन की शांति और बुद्धि की निर्मलता से साधना का विकास भी होता है और बाह्य व्यक्तित्व का विकास भी होता है।

10. ध्यान क्यों?

मन में यह प्रश्न सहज ही उभरता है कि ध्यान क्यों? प्रयत्न को छोड़कर अप्रयत्न क्यों? सक्रियता को छोड़कर निष्क्रियता क्यों? चेष्टा को छोड़कर निष्चेष्टा क्यों?

आदमी सामान्यतः आलसी होता है। कठिनाई से वह पुरुषार्थी होता है। कभी-कभी उसका पराक्रम जागता है, वह प्रयत्न करता है। संसार में प्रयत्न करने वालों की अपेक्षा अप्रयत्न करने वाले बहुत हैं। श्रम करने वालों की अपेक्षा श्रम न करने वाले अधिक हैं। पुरुषार्थी की अपेक्षा आलसी और अकर्मण्य बहुत हैं। ऐसी स्थिति में हम ध्यान का बहाना बनाकर अकर्मण्यता की दिशा में क्यों जा रहे हैं? क्यों प्रयत्न को छोड़कर अप्रयत्न कर रहे हैं? यह स्वाभाविक प्रश्न है। हम यदि प्रयत्न और अप्रयत्न को ठीक से समझ लें तो प्रश्न समाहित हो सकता है। यदि समझने में तनिक भी भ्रांति हुई तो ध्यान के प्रति भी हम भ्रांत हो जाएंगे।

प्रयत्न है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। हमारा प्रयत्न या श्रम जीवन की इस नैया को खेने के लिए और श्वास की मर्यादा को निभाने के लिए और अप्रयत्न है जीवन की सचाई को पाने के लिए। कर्म है जीवन यात्रा को चलाने के लिए और अकर्म है जीवन की सचाई को पाने के लिए। प्रवृत्ति है जीवन की यात्रा के लिए और निवृत्ति है जीवन के सत्य को पाने के लिए।

प्रवृत्ति साधन है, साध्य नहीं

जो लोग केवल कर्म करते हैं, वे जीवन की यात्रा को चला सकते हैं, किंतु जीवन की सचाई को उपलब्ध नहीं कर सकते। ध्यान करने वाले प्रयत्न को नहीं छोड़ते, किंतु केवल प्रयत्न करने वाले ध्यान को छोड़ देते हैं। ध्यान करने वाले कर्म को नहीं छोड़ते, किंतु केवल कर्म करने वाले ध्यान को छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति जीवन की सचाई को पाने के लिए अपनी यात्रा शुरू करता है, वह जीवन की यात्रा को चलाने के लिए कर्म भी करता है। उसका कर्म अकर्म

में से ही निकलता है, उसकी प्रवृत्ति निवृत्ति में से ही निकलती है और उसकी सक्रियता निष्क्रियता में से उत्पन्न होती है। जो कर्म अकर्म में से निकलता है, वह बहुत पवित्र और शक्तिशाली होता है। जो प्रवृत्ति निवृत्ति में से जन्म लेती है, जो सक्रियता निष्क्रियता में से निकलती है, वह निर्दोष और स्वच्छ होती है। कर्म में सारे दोष इसीलिए आए हैं कि वे कर्म कर्म में से निकल रहे हैं। प्रवृत्ति में से प्रवृत्तियां निकल रही हैं। जब कर्म में से कर्म और प्रवृत्ति में से प्रवृत्ति निकलती है तो व्यक्ति केवल कर्ममय और प्रवृत्तिमय बन जाता है, फिर उसके लिए कर्म साध्य बन जाता है, साधन नहीं रहता। कर्म साधन है। वह हमारे जीवन का साध्य नहीं है।

प्रवृत्ति हमारे जीवन-यात्रा का साधन है, साध्य नहीं है, किंतु जब प्रवृत्ति में से प्रवृत्ति निकलती है, कर्म में से कर्म निकलता है तब प्रवृत्ति और कर्म साध्य बन जाते हैं, साधन नहीं रहते। इतना ही अंतर है कि ध्यान करने वाला व्यक्ति कर्म और प्रवृत्ति को साधन मानता है जीवनयात्रा का और ध्यान नहीं करने वाला व्यक्ति कर्म और प्रवृत्ति को साध्य मानने लग जाता है। जीवन में एक बहुत बड़ी भ्रांति आ जाती है।

हम जीवन की सचाई को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में पदार्थ पर बहुत खोजें हुई हैं और आज भी खोज चालू है। पदार्थ की प्रकृति को, पदार्थ के अस्तित्व के कण-कण को छाना जा रहा है। सारी खोज पदार्थ पर हो रही है और पदार्थ की खोज के बहुत सारे नियम बन चुके हैं। वैज्ञानिक खोज के बाद एक धारणा बहुत ही स्पष्ट रूप से बन गई है कि पदार्थ है, ज्ञेय है, विषय है, किंतु पदार्थ से परे कोई ज्ञेय नहीं है, विषय नही है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, पदार्थ और पदार्थातीत सत्ता–ये दो बातें हैं।

वैज्ञानिक खोजों के पश्चात् यह धारणा अत्यंत पुष्ट हो गई है कि केवल पदार्थ है, परमाणु है, परमाणुओं के स्कंध हैं, किंतु उनसे परे कोई स्वतंत्र चेतना नाम की सत्ता नहीं है। स्वतंत्र ज्ञाता का कोई अस्तित्व नहीं है। आज पदार्थ इतना प्रधान बन गया है कि मनुष्य का अस्तित्व उसके सामने विलीन होता जा रहा है। मनुष्य गौण हो गया, पदार्थ मुख्य बन गया। पदार्थ सिंहासन पर बैठ गया और मनुष्य उसके सामने हाथ जोड़े चरणों में बैठ गया। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि वैज्ञानिक खोज कर रहे हैं उपकरणों के माध्यम से, यंत्रों के माध्यम से, भौतिक साधनों के माध्यम से। जो व्यक्ति साधनों के माध्यम से खोज करेगा, वह पदार्थ तक ही पहुंच पाएगा, आत्मा तक उसकी पहुंच नहीं

हो सकती। ये सारे आत्मा तक पहुंचने के साधन नहीं हैं। पौद्गलिक साधनों के द्वारा पौद्गलिक सत्ता को ही जाना जा सकता है, आत्मिक सत्ता को नहीं जाना जा सकता।

पौद्गलिक सत्ता को जानने के लिए जितने नियम वैज्ञानिकों ने बनाए हैं और जो नियम काम में लिए जा रहे हैं, वे पदार्थ की व्याख्या कर सकते हैं, किसी चेतन सत्ता की व्याख्या नहीं कर सकते। चेतन सत्ता उनका विषय भी नहीं बनती।

वैज्ञानिक जगत ने चेतन सत्ता को नकारा है। उस अस्वीकार के कारण आज हमें ध्यान की उपयोगिता बस इतनी ही लगती है कि उससे तनाव कम होता है, शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है, आदि-आदि। बस ध्यान की उपयोगिता समाप्त। ध्यान से स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव कम होते हैं, स्वास्थ्य सुधरता है, रक्तचाप में अंतर आता है, यदि ध्यान का केवल यही उद्देश्य हो तो ध्यान की यात्रा बहुत छोटी होगी, उसकी उपयोगिता सीमित हो जाएगी। तब ध्यान हमारे लिए शरीर को पुष्ट और स्वस्थ करने वाला एक साधन मात्र होगा। इससे ज्यादा उसको कोई मूल्य नहीं मिलेगा, किंतु हमने ध्यान का जो उपक्रम प्रारंभ किया है, वह कुछ विशिष्ट उद्देश्य से किया है। उसमें शारीरिक स्वास्थ्य भी एक है।

शारीरिक स्वास्थ्य भी कम मूल्यवान नही है, किंतु शरीर से ज्यादा जिसका मूल्य है, उसके मूल्य को मैं कम करना नहीं चाहता। सबसे अधिक मूल्यवान है अपने अस्तित्व का बोध। जब तक अस्तित्व का बोध नहीं होता, तब तक स्वास्थ्य का प्रश्न जटिल ही बना रहेगा। हम इस बात को ही मानकर न चलें कि स्वास्थ्य का संबंध केवल परिस्थिति, मौसम या कीटाणुओं से ही है। स्वास्थ्य का प्रश्न बहुत गहरे में जुड़ा हुआ है।

जब तक व्यक्ति अपने अस्तित्व का बोध नहीं कर लेता, तब तक स्वास्थ्य की समस्या को भी नहीं सुलझा सकता। सारी बीमारियां मिथ्या दृष्टिकोणों के कारण आती हैं। जब तक मिथ्या दृष्टि समाप्त नहीं होती, तब तक दुःख समाप्त नहीं हो सकते। दुःखों को समाप्त करने का एकमात्र साधन है सत्य की उपलब्धि, अस्तित्व की उपलब्धि। जब सत्य उपलब्ध होता है तब दुःखों के उन्मूलन की प्रक्रिया चालू हो जाती है। अंत में उसका फलित होता है कि सारे दुःख उन्मूलित हो जाते हैं। साधक को **सव्वदुक्खपहीणमग्गं**–दुःखों को प्रक्षीण करने का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

जड़ तक पहुंचें

आज तक जिन लोगों ने दुःखों का उन्मूलन किया है, उन्होंने सत्य को उपलब्ध किया था। जिन्होंने सत्य को उपलब्ध नहीं किया, वे दुःखों से मुक्त नहीं हुए। हो सकता है कि पत्तों और फूलों को तोड़कर यह मान लिया कि वृक्ष की जड़ें ही उखाड़ डालीं। यह भ्रांति है, किंतु फूलों, फलों और पत्तों को तोड़ने मात्र से बात समाप्त नहीं होती। हमें भ्रांति की जड़ों को उखाड़ फेंकना होगा तभी दुःख समाप्त हो सकेंगे।

मनुष्य जड़ की बात ही नहीं सोचता। वह केवल ऊपर की बात ही सोचता है। जो ऊपर दिखाई देता है, वह उसी की व्याख्या करता है, भीतर की व्याख्या नहीं करता, इसलिए बहुत सारी समस्याएं पलती हैं। मनुष्य ध्वज होना चाहता है, नींव का पत्थर होना नहीं चाहता। मनुष्य पत्तों को देखता है, जड़ को नहीं देखता। जब तक जड़ को, नींव के पत्थर को नहीं देखा जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

जो मूलभूत समस्या है, वह है अस्तित्व की समस्या। सारे दुःखों की यह जननी है। सबकुछ यहीं से आ रहा है। रोग एक दुःख है, मौत एक दुःख है। मौत इतना दुःख नहीं है, जितना दुःख मौत का भय है। जन्म इतना दुःख नहीं है, जितना दुःख जन्म का भय है। रोग इतना दुःख नहीं है, जितना दुःख रोग का भय है। इस प्रकार हम जाने-अनजाने एक प्रकार के अज्ञात भय से आक्रांत हो जाते हैं और वह भय हमें निरंतर सताता रहता है। बड़ी से बड़ी घटना घटित हो और हम अपने मन को उसके साथ नहीं जोड़ते हैं, अपने संवेदन को नहीं जोड़ते हैं तो कोई दुःख नहीं होगा।

दुःख और संवेदन

एक मार्मिक घटना है। पिता को परदेश गए बारह वर्ष हो चुके थे। घर की याद सताने लगी। वह घर के लिए रवाना हुआ। बारहवर्षीय पुत्र भी पिता की खोज में निकला। संयोग ऐसा मिला कि एक ही धर्मशाला में दोनों ठहरे। दोनों एक दूसरे से अपरिचित। रात को पुत्र के पेट में भयंकर दर्द उठा। वह चिल्लाने लगा। पिता पास के कमरे में सो रहा था। चिल्लाहट के कारण उसकी नींद बार-बार टूट रही थी। उसने अपने सेवक से कहा–'जाओ, उस चिल्लाहट को बंद करो।' सेवक गया। बच्चे के साथ भी नौकर था। उनको सेठजी की बात कही। उन्होंने कहा–बच्चा है। पेट में भयंकर पीड़ा है। पीड़ा शांत होते ही स्वतः चुप हो जाएग। पेट का दर्द बढ़ता ही गया। सेठ झल्ला उठा। उसने

अपने सेवकों को आदेश दिया कि जाओ, जो चिल्ला रहा है, उसे धर्मशाला से बाहर निकाल दो। दो सेवक गए और उस बच्चे को सामान सहित धर्मशाला से बाहर निकाल दिया। दर्द बढ़ा और बालक एक घंटा के भीतर-भीतर मर गया। चिल्लाहट शांत हो गई। सेठ ने सुख की नींद ली।

सेठ को जब पता चला कि वह मर गया तब उसने जानना चाहा कि वह कौन था? कहां से आया था? सेठ स्वयं बाहर गया। नौकरों से पूछताछ की, तो पता चला कि वह उनका ही लड़का था। अब सेठ के प्राण बाहर निकलने लगे। अरे! मेरा लड़का! पहले तो वह चिल्ला रहा था और अब सेठ चिल्लाने लगा। बच्चा चिल्ला रहा था तब उसे शांत करने वाला सेठ था और सेठ चिल्ला रहा था तब उसे शांत करने वाला कोई नहीं था। प्रश्न है कि दुःख कहां से आया? क्या वह लड़का मर गया, इसलिए सेठ दुःखी हुआ? यदि लड़के के मरने पर सेठ दुःखी होता तो वह दस मिनट पहले ही दुःखी हो जाता। मरने पर उसे कोई दुःख नहीं हुआ, उसे बाहर निकाला तब भी उसे कोई दुःख नहीं हुआ। बच्चे के प्रति कोई सहानुभूति नहीं, संवेदना नहीं, सहयोग नहीं। केवल अपने अहं का प्रदर्शन करना चाहता था और वह सोच रहा था कि नींद खराब न हो जाए, पर उसे जैसे ही पता चला कि यह मेरा लड़का है, उस पर एक साथ ही दुःख का पहाड़ टूट पड़ा।

जब घटना के साथ मन जुड़ता है, प्रियता और अप्रियता के संवेदन की अनुभूति जुड़ती है तब अकस्मात् सुख या दुःख का अनुभव होता है। हमारे दुःख का मूल परिस्थिति नहीं है, पदार्थ नहीं है, घटना नहीं है। ये सब निमित्त बन सकते हैं, किंतु जहां सुख और दुःख पैदा होता है, वह सारा चेतनशक्ति की अनुभूति में पैदा होता है। हमने अनुभूति को निकाल दिया, केवल परिस्थितिवाद और घटनाचक्र पर आरोपित कर दिया, केवल पदार्थ पर सारा आरोपित कर दिया। जब तक मिथ्यादृष्टि समाप्त नहीं होती, तब तक दुःख के कारणों को समाप्त नहीं किया जा सकता, दुःख के उपादान को समाप्त नहीं किया जा सकता और दुःख की जड़ का उन्मूलन नहीं किया जा सकता।

ध्यान का उद्देश्य है ज्ञाता को जानना

सम्यग्दृष्टि का अर्थ है—मन को प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त करना। जब तक हमारा मन प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त नहीं होता, तब तक हमें सम्यग्दृष्टि उपलब्ध नहीं हो सकती। हम बड़े-बड़े शास्त्रों को रट लें, तत्त्वों के नाम याद कर लें, ग्रंथों का पारायण कर लें, फिर भी

हमें सम्यग्दृष्टि उपलब्ध नहीं हो सकती। यदि हम इस प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त नहीं हैं, यदि हमारा यह संवेदन समाप्त नहीं होता है तो हमें सत्य उपलब्ध नहीं होगा और सत्य के उपलब्ध न होने पर दुःखों को समाप्त करने का कोई उपाय उपलब्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व, सत्य सब एक ही हैं। सत्य हमें तब उपलब्ध होता है जब हम मूल सत्ता को जानें, अस्तित्व को जानें। ध्यान इसलिए कर रहे हैं कि हम ज्ञाता को जानें, विषयी को जानें, द्रष्टा को जानें। द्रष्टा, ज्ञाता और विषयी–जो पर्दे के पीछे चला गया, हम उसका अनुभव करें। एक वैज्ञानिक उसे नहीं जान सकता, एक ध्यानी उसे जान सकता है। ध्यान के सारे नियम ज्ञाता तक पहुंचने के नियम हैं। वैज्ञानिकों के पास ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे वह उसकी परम सत्ता को जान सके। ध्यानी जिन विषयों के आधार पर चलता है, अपने संवेदनों को शुद्ध करता चलता है, अपने भोक्ता स्वरूप को छोड़ता चलता है, उसे ज्ञाता स्वरूप का साक्षात् हो जाता है। सुख-दुःख का अनुभव उसे होता है, जो भोक्ता होता है। भोक्ता वह होता है, जो प्रियता और अप्रियता का अनुभव करता है।

पदार्थ को केवल पदार्थ के रूप में देखें

जो ज्ञाता होता है, वह घटना को जानता है, भोगता नहीं। उसका काम है केवल जानना। जहां केवल जानने की बात आती है, वहां ज्ञान शुद्ध हो जाता है, संवेदन शुद्ध हो जाता है, फिर केवल पदार्थ रहता है, कोरा पदार्थ, कोरी सत्ता। हम पदार्थ को पदार्थ रूप में नहीं जानते, किसी विशेषण के साथ जानते हैं। हम परमाणु को परमाणु की दृष्टि से, सर्दी को सर्दी की दृष्टि से, गर्मी को गर्मी की दृष्टि से नहीं जानते। सर्दी का मौसम है और कमरे में यदि हीटर लगा हुआ हो तो लगेगा हीटर बहुत मूल्यवान है।

जेठ की दुपहरी, चिलचिलाती धूप में यदि कोई कमरे में हीटर लगा दे तो लगेगा हीटर जैसी निकम्मी वस्तु दूसरी नहीं है। हीटर का अपना कोई मूल्य नहीं है। हीटर न अच्छा होता है और न बुरा होता है। गर्मी के दिनों में बर्फ अच्छी लगती है और सर्दी के दिनों में वह अच्छी नहीं लगती। बर्फ न अच्छी है और न बुरी। पदार्थ का ठंडा होना भी एक पर्याय है और गर्म होना भी एक पर्याय है।

जो व्यक्ति भोक्ता है, प्रियता और अप्रियता के संवेदन को अपने साथ जोड़े हुए है तो उसे गर्मी में ठंडी वस्तु अच्छी लगेगी और सर्दी में गर्म वस्तु अच्छी लगेगी। यह अच्छा-बुरा लगना पदार्थ का गुण नहीं, धर्म नहीं और

अस्तित्व नहीं, यह मात्र व्यक्ति के मन का संवेदन है। जब तक मन के साथ यह लगना जुड़ा होता है, जब तक मन के साथ 'प्रतिभाती' जुड़ी होती है, तब तक पदार्थ को पदार्थ की आंख से नहीं देखा जाता, प्रियता और अप्रियता की आंख से ही देखा जाता है। जब तक प्रियता और अप्रियता का चश्मा लगा रहेगा, तब तक पदार्थ जैसा है वैसा नहीं दीखेगा, किंतु जैसा चश्मा है वैसा ही दीखेगा। हमें केवल चश्में को उतारना है। चश्में के कारण आंख भी प्रियता की आंख और अप्रियता की आंख बन गई है। इस चश्में को हम उतार फेंके। पदार्थ को केवल नंगी आंखों से देखें, पदार्थ की दृष्टि से देखें। यह होगी सम्यग्दृष्टि, सम्यक् दर्शन, सम्यक्त्व।

अपने अस्तित्व में होना

जब सम्यक् दर्शन होगा तब घटना घटना रहेगी, चेतना चेतना रहेगी। घटना न सुख देगी और न दुःख देगी। सुख की चेतना और दुःख की चेतना–ऐसा भी घटित नहीं होगा। आज हमारी चेतना शुद्ध चेतना नहीं है और घटना को प्रभावित कर रही है। घटना न शुद्ध घटना है और न अशुद्ध। घटना चेतना को प्रभावित कर रही है और चेतना घटना को प्रभावित कर रही है। घटना और चेतना–दोनों में इतने विकार पैदा हो गए हैं कि कोई शुद्ध नहीं रहा। घटना भी शुद्ध नहीं रही और चेतना भी शुद्ध नहीं रही। न आटा आटा रहा और न नमक नमक। दोनों का मिश्रण हो गया। आज अ-मिश्रण है क्या? लोग बाजार की मिलावट की बात करते हैं, किंतु दृष्टिकोण के मिलावट की बात नहीं करते। कितना आश्चर्य! बेचारे व्यापारी कितनी मिलावट कर पाते हैं, किंतु आदमी जागने से लेकर सोने तक मिलावट ही मिलावट करता है। हम मिलावट को छोड़कर पदार्थ को पदार्थ की दृष्टि से देखें। ध्यान के द्वारा आपको जो उपलब्ध होगा, वह विशुद्ध तत्त्व प्राप्त होगा, न पदार्थ समाप्त होगा और न चेतना समाप्त होगी। समाप्त किसी को नहीं करना है, बनाए रखना है।

एक बार एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से कहा-'महाराज! आप मूर्तियों को समाप्त कर रहे हैं, उठा रहे हैं।' आचार्य भिक्षु ने कहा–'मैं कौन हूं मूर्तियों को समाप्त करने वाला, मूर्तियों को उठाने वाला। मैं तो मूर्ति को मूर्ति मानता हूं, चेतना को चेतना मानता हूं और जड़ को जड़ मानता हूं और कुछ नहीं करता।' ध्यान के द्वारा आपको और कुछ नहीं करना है। न पदार्थ को छोड़ना है और न अपने आपको छोड़ना है। केवल इतना ही करना है कि हम पदार्थ को पदार्थ के रूप में जानें और अस्तित्व को अस्तित्व के रूप में जानें। वास्तव में

करना कुछ भी नहीं है। सचाई का नाम ही है, नहीं करना। सचाई का नाम ही है कि जो जैसा हो, उसे वैसा जानें। अपने अस्तित्व में होना सचाई है।

परिवर्तन पर्याय का

करने वाला कौन है? करने वाला कोई नहीं है। यह सारा उपचार है। पदार्थ होता है। दूसरा केवल निमित्त बनता है और वह मान लेता है कि मैंने बहुत बड़ा काम कर लिया। हम सब निमित्त हैं। कोई व्यक्ति उपादान नहीं बनता। कोई भी व्यक्ति इतना सक्षम नहीं है कि वह उपादान को बदल दे। ईश्वर में भी शक्ति नहीं है। न वैज्ञानिक उपादान को बदल सकता है और न ध्यान योगी उपादान को बदल सकता है। यह सारा नाटक निमित्तों का है। हम निमित्तों का अभिनय करते चले जा रहे हैं और उसमें अपने कर्तृत्व को मानते चले जा रहे हैं। हमारा सारा कर्तृत्व निमित्तों का कर्तृत्व है, उपादान का कर्तृत्व नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति अचेतन को चेतन बना दे या चेतन को अचेतन बना दे तो मानना होगा कि उसने उपादान का परिवर्तन किया है, पर ऐसा न हुआ है और न होगा। आज के वैज्ञानिक जो जीन्स बनाते हैं, वे मात्र पर्यायों के परिवर्तन हैं, व्यवस्था का परिवर्तन है। उपादान का परिवर्तन नहीं है। आज संकर बाजरा, कलमी आम होते हैं। ये दो नस्लों के संयोग से तीसरी जाति का उत्पादन है। खच्चर वह भी एक तीसरी जाति है। वह न घोड़ा है और न गधा। खच्चर तीसरी जाति का पशु है। सर्वत्र मिश्रण ही मिश्रण। वनस्पति में मिश्रण, पशुओं में मिश्रण। क्या यह सब उपादान का परिवर्तन है? नहीं, यह केवल निमित्तों का ही परिवर्तन है। न चेतना में परिवर्तन हुआ है और न पदार्थ के पुद्गल में परिवर्तन हुआ है। केवल संयोग के परिवर्तन से यह घटित होता है। उपकरणों में परिवर्तन हो जाता है। रस और गंध में परिवर्तन हो जाता है। एक ही लता पर सफेद फूल भी आते हैं और पीले फूल भी आते हैं। सफेद फूल वाली और पीले फूल वाली–दो भिन्न-भिन्न लताओं से यह बेल निर्मित हुई है। यह एक तीसरी जाति बन गई। यह भी उपादान का परिवर्तन नहीं है। केवल निमित्तों का परिवर्तन है। हमारे शरीर, मस्तिष्क, इन्द्रिय तथा बुद्धि के जितने परमाणु हैं, उनमें थोड़ा-सा परिवर्तन किया जाए तब सबकुछ बदल सकता है। रंग और आकार बदल सकता है, गंध और रस बदल सकता है। इसे उपादान का परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

चेतन को जानने का उपाय

डॉ. इरविन, डॉ. स्वेडिन जेम्स कहते हैं–'जो भौतिकी वैज्ञानिक हैं, वे इस बात में उलझे हुए हैं कि पदार्थ का मूल कण क्या है? केवल इस बात को ही सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं।' यह कोई बहुत महत्त्व का प्रश्न नहीं है। मूल गुत्थी यह है कि पदार्थ का मूल चेतन है या अचेतन? चेतन या अचेतन की पारस्परिक गुत्थी को कैसे सुलझाया जा सकता है? यह विज्ञान के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। विज्ञान ज्ञाता के बारे में अभी भ्रांत है। उसके सामने प्रश्न है कि चेतन की सत्ता है या नहीं?

वर्तमान में पदार्थ के विषय में अनेक दृष्टियां स्पष्ट हुई हैं, किंतु चेतन के विषय में अब भी उलझनें हैं। ये उलझनें समाप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि चेतन को जानने का एक मात्र उपाय है स्वयं का अनुभव, अपने संवेदनों का निर्मलीकरण और ऊर्ध्वीकरण। जब तक हम अपने संवेदनों को निर्मल नही करेंगे, राग-द्वेष और मूर्च्छा का जीवन जीएंगे, तब तक आत्मा के बारे में धारणा सही नहीं होगी, तब तक ज्ञाता के विषय में नहीं जाना जा सकेगा। आज धार्मिक लोग आत्मा के प्रश्न को शास्त्रों के माध्यम से हल करना चाहते हैं, तर्क के द्वारा समाधान देना चाहते हैं, आत्मा को वाचिक प्रयत्नों के द्वारा, वाङ्मय के द्वारा जानना चाहते हैं। एक ओर यह कहा जाता है कि आत्मा तर्कातीत, पदातीत और शब्दातीत सत्य है, दूसरी ओर हम उसे तर्क के द्वारा, पद के द्वारा और शब्द के द्वारा पाना चाहते हैं, यह कितना विरोधाभास है। जो तर्कातीत है, वह तर्क के द्वारा नहीं पाया जा सकता है। जो पदातीत है, वह पद के द्वारा नहीं पाया जा सकता । जो शब्दातीत है, वह शब्द के द्वारा नहीं पाया जा सकता। ऐसी स्थिति में हम उस परम सत्ता को इन माध्यमों से कैसे जान सकते हैं, पा सकते हैं?

कैसे मूल तक पहुंचें?

आत्मा को हम स्वयं खोजें। हम केवल शास्त्रों पर निर्भर न रहें, केवल मान्यताओं पर निर्भर न रहें, किंतु स्वयं आत्मा को खोजें। जब तक हम स्वयं नहीं खोजेंगे, तब तक पता नहीं चलेगा। शास्त्रों में लिखा है कि आत्मा है, यह हमारे लिए शाब्दिक सचाई है। ध्यान का प्रयोग किया, अपनी अंतश्चेतना को जगाया, साक्षात्कार किया और जाना कि आत्मा है तब वह अपनी सचाई बन जाती है, अनुभव की सचाई बन जाती है, किंतु शब्दों को पढ़ने वालों के लिए वह केवल शाब्दिक सचाई ही बनी रहती है। बच्चा जल में प्रतिबिंबित चांद को

देखता है और उसे पकड़ने का प्रयत्न करता है। वह मूल चांद नहीं है, उसका केवल प्रतिबिंब है। शब्द भी उस आत्मा का वाचक है, प्रतिबिंब को ही देखते रहेंगे तो हमें प्रतिबिंब ही हाथ लगेगा, मूल नहीं मिलेगा।

सत्य को खोजने का अर्थ ही है कि हम प्रतिबिंब पर न अटकें, आगे बढ़ें और मूल तक पहुंचने का प्रयत्न करें। यह हो सकता है कि जिसने आकाश में कभी चांद को नहीं देखा, उसमें प्रतिबिंब को देखकर जिज्ञासा जाग जाए कि मूल क्या है? इसी प्रकार जिसने आत्मा को न जाना हो, वह शास्त्रों में आत्मा शब्द को पढ़कर यह जानने का प्रयत्न करे कि यह क्या है? मूल क्या है? तो मैं कह सकता हूं कि उस प्रतिबिंब ने उसमें जिज्ञासा उभारी है। ऐसा होता है तो वह उस सीमा तक उचित है, किंतु प्रतिबिंब को ही सबकुछ मानकर बैठ जाना, मूल की जिज्ञासा ही न होना, उचित नहीं है।

ध्यान के द्वारा हम प्रतिबिंब की दुनिया से हटकर मूल तक पहुंच सकते हैं। यह एक सशक्त माध्यम है। आज सबसे बड़ी समस्या है प्रतिबिंब की समस्या। हम प्रतिबिंबों की छाया पर ही अपनी यात्रा चला रहे हैं। मूल बेचारा कहीं पड़ा है। बिंब कहीं पड़ा है और प्रतिबिंब पूजा जा रहा है।

एक मार्मिक कहानी है। एक कलाकार ने अपनी सारी बुद्धि लगाकर एक चित्र बनाया। उसमें उसने एक ग्रामीण महिला को चित्रित किया था। चित्र अत्यंत स्वाभाविक था। ग्रामीण महिला सुंदरता की प्रतिमूर्ति थी। सहज सौंदर्य, प्राकृतिक सौंदर्य। शहर में चित्रों की प्रदर्शनी लगी थी। उसमें वह चित्र भेजा गया। हजारों की भीड़। चित्रों की बिक्री प्रारंभ हुई। महिला के उस चित्र पर पचास हजार की बोली लगी। एक व्यक्ति ने उसे खरीद लिया। वह चित्र को लेकर प्रदर्शनी से बाहर निकला। एक स्त्री दरवाजे पर बैठी बिलख रही थी। वह पांच, दस पैसों की भीख मांग रही थी। पचास हजार में चित्र को खरीदने वाले ने उस महिला को दुत्कार दिया। महिला ने चित्र देखा, वह स्तब्ध रह गई। वह चित्र उसी महिला का था। बिंब पांच, दस पैसों के लिए रो रहा है और प्रतिबिंब बिक रहा है पचास हजार में। कैसी बिडंबना!

ध्यान के अतिरिक्त ऐसा कोई माध्यम नहीं है, जो प्रतिबिंबों से हटाकर मूल तक पहुंचा दे। प्रतिबिंब को बिंब का मूल्य नहीं दिया जा सकता। बिंब बिंब होता है और प्रतिबिंब प्रतिबिंब।

11. तनाव और ध्यान (1)

हम सत्य की खोज के लिए ध्यान कर रहे हैं। सत्य की खोज दो साधनों से हो सकती है। एक साधन है तर्क और दूसरा साधन है अनुभव या साक्षात्कार। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं– हेतुगम्य और अहेतुगम्य। दूसरे शब्दों में– तर्कगम्य और तर्कातीत। पदार्थ के दो स्वरूप हैं–स्थूल और सूक्ष्म। पदार्थ के स्थूल पर्याय हमारी इन्द्रियों, मन और बुद्धि के विषय बनते हैं।

तर्क के द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है, किंतु पदार्थ का जो सूक्ष्म स्वरूप है, तर्कातीत स्वरूप है, वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि का विषय नहीं बनता। सूक्ष्म पर्याय तर्कातीत होते हैं। वे इन्द्रिय, मन और बुद्धि से नहीं पकड़े जा सकते।

दर्शन अनुभवगम्य है

मध्यकाल में दर्शन का स्वरूप बदल गया। उस पर तर्क हावी हो गया और यह मान लिया गया कि दर्शन को तर्क द्वारा ही समझा जा सकता है। दर्शन और तर्क–दोनों पर्यायवाची जैसे बन गए, किंतु तर्क दर्शन का बहुत छिछला भाग है।

समुद्र के तट को पूरा समुद्र नहीं कहा जा सकता। वह समुद्र का छिछला भाग है, जहां सीपियां ही उपलब्ध होती हैं। समुद्र की गहराई में रत्न मिलते हैं। दर्शन की गहराई तर्क से नहीं नापी जा सकती। तर्क के द्वारा दर्शन की व्याख्या नहीं की जा सकती।

दर्शन का एक उथला भाग स्थूल पर्यायों को अभिव्यक्ति देता है। वह भाग भले ही तर्क के द्वारा समझा जा सकता हो, किंतु सूक्ष्म पर्याय की अभिव्यंजना तर्क के द्वारा नहीं हो सकती। वह केवल अनुभव के द्वारा हो सकती है।

मध्यकाल की धारणा ने हमारी अनुभव की चेतना को सुला दिया। हम केवल तर्क के मंथन में ही उलझ गए। स्व-अनुभव और प्रयोग-परीक्षण की बात पीछे ही छूट गई, विस्मृत हो गई।

दर्शन से भिन्न नहीं है विज्ञान

विज्ञान ने इसीलिए विकास किया कि वह केवल सिद्धांत के आधार पर नहीं चला, केवल तर्क के आधार पर नहीं चला। उसने सिद्धांत और तर्क का सहारा लिया, किंतु उस पर ही आधृत नहीं रहा। दर्शन इसलिए कोई नई देन नहीं दे सका, क्योंकि वह केवल तर्क के सहारे चलता रहा। उसने केवल शास्त्र, वाङ्मय और सिद्धांत का ही सहारा लिया। आज के विज्ञान की दौड़ में दर्शन बहुत पीछे रह गया। वास्तव में दर्शन और विज्ञान दो नहीं हैं। विज्ञान दर्शन से भिन्न नहीं है और दर्शन विज्ञान से भिन्न नहीं है। दर्शन पिता है तो विज्ञान उसका पुत्र है। पिता पुत्र से या पुत्र पिता से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता, किंतु आज वे सर्वथा भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा नहीं है कि इनमें केवल दो पीढ़ियों का ही अंतराल है, किंतु ऐसा लगता है कि मानों दोनों का स्वतंत्र मार्ग है। उनमें कोई भाईचारा नहीं, कोई संबंध नहीं है। पिता पुत्र का संबंध तो है ही नहीं।

दर्शन का विकास अवरुद्ध क्यों?

आज दर्शन को नया आयाम देने की जरूरत है। यदि उसको नया आयाम नहीं दिया जाएगा तो दर्शन सर्वथा प्रयोगशून्य और अर्थशून्य बन जाएगा। मैं स्वयं दर्शन के ग्रंथ लिखता रहा, दर्शन पर चिंतन-मनन करता रहा, किंतु वह सारा का सारा तर्क की सीमा में था। तर्क की परिक्रमा किए हुए था। तर्क की सीमा को लांघकर स्वयं के अनुभव की बात कह सकूं, ऐसा नहीं हुआ। ऐसा लगता भी नहीं था कि इस तर्क-सीमा का अतिक्रमण करना चाहिए, किंतु जब अध्यात्म की सीमा में प्रवेश कर अनुभव किया तब लगा कि जो दर्शन लिखा जा रहा है, वह दर्शन नहीं है, किंतु वह मात्र शास्त्रों का और ग्रंथों का समाकलन या वर्तमान की भाव-भाषा में प्रस्तुतीकरण है।

इस संदर्भ में मुझे अनुभव हुआ कि दर्शन को नया आयाम मिलना चाहिए। वह मिल सकता है केवल अनुभव के धरातल पर, प्रयोग और परीक्षण के धरातल पर। जब से दार्शनिकों ने स्व-अनुभव और स्व संवेदन तथा प्रयोग और परीक्षण की बात छोड़ दी तब से दर्शन का विकास अवरुद्ध हो गया। उसका उन्मेष रुक गया। वह जहां था, वहीं रुक गया। ऐसी स्थिति में प्राचीन ग्रंथों की व्याख्या में भी कठिनाई होने लगी।

जरूरी है प्रयोग-प्रशिक्षण दर्शन के साथ

जैन सूत्रों में वनस्पति के जीवत्व-संबंधी अनेक चर्चा-स्थल हैं। इस विषय की विशद चर्चा अन्यत्र दुर्लभ है। आगमकार दार्शनिक थे, स्वयं द्रष्टा

थे। उन्होंने साक्षात्कार के आधार पर निरूपण किया। यह अनुभव की बात थी, केवल ज्ञान की बात नहीं थी। साक्षात्कार से उपलब्ध सत्य का निरूपण था, केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं था। वह उनका अपना 'स्व' था, किंतु आगम-व्याख्याकार तर्क के जगत में जन्मे थे। उनका अपना अनुभव नहीं था, उनका अपना संवेदन नहीं था। वनस्पति जैसे अव्यक्त चेतना वाले प्राणियों के साथ उनका साक्षात् संपर्क नही था, इसलिए साक्षात् द्रष्टाओं द्वारा निरूपित तथ्यों की व्याख्या में भी उन्हें कठिनाई महसूस होने लगी।

वनस्पति के जीवों में दो ज्ञान होते हैं–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। व्याख्याकारों को मतिज्ञान संबंधी व्याख्या में बहुत कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि वह ज्ञान इन्द्रिय चेतना से संबंधित है। इन्द्रिय चेतना वनस्पति में होती है। पांचों इन्द्रियां नहीं होती, फिर भी एक स्पर्शन इन्द्रिय तो होती ही है, इसलिए व्याख्याकारों ने संतोष किया कि उसमें स्पर्शन इन्द्रिय है तो मतिज्ञान को मानने में कोई आपत्ति नहीं है, किंतु जब प्रश्न उठा कि वनस्पति में श्रुतज्ञान भी है, तब उसकी व्याख्या कठिन हो गई। श्रुतज्ञान तब होता है जब भाषा हो, श्रोत्रेन्द्रिय हो, मन की विकसित अवस्था हो, किंतु वनस्पति में न भाषा है, न श्रोत्रेन्द्रिय है और न मन की विकसित अवस्था ही है। उसमें दीर्घकालिकी संज्ञा नहीं होती, जो अतीत और भविष्य का ज्ञान संकलित कर सके और वर्तमान में उपलब्ध ज्ञान की सामग्री को अतीत और भविष्य के साथ संकलित कर सके। यह क्षमता वनस्पति के जीवों में नहीं है। ऐसी स्थिति में उनमें श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है? उन्होंने तर्क का सहारा लिया और तर्क के द्वारा इस प्रस्थापना को सहारा देने का प्रयत्न भी किया। उनके पास बुद्धि बल था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वनस्पति में श्रुतज्ञान स्पष्ट नहीं है, फिर भी उसमें अस्पष्ट श्रुतज्ञान है।

वनस्पति में क्रोध की संज्ञा होती है, आहार की संज्ञा होती है, भय और मैथुन की संज्ञा होती है और परिग्रह की संज्ञा होती है। यह सारा कथन बुद्धि के बल पर, तर्क के बल पर था। इसमें साक्षात्कार जैसी बात नहीं थी। यदि दर्शन के साथ साक्षात्कार की प्रक्रिया जुड़ी होती, प्रयोग और परीक्षण की बात जुडी होती तो वे आचार्य वनस्पति के संबंध में उपलब्ध सामग्री के आधार पर और भी कुछ नया दे सकते थे। नया जोड़ सकते थे। आज वैज्ञानिक जितने तथ्य दे रहे हैं, उतने तथ्य वे ऋषि भी दे सकते थे, किंतु ऐसा इसलिए नहीं हो रहा है कि साक्षात्कार की प्रक्रिया छूट गई।

वर्तमान में हमारे पास शब्द, तर्क और चिंतन के सिवाय कोई ज्ञान नहीं है, जिससे साक्षात्कार की बात की जा सके। इससे हमारी चेतना कुंठित हो गई, दर्शन लंगड़ा बन गया, उसका एक पैर टूट गया या काट दिया गया। साक्षात्कार वाला पैर कट गया और तर्क वाला पैर लंगड़ाता-लंगड़ाता चलने लगा। सबसे शक्तिशाली पैर था अनुभव का। उसके कट जाने पर तर्क की बैशाखी के सहारे दर्शन चलता रहा। बैशाखी की अपनी मजबूती होती है। वह एक सीमित साधन है। उसके सहारे चलने वाला जल्दी थक जाता है। उसका पैर ही नहीं थकता, उसके कंधे और हाथ भी थक जाते हैं। दर्शन की यह स्थिति बन गई। वह लंगड़ा हो गया।

वैज्ञानिक प्रयोग

वैज्ञानिक जगत में जब यह स्थापना हुई कि वनस्पति सजीव है, उसमें चेतना है, तब से विविध प्रयोग और परीक्षण होने लगे। डॉ. जगदीशचन्द्र बोस से लेकर आज तक प्रयोग चलते रहे और प्रतिदिन नई-नई जानकारियां हस्तगत होती गईं, जिनकी सामान्य आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता। डॉ. वेकस्टर ने वनस्पति के विषय में बहुत प्रयोग किए। उसने यह स्थापना की कि वनस्पति में बहुत शक्तिशाली संवेदना होती है। वह मनुष्य के भावों को इतनी सूक्ष्मता से पकड़ सकती है, आदमी भी उनको इतनी सूक्ष्मता से नहीं पकड़ सकता। वह प्रयोग कर रहा था। एक दिन उसकी अंगुली कट गई। खून रिसने लगा। पौधे पर लगे गेल्वोनोमीटर की सूई तत्काल घूमी और पौधे ने अपनी व्यथा अंकित कर दी। उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर दी। डॉ. वेकस्टर यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने सोचा कि इस सूई के घूमने में कोई आकस्मिक घटना तो नहीं घटी है, फिर उसने प्रयोग किया। एक वटवृक्ष पर पोलीग्राफ लगा दिया। माली आया। वृक्ष ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। सूई नहीं घूमी। कंपन नहीं हुआ। इतने में ही एक लकड़हारा हाथ में कुल्हाड़ी लेकर आया। सारा वृक्ष कांप उठा। तत्काल सूई घूमने लगी। ग्राफ पर भय का अंकन हुआ। डॉ. वेकस्टर ने देखा। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वृक्ष ने कैसे पहचाना कि वह माली था, उसे पोषण देने वाला और दूसरा लकड़हारा था, उसे काटने वाला? तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

कनाडा की एक महिला डॉ. वेकस्टर से मिलने आई। वह शरीरशास्त्री थी। वह पौधों पर प्रयोग करती थी। वह पौधों को सुखाकर ही नहीं, भट्टी में भूनकर मार डालती थी। कई महीनों से यह प्रयोग चल रहा था। ज्योंही वह

डॉ. वेकस्टर के कमरे में आई, वहां के पौधों पर लगे गेल्वोनोमीटर की सूइयां घूमने लगीं। उनके अंकन से यह स्पष्ट हो रहा था कि सभी पौधे उस महिला की उपस्थिति में भयाक्रांत हो गए थे। डॉ. वेकस्टर ने देखा। उसने महिला से पूछा–'क्या तुम पेड़-पौधे के अहित का सोचती हो? महिला ने कहा–हां, मेरा प्रयोग ही ऐसा है कि मुझे पेड़-पौधों को जलाना होता है, काटना होता है। अभी भी मैं यह सोच रही थी कि पौधों को भूनकर उनका वजन लूं। जब तक वह महिला उस कमरे में रही, सूई घूमती रही और पौधे यह दिखाते रहे कि वे सब इस महिला से भयभीत हैं। जैसे ही वह कमरे से बाहर गई, मीटर की सूई स्थिर हो गई। पौधे शांत हो गए। भय निकल गया।

नाड़ी-संस्थान के साथ पौधों का संबंध

पेड़-पौधे मनुष्य की भावनाओं को बहुत सूक्ष्मता से पकड़ लेते हैं। रूस के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वी.एन. पुस्किन ने एक प्रयोग किया। तानिया नाम की एक सुंदर युवती को सम्मोहित किया और उससे अनेक प्रश्न पूछे। वह लड़की उत्तर देती गई। प्रश्नों की झड़ी लगा दी। लड़की प्रश्नों से बेचैन हो गलत उत्तर देने लगी। जैसे ही उसने गलत उत्तर दिया, पौलिग्राफ की सूई ने उसका तत्काल खंडन कर डाला। ग्राफ पर ऐसा अंकन हुआ कि उसमें सहज पता लग गया कि लड़की झूठ बोल रही है। पुस्किन ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के नाड़ी-संस्थान के साथ पौधों का गहरा संबंध है। ऐसे प्रयोग अनेक स्थानों पर हो रहे हैं। वनस्पति के विषय में अनेक नई-नई जानकारियां प्रकट हो रही हैं।

दोनों चेतन हैं

मनुष्य और वनस्पति–दोनों चेतन हैं। मनुष्य की चेतना विकसित है, संकल्प प्रस्फुटित है। उसकी इन्द्रियां स्पष्ट हैं, इन्द्रियों के संस्थान स्पष्ट हैं। मन का संस्थान बन गया। बुद्धि का केन्द्र बन गया। वनस्पति में ये सब नहीं हैं, किंतु जानने वाली जो आत्मा है, वह उसमें भी विद्यमान है। मनुष्य अपने विशिष्ट संरचित संस्थानों के द्वारा जानता है और वनस्पति अपने समूचे शरीर से जानती है। आत्मा समूचे शरीर में विद्यमान है। आत्मा समूचे शरीर के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करती है। भगवती सूत्र में बतलाया गया है कि **सव्वेणं सव्वे**–हमारी चेतना के असंख्य प्रदेश हैं।

प्रत्येक प्रदेश के द्वारा आत्मा जानती है। किसी एक ही प्रदेश से नहीं जानती। सब प्रदेशों से जानती है। आप यह न मानें कि हम आंखों से ही देख सकते हैं, मस्तिष्क से ही सोच सकते हैं। हम समूचे शरीर से देख सकते हैं,

सोच सकते हैं। एक्यूपंक्चर के वैज्ञानिकों ने हमारे शरीर में सात सौ चैतन्यकेन्द्र खोज निकाले हैं, जो मस्तिष्क में हैं, उनके संवादी केन्द्र अंगूठे में भी हैं। जो मस्तिष्क में हैं, उनके संवादी केन्द्र अंगुलियों में भी हैं। पीनिअल, पिट्यूटरी और थॉयराइड के जो स्थान हैं, वे स्थान हाथों और पैरों में भी हैं।

समूचा शरीर चेतना का केन्द्र है। उसमें जानने की अपार क्षमता है। कान ध्वनि पकड़ने के माध्यम हैं, किंतु जिनके कान नहीं हैं, वे समूचे शरीर से ध्वनि को पकड़ लेते हैं। शरीर की संवेदना इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि समूचे शरीर से वे ध्वनियों को पकड़ लेते हैं। ध्वनि को पकड़ने की जरूरत भी नहीं है। ध्वनि पकड़ने के माध्यम से कान को विकसित कर हमने ध्वनि को सीमित कर दिया। हम कानों पर इतने निर्भर हो गए कि हम केवल कानों से ही सुन सकते हैं। अतीन्द्रिय क्षमताएं विस्मृत हो गईं। ध्वनि तब होती है जब कोई बोलता है।

ध्वनि कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है तरंग। जो व्यक्ति तरंगों को, सूक्ष्म प्रकंपनों को पकड़कर जितना जान सकता है, उतना ध्वनि को सुनकर नहीं जान सकता। हम इन्द्रियों पर इतने निर्भर हो गए कि जब कानों में कोई शब्द पड़ता है तभी हम सुन सकते हैं। कान की क्षमता सीमित है। अमुक फ्रीक्वेंसी के शब्द ही सुन पाता है, पकड़ पाता है, किंतु जो व्यक्ति प्रकंपनों को पकड़ सकता है, वह सूक्ष्म ध्वनियों को पकड़ सकता है, जान सकता है।

संभिन्नस्रोतोलब्धि

तीर्थंकर जब बोलते हैं तब सुनने वाले उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं। पशु भी अपनी भाषा में समझ जाते हैं। यह कैसे होता है? इसके पीछे बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। तीर्थंकर बोलते नहीं, दिव्य ध्वनि निकलती है, यदि हम इस बात को मान लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर के वाणी के नहीं, मन के परमाणु निकलते हैं, उनमें स्पंदन होता है। उन स्पंदनों को लोग पकड़ते हैं और वे उनको अर्थ-बोध करा देते हैं। भाषा के पुद्गल पकड़े नहीं जा सकते, तरंगों को पकड़ा जा सकता है, स्पंदनों को पकड़ा जा सकता है। हमारे पास तरंगों को पकड़ने की क्षमता अधिक है, भाषा को पकड़ने की क्षमता कम है। जब हमने यह मान ही लिया कि कान ही सुनने का साधन है तब हमने अन्य क्षमताओं को विस्मृत कर दिया।

आज का विज्ञान कहता है कि कानों की अपेक्षा दांतों से अच्छा सुना जा सकता है। दांत सुनने के शक्तिशाली साधन हैं। यदि थोड़ा-सा यांत्रिक परिवर्तन किया जाए तो जितना अच्छा दांत से सुना जा सकता है, उतना अच्छा

कान से नहीं सुना जा सकता। एक लब्धि का नाम है–संभिन्नस्रोतोलब्धि। जो व्यक्ति इस लब्धि से संपन्न होता है, उसकी चेतना का इतना विकास हो जाता है कि उसका समूचा शरीर कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्श का काम कर सकता है। उसके लिए कान से सुनना या आंख से देखना आवश्यक नहीं होता। वह शरीर के किसी हिस्से से सुन सकता है, देख सकता है। वह पांचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से ले सकता है। उसके ज्ञान का स्रोत संभिन्न हो जाता है, व्यापक बन जाता है। समूचा शरीर संभिन्न हो जाता है, व्यापक हो जाता है।

दर्शन सक्षम बने

यह अनुभव का पक्ष है। यह तर्क का विषय नहीं बनता। दर्शन ने इसको भुला दिया। उसका परिणाम बहुत विपरीत हुआ। आज फिर से दार्शनिकों को, दर्शन के विद्यार्थियों को, धार्मिक और आध्यात्मिक लोगों को चिंतन करना चाहिए कि दर्शन को तर्क के कटघरे से निकालकर अनुभव के व्यापक क्षेत्र में कैसे लाया जा सकता है। दर्शन को हम अनुभव के साथ जोड़ने का प्रयत्न करें, जिससे दर्शन फिर पिता का स्थान ले सके और अपने पुत्र (विज्ञान) पर नियमन कर सके। नियमन इस अर्थ में कि आज के विज्ञान ने नए-नए सत्यों को खोजा है। उसने नए-नए पर्याय उद्घाटित किए हैं, नए-नए रहस्यों को अनावृत किया है। इस दिशा में वह बहुत सक्षम हुआ, किंतु जो मूल ज्ञाता है आत्मा, उसको मूल स्थान दिलाने में सफल नहीं हुआ है। वह भी भटका हुआ है।

जानने के बाद प्रत्याख्यान की बात आती है, छोड़ने की बात आती है। यह बात विज्ञान को भी आज उपलब्ध नहीं है। यदि दर्शन फिर सक्षम बन सके, तर्क और अनुभव–दोनों का उचित प्रयोग कर सके तो विज्ञान का पिता दर्शन पुनः शक्तिशाली हो सकता है। तब ही वह विज्ञान को नया आयाम दे सकता है। दर्शन के साथ स्व-अनुभव की बात जोड़ी जाए। विज्ञान का इतना विकास होने पर भी आदमी अशांति का अनुभव कर रहा है और अधिकाधिक तनावग्रस्त होता जा रहा है। विज्ञान के पास ऐसा कोई उपाय नहीं है कि वह आदमी को तनाव से सर्वथा मुक्त कर सके, किंतु दर्शन मनुष्य को तनाव मुक्त करने में सक्षम है। तर्कों से अनुप्राणित दर्शन यह नहीं कर सकता। यह वही दर्शन कर सकता है, जो अध्यात्म से अनुप्राणित है, स्वानुभव संरचित है। दर्शन के इस पक्ष को मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं।

जीव अव्यक्त है

जगत क्या है? द्रव्यों का समवाय ही जगत है। उस द्रव्य के समवाय में एक द्रव्य है–जीवास्तिकाय। जीवों का इतना बड़ा संघटन है कि जगत के आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जो जीवशून्य हो। समूचा जगत जीवों के समवाय से भरा पड़ा है। आकाश के एक-एक प्रदेश में असंख्य जीव हैं। मेरी अंगुली हिल रही है, यह शून्य आकाश में नहीं हिल रही है। इस अंगुली के आस-पास ही नहीं, भीतर भी असंख्य जीव बैठे हैं। आकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक कण में असंख्य जीव बैठे हैं। उनके चैतन्य के प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं।

तीन बातें हैं। द्रव्यमय संसार, द्रव्यों में जीवास्तिकाय और जीवास्तिकाय में एक जीव। एक जीव है, किंतु वह अव्यक्त है। हम अव्यक्त से व्यक्त जगत को जानना चाहते हैं। हम अव्यक्त सृष्टि की ओर चलना चाहते हैं। द्रव्य अव्यक्त, जीवास्तिकाय अव्यक्त और एक जीव भी अव्यक्त। तीनों ही हमारे सामने व्यक्त नहीं हैं। एक जीव है। उस जीव के आस-पास भाव-संस्थान हैं। एक भाव-संस्थान चेतना का निर्वहन करता है, चेतना की धारा को बाह्य जगत में संक्रांत करता है। एक वह भाव-संस्थान है, जो चेतना के साथ जुड़ी हुई प्रतिक्रियाओं के प्रवाह को इस जगत में प्रस्तुत करता है। इसका नाम है कर्म। दो प्रवाह हो गए। एक है चेतना का प्रवाह और दूसरा है चेतना की प्रक्रियाओं का प्रवाह। भाव-संस्थान से जुड़ा हुआ है कर्म, प्रतिक्रियाओं का संस्थान। उस कर्म से जुड़ा हुआ है मोह, मूर्च्छा। द्रव्य, जीवास्तिकाय, जीव, भाव और कर्म–यह सारा का सारा अव्यक्त संसार है। यह हमारे सामने व्यक्त नहीं है।

अब हम प्रेक्षाध्यान के माध्यम से व्यक्त के बिंदु पर आ रहे हैं, मूर्च्छा का हमें पता चलता है। इसे हम देख पाते हैं, अनुभव कर पाते हैं, किंतु मूर्च्छा भी पूरी व्यक्त नहीं है। मोहनीयकर्म भी पूरा व्यक्त नहीं है। मूर्च्छा के बाद आता है राग, थोड़ा व्यक्त होता है। मूर्च्छा से पैदा होता है राग। द्वेष का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। फ्रॉयड ने 'काम' (Sex) को प्राणिमात्र की मौलिक मनोवृत्ति माना है। राग और सेक्स (काम) में भाषा-भेद है, अर्थ-भेद नहीं है। फ्रॉयड ने जिस संदर्भ में 'काम' की व्याख्या की और आगम ने जिस संदर्भ में 'राग' की व्याख्या की, यदि हम संदर्भों को सही समझ लेते हैं तो दोनों में कोई अंतर नहीं आता। अंतर केवल इतना ही आता है कि फ्रॉयड का ज्ञान केवल सेक्स तक ही पहुंच पाया, आगे नहीं जा सका। आगमकार सूक्ष्मज्ञानी थे। उनका अपना

अनुभव था, साक्षात्कार था। वे राग तक पहुंच कर ही नहीं रुके, आगे बढ़े और द्रव्य तक पहुंच गए।

काम की वृत्ति को मूल मानकर मनुष्यों के व्यवहारों की व्याख्या करने में आज मनोविज्ञान के सामने अनेक कठिनाइयां हैं। वे कठिनाइयां इसलिए समाहित नहीं होती कि मनोविज्ञान के पास 'काम' सेक्स से आगे व्याख्या करने के बहुत स्पष्ट आधार नहीं हैं, सूत्र नहीं हैं, किंतु हमारे पास राग से पूर्व व्याख्या करने के बहुत स्पष्ट आधार हैं, सूत्र हैं। राग के पीछे मूर्च्छा है। मूर्च्छा के पीछे कर्म-शरीर है, कर्म है। कर्म के पीछे हमारा भाव-संस्थान है। भाव-संस्थान के पीछे चेतना का प्रहार है, इसलिए मनोविज्ञान के सामने आज जो-जो समस्याएं हैं, उन सब समस्याओं का समाधान करने वाले सूत्र और आधार हमें उपलब्ध हैं, पर मनोविज्ञान के पास ये साधन उपलब्ध नहीं हैं।

व्यक्त है क्रोध-चेतना

उधर हम काम से चले और इधर हम राग से चले। आगे दोनों विचारधाराएं समानांतर रेखाओं पर चलती हैं। राग से उत्पन्न होता है लोभ। लोभ से उत्पन्न होती है माया। माया से उत्पन्न होता है अहंकार और अहंकार से उत्पन्न होता है क्रोध। हमारे जगत की सबसे अधिक व्यक्त चेतना है क्रोध-चेतना। अहंकार-चेतना सबसे सूक्ष्म है और माया-चेतना उससे भी अधिक सूक्ष्म है, इसलिए माया का एक नाम है गूढ़, अस्पष्ट। लोभ-चेतना उससे भी सूक्ष्म है और राग-चेतना उससे भी सूक्ष्म है, अव्यक्त है। सर्वाधिक व्यक्त है क्रोध-चेतना। मनुष्य जब क्रोधी होता है तब उसके होठ फड़फड़ाने लगते हैं, आंखें तमतमा जाती हैं, भृकुटी तन जाती है, सारा शरीर कांपने लगता है, किंतु जब आदमी अहंकार करता है, माया करता है, लोभ में होता है तब कुछ भी पता नहीं चलता। शरीर पर इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। यह हमारा अव्यक्त जगत है। हम अव्यक्त से व्यक्त होते-होते जब क्रोध-चेतना पर आते हैं तब पूरे व्यक्त बन जाते हैं। हम अव्यक्त जगत से व्यक्त जगत की ओर चले और व्यक्त जगत तक पहुंच गए। हम द्रव्य जगत से चले और क्रोध की चेतना तक पहुंच गए। हमारे व्यक्तित्व का विस्तार हुआ और हमारा एक-एक पर्याय प्रकट होता चला गया, इसलिए आगमकारों ने क्रम दिया–क्रोध, मान, माया ओर लोभ। यह क्रम निरर्थक नहीं है। उन्होंने लोभ, मान, माया, क्रोध–यह क्रम क्यों नहीं रखा? शब्दों का क्रम ऐसे ही नहीं रख दिया जाता। हम गहराई से सोचें तो सचाई का पता लग सकता है। जब हम व्यक्त से अव्यक्त की ओर जाते हैं

तब पहले क्रोध आता है। क्रोध से चलेंगे तो अहंकार होगा। क्रोध अहंकार में विलीन हो जाएगा। अहंकार से चलेंगे तो अहंकार माया में विलीन हो जाएगा। माया से चलेंगे तो वह लोभ में विलीन हो जाएगी।

प्रश्न 1. भगवान महावीर की भाषा को सब अपने-अपने ढंग से समझ लेते थे। उन ध्वनि-तरंगों को समझने का उपाय क्या है?

उत्तर–तरंगों को समझने का वही उपाय है, जो हम कर रहे हैं। जब तक विचारों और संवेदनों पर नियंत्रण नहीं होगा, तब तक तरंगों की भाषा नहीं समझी जा सकेगी। हम इसलिए लेश्या की चर्चा कर रहे हैं। लेश्या की भाषा तरंगों की भाषा है। जो व्यक्ति लेश्या की भाषा को समझने लग जाता है, वह तरंगों की भाषा को समझ सकता है। जब तरंगों की भाषा मन की भाषा में, चित्रों की भाषा में आ जाती है तब हम उसे समझ सकते हैं। जब चित्रों की भाषा अक्षरों की भाषा में बदल जाती है तब हम अपनी चेतना को समझ सकते हैं, उसे ग्रहण कर सकते हैं। यदि हमें तरंगों का विकास करना है तो हमें लेश्या जगत में जाना होगा और लेश्या जगत में तभी जाया जा सकता है जब हम अपने विचारों और संवेदनों पर नियंत्रण करना सीख जाएं। हम श्वास को देखने का अभ्यास करते हैं। श्वास के सिवाय और कुछ न देखें, श्वास को ही देखें। यह संवेदन और विचारों के नियंत्रण का मार्ग है। यह अभ्यास जैसे-जैसे विकसित होगा, हम तरंगों की भाषा को समझने में भी उतने ही सक्षम होते जाएंगे।

प्रश्न 2. क्या महावीर के समय के सभी लोगों और पशु-पक्षियों में यह क्षमता थी?

उत्तर–टेढ़ा प्रश्न है। पशु-पक्षियों में संवेदनाओं को समझने की शक्ति मनुष्यों से अधिक विकसित है, क्योंकि वे अपने स्रोतों पर भरोसा नहीं करते, अपने समूचे शरीर पर भरोसा करते हैं। मनुष्य ने अपने स्रोतों पर अधिक भरोसा कर लिया, इसलिए समूचे शरीर से जानने की क्षमता को गंवा बैठा, किंतु कोई समर्थ योगी, अध्यात्म का समर्थ तेजपुंज होता है, उसके प्रकंपनों में इतनी क्षमता होती है कि वह अनेक व्यक्तियों की सोई हुई शक्तियों को जागृत कर देता है। उसमें केवल सुनने वाले की क्षमता का ही योग नहीं होता, उस साधक के परमाणुओं का भी बहुत बड़ा योग होता है, जो संप्रेषण कर रहा है।

प्रश्न 3. क्या सुषुम्ना की नाड़ी सीधी नहीं होती? क्या बिना सीधी हुए ध्यान नहीं होता?

उत्तर– सुषुम्ना का आकार बिल्कुल सीधा तो नहीं है, कुछ टेढ़ा-मेढा है। हम इसकी चिंता ही न करें। हम केवल इतना ध्यान रखें कि बैठते समय रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। पद्मासन इसके लिए अच्छा है। इस आसन में बैठने पर रीढ़ की हड्डी अपने आप सीधी बनी रहती है। इसी प्रकार अर्धपद्मासन, सिद्धासन आदि आसनों में बैठने से भी रीढ़ की हड्डी सीधी रह सकती है। हम झुककर न बैठें। झुककर बैठना साधारण-सी बात है। जब कभी सीधा बैठने की बात आती है तब लोग शिकायत करते हैं कि दर्द हो गया। दर्द हुआ नहीं, दर्द का पता चल गया। जो दर्द पाल रखा था, वह छुपा हुआ था, उसका पता लग गया।

मन के विकल्पों को शांत करने का यह सबसे सरल तरीका है कि हम चेतना को सुषुम्ना के मार्ग से ले जाएं। प्राण को उसी मार्ग से ऊपर-नीचे ले जाएं। चेतना जितनी आगे रहेगी, चंचलता बढ़ेगी, चेतना जितनी सुषुम्ना की ओर जाएगी, चंचलता घटेगी। चेतना को आगे-आगे रखने का अर्थ है फूलों को सींचना। चेतना को पीछे ले जाना, सुषुम्ना में ले जाने का अर्थ है जड़ को सींचना। हम स्वयं सोचें कि फूलों को सींचने से फूल हरे-भरे रहते हैं या जड़ को सींचने से।

12. तनाव और ध्यान (2)

हमारे सामने दो जगत हैं। एक है व्यक्त और दूसरा है अव्यक्त जगत। एक है स्थूल जगत और दूसरा सूक्ष्म जगत। हम दोनों अवस्थाओं में जीते हैं। कभी हम व्यक्त से अव्यक्त की ओर आते हैं और कभी अव्यक्त से व्यक्त की ओर आते हैं। कभी स्थूल अवस्थाओं की अनुभूति करते हैं और कभी सूक्ष्म अवस्थाओं में विहरण करने लग जाते हैं। जब व्यक्ति अव्यक्त से व्यक्त की ओर आता है तब एक नई अवस्था घटित होती है। व्यक्ति सामाजिक बन जाता है। जब व्यक्ति अव्यक्त अवस्था में ही रहता है तब वह व्यक्ति ही रहता है, सामाजिक नहीं बनता। हमारा कर्म शरीर, हमारी मूर्च्छा और हमारा भाव–यह अव्यक्त जगत है। वहां दूसरे से कोई संपर्क नहीं होता। व्यक्ति कर्म शरीर में जीता है। यह उसका व्यक्तिगत जीवन है। व्यक्ति भाव में जीता है। भाव व्यक्ति का वैयक्तिक स्वरूप है। मूर्च्छा भी वैयक्तिक है। जैसे ही व्यक्ति मूर्च्छा की सीमा का अतिक्रमण कर राग में प्रवेश करता है, राग की चेतना में आता है, वैसे ही वह व्यक्ति से सामाजिक बन जाता है।

सामाजिकता का पहला बिंदु है राग। जो राग का आदि बिंदु है, वही तनाव का आदि बिंदु है। जहां से सामाजिकता शुरू होती है, वहीं से तनाव शुरू होता है। तनाव और सामाजिकता का अस्तित्व पृथक्-पृथक् नहीं है। जहां तक व्यक्ति व्यक्ति है, वहां तक तनाव बहुत गहरे में होता है, इसलिए उसकी अनुभूति नहीं होती, किंतु व्यक्ति जैसे ही सामाजिक बनता है, वैसे ही तनाव प्रकट होने लगता है, उसकी अनुभूति होने लगती है। तनाव का आदि बिंदु है राग, प्रियता की अनुभूति, कामना। राग से तनाव शुरू होता है, प्रियता की अनुभूति से तनाव प्रारंभ होता है, काम से तनाव उत्पन्न होता है। राग यदि न होता तो व्यक्ति सामाजिक नहीं बन सकता। एक को दूसरे से जोड़ने वाला है राग। राग परस्परता का अनुबंध करता है। जहां पारस्परिकता हुई, एक दूसरे से जुड़ा या बंधा, वहां सामाजिकता शुरू हो जाती है। राग व्यक्तियों को

बांधता है। वह व्यक्तियों को पदार्थ से जोड़ता है। राग नहीं होता है तो व्यक्ति पदार्थ-प्रतिबद्ध नहीं होता। राग नहीं होता है तो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से नहीं जुड़ता। व्यक्ति अकेला ही होता है, केवल अकेला। कोई किसी के साथ नहीं जुड़ता। जहां जुड़ने का प्रश्न है, वहां राग का होना जरूरी है। बिना राग के कोई कैसे जुड़ेगा? एक परमाणु भी यदि दूसरे परमाणु के साथ जुड़ता है तो वहां भी राग का होना, चिकनाहट का होना जरूरी है। स्निग्धता के बिना बंध नहीं होता। यह जो पोजिटिव प्रक्रिया है, विधायकता है, वह राग है, स्नेह है, स्निग्धता है। बंधन वही करती है।

राग से बंधन शुरू होता है, दूसरे के साथ संबंध या संपर्क स्थापित होता है। उसके बाद उस राग चेतना के कण आगे से आगे तरंगें बनाते चलते हैं और लोभ का जन्म हो जाता है। तब व्यक्ति संग्रह की ओर मुड़ता है, अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। राग से जन्म लेता है लोभ और लोभ से जन्म लेती है माया। जब मन में लोभ पैदा होता है तब परिग्रह की भावना जागती है और माया उत्पन्न हो जाती है। माया के बिना संग्रह नहीं हो सकता। बिना छिपाए संग्रह नहीं कर सकता। जो छिपाना नहीं जानता है, वह संग्रह करना भी नहीं जानता। जो छिपाने की कला में निपुण है, वह विपुल संग्रह कर सकता है।

आप रत्न, सोना, चांदी खुले में रख दें तो प्रातः सब गायब हो जाएंगे। उनको टिकाए रखने के लिए उन्हें छिपाना आवश्यक है। दुनिया में छिपाने के कितने साधन हैं? जितने अधिक साधन हैं, उतनी ही अधिक माया है। संग्रह को बनाए रखने के लिए, लोभ की संपूर्ति के लिए या लोभ के द्वारा प्राप्त उपकरणों की सुरक्षा के लिए, माया को जन्म लेना जरूरी होता है। मनुष्य ने जैसे ही संग्रह करना सीखा, वैसे ही माया को भी सीखा।

जब माया का विस्तार हुआ, मनुष्य के पास बहुत कुछ हो गया तो मनुष्य ने कुछ अपनी मान्यताएं बना लीं। मैं बड़ा हूं, मेरे पास बहुत है, मैं स्वामी हूं, मेरे पास इतना धन है, यह अहंकार जन्म ले लेता है। मेरे पास है, इसके पास नहीं–इसका तात्पर्य है कि मैं बड़ा हूं, वह छोटा है। इस संग्रह ने बड़प्पन और छुटपन को भी जन्म दिया। बिना छोटों के कोई बड़ा नहीं बन सकता। अभिमान के लिए जरूरी है कि कोई नीचा हो। यदि कोई छोटा न हो, नीचा न हो, समान ही हो तो बेचारा अभिमान क्या करेगा? अभिमान हुआ तो क्या और नहीं हुआ तो क्या! समता में कभी अभिमान नहीं होता। जब ऊंचाई होती है तब गढ़े का पता चलता है। यदि गड्ढा न हो, तो ऊंचाई का कोई अर्थ नहीं हो सकता।

ऊंचाई हो और गड्ढा हो, तब ऊंचाई और नीचाई का कोई सापेक्ष अर्थ हो सकता है। समतल में ऊंचा-नीचा कुछ नहीं होता। यदि सब लोग समान ही हो जाएं, तब फिर अभिमान को पलने का अवसर ही नहीं आता। अभिमान तब होता है जब किसी के पास कुछ हो और किसी के पास कुछ न हो।

क्रोध आग, अहंकार-ममकार ईंधन

अभिमान न हो तो क्रोध की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। क्रोध होने के लिए अभिमान का होना जरूरी है। क्रोध जब आता है तब अहंकार पर चोट होती है, अभिमान पर प्रहार होता है। अहंकार पर चोट हुए बिना क्रोध नहीं आ सकता। अभिमान का अर्थ है–मेरापन। आपने किसी को अपना मान लिया। यह मेरा पुत्र है, पुत्री है, पत्नी है, पिता है, माता है, मेरा भाई है, मेरा मित्र है। जिसको मेरा मान लिया, अपना मान लिया, वह यदि थोड़ी-सी भी अवज्ञा करता है तो क्रोध आ जाता है। जो अपना नहीं है, वह कितनी ही अवज्ञा करे, इतना क्रोध नहीं आता। यदि अपना व्यक्ति अवज्ञा करता है तो क्रोध आ जाता है। क्रोध के लिए अपनापन ईंधन है। अग्नि के लिए ईंधन अपेक्षित होता है। क्रोध अग्नि है। अहंकार, ममकार उसको प्रज्वलित करने वाला ईंधन है। यदि अहंकार की ऊर्जा न मिले तो क्रोध बुझ जाता है।

तनाव बढ़ाने वाले तत्त्व

क्रोध हमारे व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने वाला साधन है। क्रोध तक पहुंचते ही हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो जाती है। सामाजिक संबंधों में ये तत्त्व काम करते हैं–राग, लोभ, माया, अहंकार। ये सारे तत्त्व तनाव पैदा करते हैं। प्रियता की अनुभूति होती है, तनाव बढ़ जाता है। जैसे ही प्रियता के साथ संबंध जुड़ जाता है, एक ध्यान शुरू हो जाता है। ध्यान का आदि बिंदु भी राग है और सामाजिकता का आदि बिंदु भी राग है। जिसके साथ प्रियता का संबंध जुड़ा, उसके प्रति एक गहरा ध्यान प्रारंभ हो जाता है कि कहीं उसका वियोग न हो जाए। आर्त्तध्यान शुरू हो जाता है। आर्त्तगवेषणा प्रारंभ हो जाती है। लोभ आगे चला। भय पैदा हो गया। प्रियता से लोभ का जन्म होता है और लोभ से भय का जन्म होता है। तनाव बढ़ाने वाले तत्त्वों में भय की प्रमुख भूमिका रहती है। भय बहुत बड़ा तनाव पैदा करता है। भय लोभ का उपजीवी है। किसी वस्तु को पकड़े रखना भय है। शरीर होना एक बात है और शरीर को पकड़े रखना, ममत्व के धागे से बांधे रखना दूसरी बात है।

शरीर को इसलिए पकड़ रखा है कि मन में यह भय छाया हुआ है कि

कहीं शरीर छूट न जाए। मरना इतना जटिल नहीं है, दुःखदायी नहीं है, जितना जटिल और दुःखदायी है मरने का भय। मरने का भय बहुत बड़ी समस्या है। रोग दुःख देता है, पर रोग इतना दुःख नहीं देता, जितना दुःख रोग का भय देता है। कभी-कभी रोग का पता ही नहीं चलता, किंतु जब डॉक्टर यह बता देता है कि तुम अमुक रोग से पीड़ित हो और अब ज्यादा जीवित नहीं रह सकोगे तब रोग का भय, मृत्यु का भय अत्यधिक भयंकर हो जाता है। रोग जितना खतरनाक नहीं है, उतना खतरनाक है रोग का भय। मरना जितना दुःखद नहीं है, उतना दुःखद है मरने का भय। हमने हजारों प्रकार के भय पाल रखे हैं। भय इसलिए पल रहे हैं कि उनकी पृष्ठभूमि में प्रियता की भावना है। वहां राग काम कर रहा है। हम इतने घबरा रहे हैं कि जो प्रिय है, वह छूट न जाए, पदार्थ छूट न जाए, शरीर छूट न जाए, प्रियजनों का संबंध छूट न जाए। धन छूट न जाए। इस भय ने मनुष्य को आर्त्तध्यान में डाल दिया। मनुष्य निरंतर उस ध्यान में बहता जा रहा है। सभी व्यक्ति ध्यान करते हैं। साधक ही ध्यान नहीं करते, प्रत्येक जीवधारी ध्यान करता है। बच्चा भी ध्यान करता है, बूढ़ा भी ध्यान करता है। पुरुष भी ध्यान करता है और स्त्री भी ध्यान करती है।

परिवर्तन करें दिशा का

प्रेक्षाध्यान शिविर में आकर आप यह न मानें कि आप ही ध्यान करते हैं। आप अपने ध्यान शिविर पचासों वर्षों से घर पर चलाते आ रहे हैं। आप यहां केवल दिशा परिवर्तन के लिए आए हैं, ध्यान के लिए नहीं। जिस दिशा में आपकी ध्यान धारा प्रवाहित हो रही थी, उसकी दिशा को बदलने के लिए आप आए हैं। घर पर जो ध्यान हो रहा था, वह प्रियता और भय से संचालित था। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान हो रहा था। विषयों को उपलब्ध करने तथा विषयों के संरक्षण का ध्यान चलता था। पदार्थों को प्राप्त करने का ध्यान तथा उसकी सुरक्षा का ध्यान निरंतर चल रहा है। दिन-रात चल रहा है। यह ध्यान सोते भी चलता है और जागते भी चलता है। प्रेक्षाध्यान केवल जागृत अवस्था में ही चलता है, सुषुप्ति में नहीं चलता।

आर्त्त और रौद्र ध्यान निरंतर चलने वाले ध्यान हैं। आप इस प्रकार के ध्यान के अभ्यस्त हैं। आप यह न कहें कि आपका मन टिकता नहीं, एकाग्रता नहीं होती। यह भ्रांति होगी। आप अपनी भ्रांति का आवरण मुझ पर भी न डालें। मैं मानता हूं कि आपका मन बहुत टिकता है। वह इतना एकाग्र होता है कि शायद किसी संन्यासी का भी नहीं होता होगा, फिर भी आप प्रेक्षाध्यान शिविरों

में आते हैं और इसलिए आते हैं कि आप दिशा का परिवर्तन करना चाहते हैं। जहां मन टिकता है, वहां वह न टिके और जहां वह नहीं टिकता, वहां वह टिकने लगे। केवल इतना-सा परिवर्तन करने के लिए प्रेक्षाध्यान का अभ्यास होता है। आप अपने आपको सरलता से प्रस्तुत करें। छिपाएं नहीं। इतना-सा करें कि जो प्रियता की अनुभूति जुड़ी हुई है, उसको मोड़ दें, अनुराग की दिशा को बदल दें। अनुराग की दिशा जो व्यक्ति के साथ, पदार्थ के साथ जुड़ रही है, उसको बदल कर अपने अस्तित्व के साथ जोड़ देना है।

उत्सुकता चैतन्य की दिशा में प्रवाहित हो

भगवान महावीर से पूछा गया–भंते! धर्म-श्रद्धा से क्या होता है? धर्म के प्रति अनुराग होने से क्या होता है? भगवान ने कहा–धर्म के प्रति अनुराग होने से अनुत्सुकता पैदा होती है अर्थात् जो उत्सुकता होती है, वह समाप्त हो जाती है। एक के प्रति जब उत्सुकता समाप्त होती है तब दूसरे के प्रति उत्सुकता जागती है। पदार्थ के प्रति रही हुई उत्सुकता जब समाप्त होती है तब धर्म के प्रति उत्सुकता जागती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब धर्म के प्रति उत्सुकता जागती है तब पदार्थ के प्रति अनुत्सुकता पैदा होती है।

उत्सुकता एक पर होगी–पदार्थ पर या धर्म पर। दोनों पर उत्सुकता नहीं हो सकती। एक साथ दो घोड़ों पर सवारी नहीं की जा सकती। अपनी उत्सुकता, अपनी श्रद्धा को हम दोनों ओर नहीं ले जा सकते। पदार्थ के प्रति उत्सुकता है तो धर्म के प्रति उत्सुकता नहीं रहेगी। धर्म के प्रति उत्सकुता है तो पदार्थ के प्रति उत्सुकता नहीं रहेगी। उत्सुकता का प्रवाह जिस ओर जाएगा, उस दिशा को वह लाभान्वित करेगा और दूसरी दिशा अपने आप हट जाएगी। हमें अपनी उत्सुकता को चैतन्य की दिशा में प्रवाहित करना है, वह इसलिए करना है कि पदार्थ के प्रति हमारी उत्सुकता जितनी गहरी होती है, उतना ही तनाव मन में भर जाता है।

हम तनाव की स्थिति से इसलिए आक्रांत हैं कि हमारा सारा आकर्षण, हमारी सारी श्रद्धा पदार्थ के प्रति है, दूसरे के प्रति है, अपने प्रति नहीं है। जब दूसरे के प्रति होती है तब मन में तनाव भर जाता है। तनाव का मूल कारण है आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। तनाव का कारण भी ध्यान है और तनाव का निवारण भी ध्यान है। ध्यान से ही तनाव पैदा होता है और ध्यान से ही तनाव समाप्त होता है। जब हमारे मन की एकाग्रता पदार्थ को उपलब्ध करने में और उसके संरक्षण में लग जाती है तब मन तनाव से भर जाता है और जब मन की

एकाग्रता पदार्थ से हटकर अपने आंतरिक अनुभवों में लग जाती है तब तनाव अपने आप विसर्जित होने लग जाता है।

तनाव के कारण

तनाव का एक कारण है आर्त्तध्यान–पदार्थ के प्रति होने वाली एकाग्रता। तनाव का दूसरा कारण है रौद्रध्यान–पदार्थ के संरक्षण के प्रति होने वाली क्रूर एकाग्रता, क्रूरतम एकाग्रता। आर्त्त और रौद्र ध्यान में लेश्याएं विकृत बन जाती हैं। उस समय काली लेश्या होती है और धूम्र वर्ण की लेश्या होती है। उस समय आभामंडल विकृत हो जाता है, भाव-संस्थान विकृत हो जाता है। हमारे सारे भाव बदल जाते हैं। भाव विकृत होता है तो मन विकृत बन जाता है, विचार विकृत हो जाता है, आचरण विकृत हो जाता है। जब आचरण विकृत होता है तब सामाजिक संबंध भी विकृत हो जाते हैं। सबकुछ बिगड़ने लग जाता है। तब व्यक्ति में यह चिंतन उभरता है कि सारा ढांचा बिगड़ता जा रहा है, उसे कैसे सुधारूं? यह प्रश्न उपस्थित होता है तब दिशा बदलने की बात प्राप्त होती है। व्यक्ति मुड़कर देखना चाहता है। जब वह मुड़कर देखता है तब उसे लगता है कि क्रोध बहुत सता रहा है।

सामाजिक और पारिवारिक संबंधों को विकृत करने वाला तत्त्व है क्रोध। अन्यान्य दोष इसके बाद आते हैं। एक व्यक्ति कुछ चाहता है, दूसरा कुछ और ही चाहता है। एक व्यक्ति के आचरण से दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट होती है। दूसरे व्यक्ति के आचरण से तीसरे व्यक्ति के अहं पर चोट होती है। अप्रीति बढ़ती है। वैमनस्य बढ़ता है। द्वेष बढ़ता है। द्वेष कोई मौलिक बात नहीं है, मूल है राग।

वास्तव में राग और द्वेष दो नहीं हैं। एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि आप राग न करें तो द्वेष कभी नहीं होगा। द्वेष का कोई स्थान नहीं है। मूर्च्छा से राग, राग से लोभ, लोभ से माया, माया से अभिमान और अभिमान से क्रोध। द्वेष का कोई स्थान ही नहीं है। पदार्थ या व्यक्ति के प्रति हमारी प्रीति हो गई, लोभ हो गया, माया का जाल बुन लिया गया। सारा राग ही राग चलता है। हमने जो माया का ताना-बाना बुना और यदि उसमें कोई व्यक्ति बाधा डालता है तब अप्रीति शुरू होती है। अप्रीति का घटक है अहंकार। यदि प्रीति ही चलती तो बड़े-छोटे का भेद खड़ा नहीं होता । बड़ा छोटा मानने के लिए अप्रीति का होना जरूरी है। अप्रीति का जन्म होता है अभिमान से और उसका जो दूसरा बड़ा चरण है, वह है क्रोध।

क्रोध और अहंकार–ये दो द्वेष हैं, अप्रीतियां हैं, किंतु अप्रीति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। प्रीति ही अप्रीति बन जाती है। अहंकार और क्रोध के चक्र में आकर जब हमारे राग-भाव में कोई बाधा उत्पन्न होती है तब प्रीति अप्रीति बन जाती है। अप्रीति का अर्थ है–प्रीति की बाधा। अप्रीति का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। हम अप्रीति को मिटाने का प्रयत्न न करें। उसके बारे में अधिक चिंता करने की जरूरत नहीं है। जहां चिंतित होना है, जागना है, वह है राग, प्रीति। वही है आदि बिंदु, जहां हमें जागना है।

अध्यात्म के साधक को जिस बिंदु पर जागना है, वह बिंदु है राग। जो व्यक्ति राग के बिंदु पर नहीं जागता, प्रियता के बिंदु पर नहीं जागता, वह यथार्थ में साधक नहीं बन सकता। आप यह न मानें कि जो साधक बनता है, ध्यान करता है, ध्यान की दिशा को बदलता है, आर्त्त और रौद्र ध्यान से हटकर धर्म ध्यान में प्रवेश करता है, वह पदार्थ से विमुख हो जाता है, ऐसा नहीं होता। क्या ध्यान करने वाला व्यक्ति गृहस्थ जीवन का निर्वाह नहीं करेगा? रोटी नहीं खाएगा? पानी नहीं पीएगा? मकान नहीं बनाएगा? परिवार का भरण-पोषण नहीं करेगा? क्या उसके पत्नी नहीं होगी? पुत्र-पुत्री नहीं होंगे? सबकुछ होते हैं। ध्यान करने वाले सारे साधक संन्यासी नहीं होते, गृहस्थ भी होते हैं। संन्यासी के लिए भी बहुत पदार्थ आवश्यक होते हैं। वह भी खाता है, पीता है, पहनता है। सारे पदार्थों को छोड़कर वह कैसे जी सकता है? मैं मानता हूं कि जो व्यक्ति पदार्थ से द्वेष करता है, घृणा करता है, कोसता है, गालियां देता है तो समझना चाहिए कि उसमें कोई आत्मग्लानि हो गई है, मनोविकृति पैदा हो गई है। पदार्थ को नहीं छोड़ा जा सकता, उसके प्रति रहे मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ा जा सकता है।

जो व्यक्ति साधना शिविरों में आते हैं, वे पदार्थ को छोड़ने के लिए नहीं आते। यदि वे पदार्थ को छोड़ने के लिए आते तो शायद परिवार वाले उनको आने ही नहीं देते। यदि पत्नी को पता चले कि मेरा पति मुझे छोड़ने के लिए वहां जा रहा है तो शायद कोई पति यहां नहीं आता। यदि किसी पति को पता चले कि उसकी पत्नी उसे छोड़ने के लिए वहां जा रही है तो शायद वह उसे आने ही नहीं देगी। शिविर में कई दंपति भी आते हैं, पति-पत्नी साथ आते हैं। दोनों को ही पता चल जाता तो वे दूसरी दिशा में जाते, यहां नहीं आते।

ध्यान के द्वारा दृष्टिकोण बदलें

शिविर में पदार्थ छोड़ने के लिए नहीं आते। वे आते हैं मिथ्या दृष्टिकोण को बदलने के लिए। हमने एक मिथ्या दृष्टि बना ली और हमने पदार्थ को

पदार्थ के रूप में नहीं जाना, पदार्थ को यथार्थ रूप में देखना नहीं जाना। हम पदार्थ को देखते हैं उस पर अपना आवरण डालकर। उसे जिस दृष्टि से देखना चाहिए, उस दृष्टि से नहीं देखते। यह सबसे बड़ी भ्रांति है। ध्यान की दिशा का परिवर्तन तब होगा जब हमारी सम्यक् दृष्टि जागेगी। केवल कायोत्सर्ग या शिथिलीकरण से दिशा नहीं बदलेगी। पद्मासन या कोई आसन दिशा-परिवर्तन का मुख्य हेतु नहीं है। पद्मासन में बैठे-बैठे तो किसी को मारने की योजना भी बनाई जा सकती है। आंखें बंद कर बैठे-बैठे तो किसी को ठगने की, धोखा देने की या कहीं चोरी करने की योजना भी बनाई जा सकती है। इनसे दिशा का परिवर्तन नहीं होता। दिशा का परिवर्तन तब होता है जब सम्यक् दृष्टि जागती है। सम्यक् दृष्टि के जागरण का फलित यह है कि व्यक्ति पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखें, प्रियता या अप्रियता की दृष्टि से न देखें। आज अर्थ की यह समस्या इतनी जटिल क्यों बनी? इसीलिए बनी कि हम अर्थ को अर्थ की दृष्टि से नहीं देखते। अर्थ को केवल भावनात्मक दृष्टि से देखते हैं। अपनी दृष्टि से देखते हैं, सत्य की दृष्टि से नहीं देखते।

पदार्थ पदार्थ रहेगा

दुनिया में पदार्थ था, पदार्थ है और पदार्थ रहेगा। समाजवाद ने जो यह सूत्र प्रस्तुत किया कि संपत्ति व्यक्ति की नहीं, समाज की है। मैं मानता हूं कि इस सूत्र में भूल का कुछ सुधार हुआ है। व्यक्ति संपत्ति को अपना मान बैठा था। समाजवाद के मनीषियों ने सोचा कि व्यक्तिगत संपत्ति की बात समाज के लिए बहुत घातक है और यह बहुत बड़ी भ्रांति है। इस भ्रांति के निराकरण के लिए उन्होंने कहा कि संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए। संपत्ति व्यक्ति की नहीं, समाज की होनी चाहिए। सम्यग्दृष्टि को उपलब्ध व्यक्ति का सूत्र होगा–संपत्ति व्यक्ति की भी नहीं होती, समाज की भी नहीं होती, किसी की भी नहीं होती। संपत्ति-संपत्ति की होती है। पदार्थ पदार्थ का होता है, वह किसी का नहीं होता। एक संस्कृत कवि ने भूमि को एक ऐसी कन्या माना है, जो सदा कुमारी है और रहेगी। वह किसी की नहीं बनी और न ही बनेगी। उसके साथ कोई पाणिग्रहण नहीं कर पाया। अनेक राजे-महाराजे हो गए। अनेक शक्तिसंपन्न सम्राट हो गए। उन्होंने मान लिया कि अमुक भूभाग पर उनका अधिकार है, पर यह भ्रांति थी। भूमि किसी की नहीं बनी। बहुत आए और गए। पदार्थ को अपना मानना एक भ्रांति है।

अध्यात्म का सूत्र है कि संपत्ति न व्यक्ति की है और न समाज की है।

वह पदार्थ है। पदार्थ पदार्थ होता है, वह किसी का नहीं होता। सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में होते हैं। कोई पदार्थ किसी का नही होता, यह सूत्र उपलब्ध होने पर ही समस्या सुलझ सकती है। संपत्ति को व्यक्तिगत मानने से समस्या उलझती है, इस बात का समाज ने अनुभव कर लिया। व्यक्तिगत संग्रह से विषमता फैलती है, समस्याएं बढ़ती हैं। समस्याओं का कोई समाधान नहीं होता, इसलिए संपत्ति समाज की होनी चाहिए, व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना चाहिए–यह चिंतन लगभग दो अरब मनुष्यों का है। जो समाजवादी भी नहीं हैं, वे भी कुछ लोग इसी भाषा में सोचते हैं। यह सोचना मात्र भूल का सुधार माना जा सकता है, किंतु उससे अगली भूल ज्यों की त्यों बनी रहती है। जब तक उस भूल का सुधार नहीं होगा, समस्या नहीं सुलझेगी।

आज समाजवाद की स्थापना के बाद भी, साम्यवाद के प्रचलित हो जाने के बाद भी समस्याएं सुलझी नहीं हैं, व्यक्ति सुलझा नहीं है। आज साम्यवादी देश का नागरिक भी बड़ी अनैतिकता करता है। लाखों-करोड़ों का घोटाला करता है। यह इसीलिए होता है कि साम्यवादी धारणा से एक भूल का सुधार अवश्य हुआ है, किंतु दूसरी भूल का सुधार नहीं हो पाया। जब तक व्यक्ति यह नहीं जान लेगा कि पदार्थ पदार्थ है, वह किसी का नहीं है, तब तक वे घोटाले बंद नहीं होंगे। अनैतिकता या अप्रामाणिकता रुकेगी नहीं।

हम जो दिशा परिवर्तन चाहते हैं, वह यह है कि पदार्थ पदार्थ रहे, व्यक्ति व्यक्ति रहे। पदार्थ और व्यक्ति के बीच संबंध स्थापित न हो, परस्पर घनिष्ठता न हो। हमारी सम्यक् दृष्टि जागे। हमारा द्रष्टाभाव जागे। हम पदार्थ को पदार्थ की ही दृष्टि से देखें, उसकी उपयोगिता को समझें, उसका उपयोग मात्र करें, किंतु उसके साथ ममत्व न करें, एकता की अनुभूति न करें।

तनाव विसर्जन के सूत्र

द्रष्टाभाव का विकास तनाव विसर्जन का पहला सूत्र है और दूसरा सूत्र है भावना का विकास। भावना का अर्थ है स्व-सम्मोहन, आत्म-सम्मोहन। जब हम आत्म-सम्मोहन दूसरों के लिए करते हैं तब दूसरों के साथ-साथ अपनी शक्ति भी क्षीण होती है। हम सब पदार्थ के प्रति सम्मोहित हैं। पदार्थ को देखते ही इतना सम्मोहन जागता है कि आदमी विवेक खो बैठता है। बड़े से बड़ा आदमी भी ऐसी चोरियां कर लेता है, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसमें व्यक्ति का कोई दोष नहीं है। वह पदार्थ के प्रति सम्मोहित है। जब पदार्थ सामने आता है तब उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, विवेक सो जाता है।

हम स्वयं आत्म-सम्मोहन का प्रयोग करें। हम अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हों। स्व-सम्मोहन की सबसे बड़ी शक्ति है ज्ञान की शक्ति। हम अपनी ज्ञान की शक्ति का अनुभव करें। हम साधना के प्रारंभ में अर्हं की ध्वनि करते हैं, अर्हं की भावना करते हैं। तब व्यक्ति-व्यक्ति में अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति और अनंत आनंद की भावना जागती है। वह सोचता है कि मेरे में अनंत ज्ञान है, अनंत शक्ति है, अनंत दर्शन है और अनंत आनंद है। मुझे किसी दूसरे आनंद की जरूरत नहीं है। किसी पदार्थ से मुझे आनंद उपलब्ध नहीं हो सकता। जो शून्य हो, उसे कोई आनंद से भरे। मैं अनंत आनंद से संपन्न हूं, परिपूर्ण हूं। जब व्यक्ति इस अनंतचतुष्टयी की भावना से भावित होता है, सम्मोहित होता है तब शेष सारे सम्मोहन चूर-चूर होकर टूट जाते हैं। कोई नहीं टिक पाता। स्व-सम्मोहन या भावना के द्वारा दिशा परिवर्तन घटित होता है। इसके द्वारा तनाव विसर्जित होता है।

विश्लेषण जरूरी है

तनाव विसर्जन का तीसरा सूत्र है विचय ध्यान। विचय का अर्थ है विश्लेषण। प्रेक्षा एक विश्लेषण है। यह आत्म-विश्लेषण है, सेल्फ एनलिसिस है। व्यक्ति आत्म-विश्लेषण करे, क्रोध क्यों आता है? लोभ क्यों जागता है? मिथ्या दृष्टि क्यों जागती है? इसका हम विश्लेषण करें। हम विश्लेषण नहीं करते तब ये सारी भावनाएं पनपती रहती हैं। जब हम अपना विश्लेषण प्रारंभ करते हैं, अपनी ज्ञान की शक्ति को जगाते हैं तब ये सारी बातें टूटने लग जाती हैं। जो व्यक्ति अपनी ज्ञान की शक्ति का उपयोग नहीं करता, उसमें ये सारी विकृतियां पनपती रहती हैं। हम अपनी ज्ञान-शक्ति का उपयोग करें। जब हम अपना विश्लेषण करते हैं। तब आर्त्त-रौद्र ध्यान छूट जाते हैं, धर्म ध्यान शुरू हो जाता है। धर्म ध्यान का प्रारंभ होता है विचय के द्वारा, विश्लेषण के द्वारा। यह विचय की प्रक्रिया, विश्लेषण की प्रक्रिया चिकित्सा की प्रक्रिया है।

आज का मनोचिकित्सक सबसे पहले विश्लेषण का सहारा लेता है। कोई भी मानसिक बीमारी से ग्रस्त व्यक्ति मानस-चिकित्सक के पास जाता है तो वह चिकित्सक सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग कराता है, शिथिलीकरण करने के लिए कहता है। इसके बाद कहता है कि अपना विश्लेषण करो, प्रतिक्रमण करो, अतीत की ओर लौटो और मन में जो-जो बातें आएं, वह निःसंकोच कहते जाओ। छुपाओ मत। अब वह रोगी अपना विश्लेषण करता है, प्रतिक्रमण करता है। मनोचिकित्सक सुनता जाता है और सुनते-सुनते यह

बात पकड़ लेता है कि मन की गांठ कहां घुली है? मानसिक ग्रंथि कहां बनी है? क्या बीमारी है? कौन-सी वृत्तियों का दमन हुआ है? किस प्रकार की ग्रंथि बनी है? वह फिर उन ग्रंथियों को खोलने का प्रयत्न करता है।

अध्यात्म की चिकित्सा भी इसी प्रकार चलती है। ध्यान की भी यही प्रक्रिया है। आर्त्त और रौद्र ध्यान से जो ग्रंथियां बनती हैं, वे ग्रंथियां शारीरिक और मानसिक विकृतियां पैदा करती हैं, रोग पैदा करती हैं। मैं मानता हूं कि मनोविज्ञान का यह सूत्र गलत नहीं है कि जो वृत्ति दबाई जाती है, वह वृत्ति शारीरिक और मानसिक रोग पैदा करती है। इसे हम अध्यात्म की भाषा में समझें। ज्योंही वृत्ति का दमन किया, दबाने का प्रयत्न किया, यदि निर्जरा नहीं की, उसका रेचन नहीं किया तो उसका बंध हो जाएगा। वह बंध सताता रहेगा।

क्रोध आता है और चला जाता है। आप यह न मानें कि क्रोध आया और चला गया। यह बहुत बड़ी भ्रांति होगी। क्रोध आया, चला गया। स्थूल शरीर से चला गया, पता नहीं चलता कि क्रोध है। क्रोध आया था इस शरीर की आकृति में। अब क्रोध अणु बनकर हमारे भीतर पैठ गया। जो क्रोध व्यक्त हुआ था अपने रूप में वह तो चला गया, किंतु उसने अपना आणविक रूप छोड़ दिया।

कर्म के भी परमाणु हैं। हमारे जो कर्म का बंध होता है, वह परमाणु का बंध होता है। यह आणविक क्रोध हमारे भीतर है। वह सताता रहता है। वह तनाव पैदा करता है। हमें निर्जरा करना, रेचन करना, शोधन करना सीखना होगा। हम ध्यान के द्वारा सीखें। हम क्रोध का दमन न करें, उसका रेचन करें, उसका शोधन करें। क्रोध का संवर करें, क्रोध का विवेक करें।

प्रश्न– राग से सामाजिकता शुरू होती है तो क्या वीतराग सामाजिक नहीं होता? या वीतराग के सामाजिकता नहीं होती?

उत्तर– सचमुच वीतराग कभी सामाजिक नहीं होता। वीतराग कोरा व्यक्ति होता है। वह समाज में रहता है, पर सामाजिक नहीं होता। हम वीतराग उसी को मानते हैं, जो समाज में रहता हुआ भी अकेला रहे, व्यक्ति रहे। वीतराग तो दूर की बात है, साधक वही होता है, जो समाज में रहता हुआ अकेला रहे। आचार्य भिक्षु ने कहा है–गण में रहे निर्दाव अकेलो।' साधु संघ में रहे, किंतु अकेला होकर रहे, किसी के साथ दलबंदी न करे, गाढ़ संबंध न बनाए। वास्तव में धार्मिक वही होता है, जो समूह में रहता हुआ अकेला रहे। वह एकत्व की भावना से अभिभूत हो। भगवान महावीर ने एकत्व अनुप्रेक्षा को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने कहा–'पुरुष! तू अपने को इस भावना से भावित करता रहे कि तू

अंततः अकेला है। समाज मात्र एक उपयोगिता है। जीवन यात्रा को चलाने के लिए वह एक आलंबन मात्र है। वास्तव में तू अकेला है।'

एक उत्पद्यते तनुमान्, एक एव विपद्यते।
एक एव हि कर्म चिनुते, सैककः फलमश्नुते॥

व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। व्यक्ति अकेला ही कर्म का बंध करता है और अकेला ही उन कर्मों को भोगता है।

वीतराग ही नहीं, वास्तव में हम भी अकेले हैं, किंतु भ्रांतिवश हम मान बैठे हैं कि हमारा समूह है, परिवार है, समाज है। यह मिथ्यादृष्टि है, इसे तोड़ना है।

प्रश्न—पदार्थ पदार्थ है, व्यक्ति व्यक्ति है। यदि इनमें कोई परस्पर संबंध न हो, राग न हो तो फिर समाज का काम कैसे चलेगा?

उत्तर—इस स्थिति में समाज का काम बहुत समुचित ढंग से चलेगा, समस्या से मुक्त होकर चलेगा। एक ओर भोजन है, दूसरी ओर भूख है। यदि व्यक्ति सम्यक् दृष्टि से यह स्वीकार करता है कि यह भोजन है और यह भूख है, तो भोजन से भूख शांत होती है। उस रूप में पदार्थ को मात्र उपयोगिता के रूप में स्वीकार करता है तो वह अधिक नहीं खा सकेगा। जितनी भूख है, उतना ही खाएगा, किंतु जब पदार्थ के साथ प्रियता जुड़ जाती है तब व्यक्ति भूख को शांत करने के लिए भोजन नहीं करता, जितनी भूख है उतना ही नहीं खाता, वह खाता है प्रियता की संपूर्ति के लिए। वह खाता है स्वाद के वशीभूत होकर। यह भ्रांति टूटनी चाहिए कि हम प्रियता के लिए पदार्थ का सेवन न करें, केवल प्रयोजन को पूरा करने के लिए उसका उपयोग करें। पदार्थ पदार्थ है और उसका उपयोग पारस्परिकता है। एक का उपयोग दूसरे के लिए होता है। इस उपयोग मात्र को समझ कर यदि हम पदार्थ का उपयोग करते हैं तो अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं।

पदार्थ नहीं मिटेगा। न पदार्थ को मिटाना है और न संपत्ति को समाप्त करना है, किंतु पदार्थ और संपत्ति के साथ जो हमारा अनुबंध है, उसे तोड़ना है।

हम पैसा नहीं लेते, किंतु कपड़ा आदि ले लेते हैं। हम दस रुपये का नोट नहीं लेते, किंतु दस रुपये मूल्य का कपड़ा ले लेते हैं। आपके मन में यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कपड़ा रुपया नहीं है? क्या उसका रुपये जितना मूल्य नहीं है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। हमारे पास एक पैसा भी नही है, किंतु एक-एक हस्तलिखित प्रति ऐसी है, जिसका मूल्य लाखों में आंका जा सकता है। वह

लाखों रुपये के मूल्य की हो सकती है। ऐसी वस्तुएं आज भी हमारे पास हैं, फिर भी हम अपरिग्रही हैं। इसे समझें। जो पैसा रखते हैं, उनका पैसे के साथ अनुबंध हो जाता है, वह उपयोगिता का अनुबंध नहीं रहा, मूर्च्छा का अनुबंध हो जाता है। उस मूर्च्छा को तोड़ना है। हमारे पास हस्तलिखित प्रतियां हैं, पर उनके साथ अनुबंध नहीं है, मूर्च्छा नहीं है, उपयोगिता है।

पदार्थ पदार्थ है। आत्मा आत्मा है। व्यक्ति व्यक्ति है। एक दूसरा एक दूसरे के काम आता है। एक दूसरे का एक दूसरे के लिए उपयोग हो, यह भावना जब बनती है, पनपती है तब समाज स्वस्थ रहता है। तनाव होने का कम से कम अवसर आता है, किंतु जब वह उपयोगिता बदलकर धन बन जाती है, सिक्का बन जाती है तब उपयोगिता समाप्त हो जाती है और मूर्च्छा केवल धनात्मक बन जाती है। उस मूर्च्छा को तोड़ना आवश्यक है। इससे सामाजिक व्यवहार टूटेगा नहीं, वह अधिक स्वस्थ होगा। इस स्थिति में वे समस्याएं भी समाप्त हो जाएंगी, जो समाजवाद के लिए समस्याएं हैं।

13. आभामंडल

मैं ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण चाहता हूं, जो शक्तिसंपन्न, चेतनासंपन्न और आनंदसंपन्न हो। ऐसा व्यक्ति मिलना बहुत कठिन है, जो इस त्रिपुटी से संपन्न हो। पशु में शक्ति बहुत होती है, किंतु वह अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी चेतना विकसित नहीं है। उसकी शक्ति का उपयोग मनुष्य करता है, क्योंकि उसकी चेतना विकसित है। चेतना का विकास किए बिना शक्ति का सही उपयोग नहीं किया जा सकता। सिंह और हाथी में बहुत शक्ति होती है। बैल और भैंसे में भी प्रचुर शक्ति होती है, किंतु सब पशुओं की शक्ति का उपयोग मनुष्य ही करता है। उनकी सारी शक्ति मनुष्य के काम आती है। सिंह और बाघ अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों को मारने में करते हैं। उनकी शक्ति का कोई सृजनात्मक उपयोग नहीं होता। उस शक्ति से निर्माण नहीं होता, विध्वंस होता है। इस प्रकार पशुओं की शक्ति के दो ही काम हैं–मनुष्य के काम आना या दूसरों को मारने में काम आना।

मनुष्य महान क्यों?

जब-जब मैं बैलों और भैंसों को भार ढोते देखता हूं, तब-तब मन में आता है कि यदि इनमें चेतना का विकास होता तो न जाने आज ये क्या होते? इनमें चेतना का विकास नहीं है। हजारों वर्षों से ये भार ढोते आ रहे हैं और हजारों वर्षों तक भार ढोते ही रहेंगे। कोई परिवर्तन नहीं आया, कोई क्रांति नहीं हुई, कोई विकास नहीं हुआ। उसके लिए सारे युग समान है। प्रस्तर युग आया, मध्ययुग आया और आज अणुयुग चल रहा है, किंतु पशुओं के लिए सारे युग समान हैं। उन्होंने कोई विकास नहीं किया। वैज्ञानिक युग और प्रस्तर युग उनके लिए समान है। मनुष्य में भी शक्ति है, किंतु शक्ति से अधिक उसमें चेतना का विकास है, इसलिए वह अपनी अल्पशक्ति का उपयोग इस प्रकार करता है कि वह खूंखार और प्रचुर शक्तिशाली जानवरों को भी नियंत्रण में ले लेता है, उनसे काम भी ले लेता है। शक्ति में मनुष्य पशु के बराबर नहीं है, किंतु वह चेतना

का उपयोग करना जानता है, इसलिए अल्पशक्ति से भी महान शक्तिशाली जानवरों को वश में कर अनोखे काम कर लेता है। शक्ति की अपेक्षा बुद्धि बड़ी होती है। **बुद्धिर्यस्य बलं तस्य**–जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल है। बुद्धि का बल, चेतना का बल, ज्ञान का बल–ये बल शारीरिक बल से बड़े होते हैं। वे शारीरिक बल को लांघ जाते हैं।

क्यों नहीं हो रहा है आनंद का अनुभव?

मनुष्य के पास शक्ति है, चेतना है, किंतु उसके पास तीसरी वस्तु नहीं है। वह तीसरी वस्तु है आनंद। मनुष्य अपनी चेतना के द्वारा शक्ति का उपयोग करता है, किंतु वह भी शक्ति का सम्यक् उपयोग करना नहीं जानता। वह अपनी शक्ति का उपयोग करके स्वयं क्लांत होता है और दूसरों को क्लांत करता है। वह स्वयं किसी का घोड़ा बनता है या दूसरे को अपना घोड़ा बनाता है। वह स्वयं दूसरे पर चढ़ता है या दूसरे को अपने कंधों पर चढ़ाता है, किंतु आनंद का अनुभव नहीं कर पाता।

आनंद का अनुभव वही कर पाता है, जिसके पास शक्ति हो, चेतना का विकास हो और चेतना की शक्ति का सही उपयोग हो। पशुओं में चेतना तो है, पर उसका विकास नहीं है। वह उसका सही उपयोग करना नहीं जानता। मनुष्य में चेतना का विकास है, फिर भी वह उसका सही उपयोग नहीं करता, इसलिए आनंद को उपलब्ध नहीं होता। पशु के लिए आनंद का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उसमें चेतना का विकास नहीं है। उसमें आनंद का अनुभव करने की क्षमता ही नहीं है।

जिसमें चेतना का विकास है, उसमें आनंद का अनुभव करने की क्षमता होती है। जो चेतना का सही नियोजन कर पाता है, वह आनंद का उपभोग कर लेता है। जो चेतना का सही नियोजन नहीं कर पाता, वह आनंद का अनुभव नहीं कर सकता।

शक्ति की दिशा क्या है?

ध्यान साधना के द्वारा व्यक्ति अपनी चेतना का इस प्रकार नियोजन करे, जिससे सारी शक्ति आनंद की दिशा में प्रवाहित हो जाए और आनंद उपलब्ध हो जाए। आनंद का बाधक तत्त्व है शक्ति और आनंद का साधक तत्त्व भी है शक्ति। शक्ति ही बाधा है और शक्ति ही साधक सामग्री है। शक्ति को ठीक दिशा में प्रवाहित करने पर आनंद प्राप्त होता है और शक्ति को विपरीत दिशा

में प्रवाहित करने पर आनंद पर काली घटाएं उमड़ पड़ती हैं। आनंद सारा नष्ट हो जाता है। मूल प्रश्न है शक्ति के प्रवाह का। उसको किस दिशा में प्रवाहित करना है, यह मूल प्रश्न है।

शक्ति के बिना क्रोध नहीं आएगा, अहंकार नहीं आएगा, राग नहीं होगा, प्रीति नहीं होगी। काम, सेक्स, वासना भी शक्ति के बिना नहीं होगी। दुनिया का कोई भी काम शक्ति के बिना नहीं हो सकता। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मैं कह सकता हूं कि दुनिया में जो कुछ होता है, वह शक्ति के द्वारा होता है। शक्ति के बिना कुछ नहीं होता। शक्ति के बिना न चेतना की प्रवृत्ति होती है और न आनंद की उपलब्धि होती है।

सबकुछ शक्ति से होता है। फर्क केवल इससे पड़ता है कि शक्ति किस दिशा में प्रवाहित होती है। क्रोध करने वाला अपनी शक्ति का उपयोग क्रोध की दिशा में करता है। जब हमारी ऊर्जा क्रोध की दिशा में प्रवाहित होती है, क्रोध उभर आता है। जब ऊर्जा कामकेन्द्र की ओर प्रवाहित होती है, काम उभर आता है।

हमारे शरीर में क्रोध के केन्द्र हैं, कामवासना के केन्द्र हैं, ज्ञान के केन्द्र हैं। ऊर्जा जिस केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है, वह केन्द्र सक्रिय हो जाता है। वह प्रवृत्ति उभरकर सामने आ जाती है। अब प्रश्न है कि उस प्रवृत्ति को केसे रोका जाए? इसमें सब एक मत नहीं हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि जो वृत्ति जागे, उसे भोग लो। उसे रोकने की जरूरत नहीं, भोग लो, यह मुक्तभोग की विचारधारा है। यह विचारधारा कहती है कि क्रोध आए तो क्रोध कर लो। इतना जी भर क्रोध कर लो कि जिससे क्रोध समाप्त हो जाए। जिसको मुक्तभाव से भोगा जाता है, वह क्रोध चरम बिंदु पर पहुंच कर विसर्जित हो जाता है।

सिद्धांत दमन का

एक है दमन का सिद्धांत। वह कहता है कि दबाओ, दबाओ। क्रोध आए तो क्रोध को दबाओ। कामवासना उभरे तो उसे दबाओ। जो भी वृत्ति उभरे, उसे दबाओ। दमन का सिद्धांत बहुत व्यापक है। मनुष्य समाज में जीता है। वह सामाजिक प्राणी है। समाज में दमन चलता है। समाज की अपनी मान्यताएं हैं, अपनी धारणाएं हैं। समाज व्यवस्था चाहता है। सामाजिक प्राणी नहीं चाहता कि जो भी वृत्ति जागे, उसका सामाजिक स्तर पर मुक्तभोग किया जाए।

क्रोध जागे और क्रोध का मुक्तभोग किया जाए, यह सामाजिक प्राणी कभी नहीं चाहता। क्रोध जागे, कोई किसी के चांटा मार दे, लाठी मार दे या हत्या कर डाले तो समाज इसे बर्दास्त नहीं कर सकता। किसी में लोभ की वृत्ति जागे, वह दूसरे की संपत्ति पर अधिकार कर ले, लोभ का मुक्त भोग कर ले, समाज इसे मान्य नहीं कर सकता। समाज ने अपनी व्यवस्था बनाई। उसने कहा कि दमन करो। तुम सामाजिक प्राणी हो, समूह में रहते हो, इसलिए तुम्हें दमन करना होगा। यह नहीं हो कि मन में आया वह कर ले। ऐसा कभी नहीं हो सकता। सामाजिक भूमिका में दमन का विकास हुआ, नियंत्रण का विकास हुआ, दंड-व्यवस्था का विकास हुआ। दंड की सारी व्यवस्था समाज और राज्य ने की है। राज्य यह कभी सहन नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति अपनी मुक्त वृत्तियों के कारण दूसरों के अधिकारों का हनन करे या जो चाहे वैसा करे, यह नहीं हो सकता। एक मर्यादा बनानी होगी। एक रेखा खींचनी होगी कि व्यक्ति को क्या करना है और क्या नहीं करना है और जो व्यक्ति उन मर्यादाओं की रेखाओं का अतिक्रमण करेगा, वह दंडित होगा। या तो स्वयं वह अपनी वृत्तियों को दबाए अन्यथा उसे दंडित होना पड़ेगा। यह दमन की बात व्यापक है और समाज के स्तर पर चलती है।

दूसरी बात है भोग की। यह व्यापक नहीं है। यह कुछेक लोगों का सिद्धांत मात्र है। इस सिद्धांत की पृष्ठभूमि में उनका चिंतन यह है कि यदि व्यक्ति वृत्तियों को दबाता है, भोगता नहीं, तो दबाते-दबाते वे वृत्तियां इतनी एकत्रित हो जाएंगी कि एक दिन उनका भयंकर विस्फोट होगा और व्यक्ति उस विस्फोट को संभाल नहीं पाएगा, इसलिए वृत्तियों को दबाओ मत, उन्हें भोग लो। समाज-व्यवस्था में यह बात मान्य नहीं है, किंतु इस सिद्धांत के प्रतिपादकों ने मानव की अंतश्चेतना, अंतर्मन, अवचेतन मन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वृत्तियों का दमन किया गया तो उसके परिणाम अच्छे नहीं होंगे।

बहुत अधिक क्रोध आ रहा है। यदि उसे जबरदस्ती दबाया गया तो उसका परिणाम यह होगा कि व्यक्ति के सिर में भयंकर पीड़ा उत्पन्न हो जाएगी, हृदय पर भी आघात लगेगा। व्यक्ति उस आघात को संभाल नहीं पाएगा। वह दबाई हुई वृत्ति भीतर ही भीतर सडांध पैदा करेगी, शारीरिक और मानसिक बीमारियां उत्पन्न करेगी, इसलिए वृत्ति को दबाओ मत। मैं मानता हूं कि यह सुंदर सिद्धांत है–दमन करो के आगे की बात है। दमन मत करो–मनोविज्ञान का यह प्रतिपादन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने मन की गहराइयों में जाकर जिन

सूक्ष्म सत्यों को खोजा है, उनमें बहुत सचाई है। वे केवल मानसिक कल्पनाएं मात्र नहीं हैं, किंतु उनमें कुछ अधूरापन भी हैं।

'मत दबाओ'–इतनी बात तो ठीक है, किंतु 'उनका उन्मुक्तभोग करो', इस बात के कटु परिणाम आए। 'मत दबाओ' का अर्थ उन्मुक्तभोग कर इस सिद्धांत के हृदय को ही तोड़ डाला। कुछ साधकों ने अध्यात्म के नाम पर, धर्म और ध्यान के नाम पर मुक्तभोग के प्रयोग प्रारंभ कर दिए और उन प्रयोगों से अध्यात्म लांछित होने लगा। आज इस मुक्तभोग का व्यापक विरोध हो रहा है। यह विरोध है सामाजिक व्यवस्था का। भारतीय समाज-व्यवस्था इस प्रकार के मुक्तभोगों के प्रयोगों को मान्य नहीं करती, इसलिए विरोध होना स्वाभाविक है, किंतु यदि हम सामाजिक विरोध की बात छोड़ भी दें और गहराई में उतर कर अनुभव के आधार पर देखें तो पता चलेगा कि भोग अध्यात्म की ओर नहीं ले जाता, कभी नहीं ले जाता।

ऊर्जा का सही उपयोग हो

'मत दबाओ' का अर्थ मुक्तभोग नहीं होता। फ्रॉयड ने कहा कि दमन नहीं होना चाहिए। साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि सब्लीमेशन होना चाहिए, ट्रांसफोरमेशन–रूपांतरण होना चाहिए। हमने आधी बात पकड़ ली और आगे की आधी बात छोड़ दी। यहीं से समस्या पैदा हुई। दबाना अच्छा नहीं है, यह बात धर्म के मंच से भी कही जा सकती है, अध्यात्म के मंच से भी कही जा सकती है। 'मत दबाओ' का अर्थ होगा–वृत्ति का उदात्तीकरण, वृत्ति का रूपांतरण।

जब मैं अध्यात्म की भाषा में सोचता हूं, मुझे लगता है कि 'काम' के रूपांतरण की बात एक मनोवैज्ञानिक कह सकता है, किंतु अध्यात्म की भाषा में 'काम' का रूपांतरण नहीं होता, उसका क्षयीकरण होता है, समाप्तीकरण होता है। 'काम' के परमाणु हैं, क्रोध के परमाणु हैं, उनका रूपांतरण नहीं होता। उनको तो समाप्त ही किया जा सकता है। बड़ी कठिनाई यह हो गई कि हमने ऊर्जा को बांट दिया। यह क्रोध की ऊर्जा है और यह काम की ऊर्जा है–ऐसा मान लिया। ऊर्जा एक ही है। न काम की ऊर्जा है, न क्रोध की ऊर्जा है और न अहंकार की ऊर्जा है। ऊर्जा ऊर्जा है। वह किसी की भी नहीं है। वह शक्तिमात्र है। शक्ति का काम है दूसरे को सक्रिय करना, पुष्ट करना। यदि ऊर्जा 'काम-वासना' की ओर प्रवाहित होती है तो कामकेन्द्र को सक्रिय बना देती है। यदि वह ज्ञानकेन्द्र की ओर प्रवाहित होती है तो ज्ञानकेन्द्र को सक्रिय बना देती है।

यदि वह क्रोध के पास जाती है तो क्रोध की वृत्ति सक्रिय हो जाती है और यदि वह क्षमा के पास जाती है तो क्षमा की वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

यदि हम कामवासना के रूपांतरण की बात स्वीकारते हैं तो 'काम' को एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। काम की ऊर्जा कोई शाश्वत सचाई नहीं है। वह एक आणविक संघटना है, अणुओं का संस्थान है। काम हमारी चेतना पर छाई हुई अणुओं की एक संरचना है। उन अणुओं को हम विलीन कर सकते हैं, समाप्त कर सकते हैं, किंतु उनका रूपांतरण नहीं कर सकते। यदि हम चाहें तो रूपांतरण इस अर्थ में कर सकते हैं कि हम काम की ओर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा की दिशा को बदल सकते हैं। इसके अतिरिक्त कोई रूपांतरण नहीं होता। अत: काम या सेक्स का रूपांतरण नहीं, किंतु सेक्स के मार्ग में जाने वाली ऊर्जा को रोक देना, उसकी दिशा में परिवर्तन कर देना–यही अपेक्षित है।

जैसा भावमंडल, वैसा आभामंडल

महावीर ने लेश्या के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। प्रत्येक व्यक्ति के पास एक आभामंडल और एक भावमंडल होता है। भावमंडल हमारी चेतना है और चेतना के साथ-साथ जो एक पौद्गलिक संस्थान है, उसे आभामंडल कहते हैं। चेतना हमारे तैजस-शरीर को सक्रिय बनाती है। जब यह विद्युत-शरीर सक्रिय होता है तब वह किरणों का विकिरण करता है। ये विकिरण व्यक्ति के शरीर के चारों ओर वलयाकार में घेरा बना लेते हैं। यह आभामंडल है। जैसा भावमंडल होता है, वैसा ही आभामंडल बनता है। भावमंडल विशुद्ध होगा तो आभामंडल भी विशुद्ध होगा। भावमंडल मलिन होगा तो आभामंडल भी मलिन होगा, धब्बों वाला होगा। वह काले रंग का होगा, विकृत होगा, अंधकारमय होगा। सारे चमकीले वर्ण समाप्त हो जाएंगे। हम भावधारा को, परिणाम धारा को बदल कर आभामंडल को बदल सकते हैं।

रेचन हो वृत्ति का

अध्यात्म ने वृत्तियों के परिवर्तन का जो सूत्र दिया, वह है–रेचन। उसने कहा कि वृत्तियों का दमन मत करो, उनका रेचन कर दो। अपने आपको दंडित मत करो, जबरदस्ती मत करो। अपने आपको हीनभावना से मत भरो। ये वृत्तियां बीमारियां पैदा करती हैं। आत्मभर्त्सना और हीनभावना दमा का रोग पैदा करती है और भी अनेक विकृत्तियां पैदा करती हैं।

इस प्रकार तीन बातें सामने आईं–दमन, भोग और रेचन। रेचन का अर्थ

है–निर्जरा। वृत्ति का रेचन करो। क्रोध जागे तो उसे जबरदस्ती मत दबाओ, दबाने पर ऊर्जा धक्का मारती है। जो ऊर्जा क्रोध के साथ बाहर निकलना चाहती थी, यदि उसे जबरदस्ती रोका जाए तो वह भीतर से धक्का मारती है। वह तो शक्ति है। जहां वह धक्का मारती है, वहां का अवयव हानिग्रस्त हो जाता है। मन को आघात पहुंचता है, इसलिए दबाओ मत, रेचन करो। वृत्ति को निकाल दो, मिटा दो। रेचन करो ध्यान के द्वारा, रेचन करो भावना के द्वारा, रेचन करो शब्द के द्वारा। अध्यात्म के आचार्यों ने रेचन करने के अनेक सूत्र दिए। उन्होंने कहा कि जब क्रोध की वृत्ति जागे तब एक ऐसे शब्दों का उच्चारण करो कि क्रोध की वृत्ति को धक्का भी न लगे और क्रोध का रेचन भी हो जाए।

क्रोध के परिणाम का चिंतन

कोहो पीइं पणासेइ–क्रोध प्रीति का नाश करता है। हमारे भीतर बहने वाली प्रेम की गंगा को क्रोध मलिन बना देता है। मैत्री की धारा को क्रोध मलिन कर देता है, दूषित कर देता है, इसलिए क्रोध आते ही ऐसे शब्द का आलंबन लो। एक शब्द को याद करो, तत्काल क्रोध की वृत्ति का रेचन हो जाएगा। शब्द का आलंबन, शब्द से निकलने वाली ध्वनि-तरंगों का आलंबन, भावना और दीर्घश्वास का आलंबन भी क्रोध की वृत्ति के रेचन में सहायक होता है। जैसे ही मन में क्रोध जागृत हो, दीर्घ श्वास का प्रयोग शुरू कर दें। श्वास के रेचन के साथ कार्बन निकलता है और साथ-साथ क्रोध की ऊर्जा भी निकल जाती है। क्रोध शांत हो जाता है।

अध्यात्म की प्रक्रिया

एक आदमी में काम की वृत्ति जागती है। जब वह बाहर निकलती है तब आदमी सुख का अनुभव करता है। इतना-सा सुख कि जो ऊर्जा काम की वृत्ति के साथ जुड़ी, जो हमारी जैविक विद्युत काम की वृत्ति के साथ जुड़ी, वह विद्युत बाहर निकलना चाहती है। जब बाहर निकल जाती है तब ऐसा लगता है कि शांति मिली, बड़ा सुख मिला। जब वह भीतर ही रहती है तब प्रतिरोध करना शुरू करती है और भीतर ही भीतर कचोटने लगती है। काम का सुख, क्रोध का सुख, वृत्ति का सुख मात्र इतना है कि विद्युत का बाहर निकल जाना। जैसे फोड़े में पीप पड़ जाती है और उसे दबाकर पीप को निकाल देने पर व्यक्ति को सुख होता है, शांति होती है। जैसे पीप विजातीय पदार्थ है और उसके बाहर निकलने पर शांति मिलती है। वैसे ही काम की विद्युत जब बाहर निकल जाती है तब व्यक्ति को लगता है कि कुछ खाली हुआ है। उसे सुख का अनुभव होता है।

क्रोध आता है और वह क्रोधी व्यक्ति यदि दस-बीस गालियां बक देता है तो उसका मन शांत हो जाता है। उसे सुख का अनुभव होता है। जिसको मारना-पीटना है, यदि उसे मारपीट दिया जाता है तो सुख का अनुभव होता है। इनमें होता क्या है? केवल इतना ही होता है कि जो विद्युत इन वृत्तियों के साथ जुड़ी हुई थी, वह बाहर निकल गई। कार्य समाप्त हो गया। विद्युत को खर्च करने से आदमी खाली हो जाता है। वह निराशा से भर जाता है। उसका धैर्य समाप्त हो जाता है। उसकी प्रतिभा नष्ट हो जाती है। उसकी चिंतन-शक्ति समाप्त हो जाती है। उसकी सारी अच्छाइयां चुक जाती हैं।

शरीर का बल, मन और बुद्धि का बल नष्ट हो जाता है। प्राणधारा को सक्रिय रखने वाला ईंधन समाप्त हो जाता है। ईंधन के साथ-साथ सक्रियता समाप्त हो जाती है, इसलिए ईंधन को चुका देना मूर्खता है। एक दिन ऐसा आता है कि आदमी शक्तिशून्य हो जाता है। वह ढीला हो जाता है। मन शक्तिहीन हो जाता है। सारा का सारा शून्य-सा लगने लगता है। हम विद्युत को खर्च न करें, केवल वृत्ति का रेचन करें। वृत्तियों के जो परमाणु हैं, उन परमाणुओं का रेचन करो, विद्युत को खर्च मत करो। विद्युत को सुरक्षित रखो, यह है अध्यात्म की प्रक्रिया।

प्रक्रिया संवर और निर्जरा की

दमन की बात उपयुक्त नहीं है। अध्यात्म के किसी भी अनुभवी आचार्य ने दमन का प्रतिपादन नहीं किया। प्राचीन ग्रंथों में दमन की भाषा नहीं मिलती। हो सकता है कि धर्म के कुछ आचार्यों ने ऐसा लेखन किया हो, पर उसे अनुभवशून्य लेखन ही मानना चाहिए। हर किसी लेखक की बात मान्य नहीं होती। उसी लेखक की बात मान्य होती है, जो प्रत्यक्षज्ञानी है, कषायशून्य है, सम्यक् दृष्टिकोण से संपन्न है, आत्मा को उपलब्ध है, जो अध्यात्म की गहराई में उतरने का अभ्यस्त है, उसकी बात मान्य होती है, प्रमाण होती है। दूसरे व्यक्ति की बात प्रमाण नहीं होती। धर्मग्रंथों में यत्र-तत्र दमन के कथन प्राप्त होते हैं, परंतु यह नहीं कह सकते कि सभी धर्मग्रंथों में यह बात मान्य रही है। कई लोगों ने धर्मगुरुओं पर, धर्म पर बहुत बड़ा आक्षेप किया है कि धर्मगुरु दमन सिखाते हैं, धर्म दमन सिखाता है। यह मिथ्या आक्षेप है। इसमें सचाई नहीं है।

धर्मशास्त्र कभी दमन नहीं सिखाते। धर्मशास्त्र रेचन की बात सिखाते हैं। तपस्या की पूरी प्रक्रिया निर्जरा की प्रक्रिया है। धर्मशास्त्र निर्जरा की प्रक्रिया सिखाते हैं। धर्मगुरु निर्जरा का रास्ता दिखाते हैं। निर्जरा की प्रक्रिया दमन की

प्रक्रिया नहीं है, रेचन की प्रक्रिया है। जो कर्म परमाणु आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं, जो हमारी वृत्तियों को जगाते हैं, उन सारे परमाणुओं का रेचन कर देना, उन्हें समाप्त कर देना, उनका शोधन कर देना–यह है निर्जरा की प्रक्रिया। रेचन और संवर–दोनों साथ-साथ चलें। पुराने परमाणुओं को झाड़ देना और नए परमाणु भीतर न आने देना, ऐसी व्यवस्था करना। यह दोहरी व्यवस्था धर्म के आचार्यों ने की है, इसलिए मैं मानता हूं कि धर्म के आचार्य या धर्मशास्त्र वृत्तियों के दमन की बात नहीं बताते। यदि वृत्तियों के दमन की ही बात होती तो निर्जरा की प्रक्रिया हमारे सामने नहीं आती।

ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहणः वृत्ति का शोधन

मनोविज्ञान ने जो रूपांतरण की बात का प्रतिपादन किया है, वह सामाजिक स्तर का रूपांतरण है। उसके पास अध्यात्म की प्रक्रिया नहीं है। अध्यात्म-साधना में एक ऐसी प्रक्रिया का प्रतिपादन है, जिसके द्वारा व्यक्ति की वृत्तियों का विलीनीकरण हो जाता है और नए चैतन्य का उदय होता है। हमारी वृत्तियां जागती हैं काम-केन्द्र के पास। क्रोध की वृत्ति, भय और काम-वासना की वृत्ति काम-केन्द्र के आसपास जागती है। नाभि के पास दो एड्रिनल ग्रंथियां हैं। वे वृत्तियों को उत्तेजित करती हैं। जब ऊर्जा नाभि के आसपास घूमती है तब क्रोध, भय और काम की वृत्तियां बार-बार उभरती हैं और व्यक्ति को सताती रहती है। साधना से ऊर्जा का दिशांतरण करना है, उसके प्रवाह को बदल देना है, उसकी दिशा को बदल देना है। जो ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित होकर निम्न वृत्तियों को शक्ति देती है, सक्रिय करती है, उसको ऊर्ध्वगामी बनाना, ज्ञानकेन्द्र की ओर प्रवाहित करना साधना का मूल लक्ष्य है। जब ऊर्जा ऊपर की ओर बहने लग जाती है तब वृत्तियां शांत हो जाती हैं। जब ऊर्जा ज्ञानकेन्द्र तक पहुंचती है तब वृत्ति-केन्द्रों का ही शोधन होने लग जाता है।

लेश्या के सिद्धांत में बताया गया है कि कृष्णलेश्या नीललेश्या के भावों को प्राप्त कर नीललेश्या में बदल जाती है। नीललेश्या कापोतलेश्या के भावों को प्राप्त कर कापोतलेश्या में बदल जाती है। इसी प्रकार कापोतलेश्या तेजोलेश्या में, तेजोलेश्या पद्मलेश्या में और पद्मलेश्या शुक्ललेश्या में बदल जाती है।

दूध में दही डाला, दूध दही बन गया। सफेद कपड़े को जिस रंग में रंगा, वह उसी रंग का बन गया। सफेद कपड़ा काला, नीला, पीला, लाल, बैंगनी–सभी रंगों का बन जाता है। वैडूर्यमणि काले धागे में पिरोने से काली

झांई वाला, नीले धागे में पिरोने से नीले झांई वाला और लाल धागे में पिरोने से लाल झांई वाला हो जाता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, वैसा ही प्रतिबिंबित हो जाता है। इसी प्रकार हमारी लेश्याएं भी भावों के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती हैं। जैसे-जैसे लेश्याएं बदलती हैं, वैसे-वैसे हमारा आभामंडल भी बदलता रहता है।

हम लेश्याओं का परिवर्तन कर अपनी वृत्तियों को बदल सकते हैं, उनका संशोधन कर सकते हैं। इस प्रक्रिया से हम कामकेन्द्र का भी शोधन कर सकते हैं। उसे ऐसा निर्मल बना सकते हैं कि वहां काम और क्रोध की वृत्तियां आएं, पर जाग न पाएं, सक्रिय न बन पाएं। वह इतना निर्मल बन जाएगा कि वृत्तियां उभरेंगी ही नहीं। वहां एक मैग्नेटिक फील्ड–चुंबकीय क्षेत्र बन जाता है, फिर उन निम्न वृत्तियों को वहां स्थान ही नहीं मिलता। वृत्तियां जागें, पर भीतर ही विलीन हो जाएं–यह ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा से ही संभव है।

हम ध्यान साधना के द्वारा वृत्तियों का दमन नहीं करते, किंतु ऊर्जा के ऊर्ध्व पथ में प्रवाहित कर उसको विलीन कर देते हैं। जब हमारी ऊर्जा ज्ञानकेन्द्र में जाती है तब सारी निम्न वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। थॉयराइड, कंठमणि, पिट्यूटरी, पीनिअल, विशुद्धिकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र, ज्योतिकेन्द्र, शांतिकेन्द्र–ये सब ज्ञानकेन्द्र हैं, ज्ञान के भाग हैं। ऊर्जा ऊपर उठकर इन केन्द्रों को सक्रिय करती है। जब ये केन्द्र सक्रिय होते हैं तब वृत्तियां अपने आप शुद्ध होने लगती हैं, उनका रेचन होने लगता है। बिना जागे, बिना उदय में आए, बिना विपाक दिए, बिना फल दिए, एक ऐसी उदीरणा होती है कि वृत्तियों का स्वत: रेचन हो जाता है। साधक का सर्वोपरि कार्य है ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन करना न कि वृत्तियों का दमन करना।

जो व्यक्ति धार्मिक होकर भी ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह वृत्तियों का संशोधन नहीं कर सकता। वह दमन की स्थिति में चला जाता है। अध्यात्म की समूची साधना, योग की समूची साधना, ध्यान की समूची साधना ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण की साधना है।

प्राण-चिकित्सा

किसी का सिर दु:खता है। दूसरा व्यक्ति उसके सिर पर हाथ रखता है, सिर दबाता है। उसको लगता है कुछ आराम हो रहा है। शरीर के किसी भाग में दर्द है। स्पर्श किया जाता है, दबाया जाता है, दर्द मिट जाता है। व्यक्ति

को सुख का अनुभव होता है। यह सारा प्राणशक्ति का कार्य है। एक व्यक्ति की प्राणधारा, विद्युतधारा दूसरे व्यक्ति की प्राणधारा या विद्युतधारा से संयुक्त होती है तब सुख का अनुभव होता है। यह प्राणचिकित्सा है। इसे यदि हम अध्यात्म-चिकित्सा या अध्यात्म-साधना मान लेते हैं, ध्यान की साधना मान लेते हैं तब बहुत बड़ी भ्रांति हो जाती है। यह सच है कि प्राणचिकित्सा के द्वारा रोगों को ठीक किया जा सकता है।

प्राणशक्ति के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की विद्युत को छूकर, उसकी मानसिक कुंठाओं को मिटा सकता है, उसकी दमित वासनाओं को रूपांतरित भी कर सकता है। किसी पुरुष का स्त्री के प्रति अनासक्त भाव हो गया। किसी दुर्घटना के कारण मन में ग्लानि हो गई, प्राण-शक्ति का प्रयोग कर इस ग्लानि को मिटाया जा सकता है, उस पुरुष में स्त्री के प्रति पुनः अनुराग उत्पन्न हो सकता है, किंतु यह कोई ध्यान या अध्यात्म का प्रयोग नहीं है। यह मात्र प्राण का प्रयोग है।

स्थूलभद्र मंत्री के पुत्र थे। वे बचपन से ही स्त्री से घबराते थे। स्त्रियों के सहवास से डरते थे। मंत्री को यह अच्छा नहीं लगा। वे अपने पुत्र को विवाहित देखना चाहते थे। उन्होंने अपने राज्य की प्रसिद्ध वेश्या कोशारूपा के घर स्थूलभद्र को भेजा। वेश्या से मंत्री ने कहा–'इसमें स्त्री के प्रति आकर्षण पैदा करना है। तुम अपनी समस्त कलाओं का उपयोग कर इसे काम-कला में निपुण बना देना।' वेश्या ने प्रयोग किए और स्थूलभद्र में काम के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। क्या इसको हम आध्यात्मिक प्रयोग मानेंगे? क्या यह ध्यान-साधना है? यह सच है कि वेश्या ने स्थूलभद्र की मानसिक चिकित्सा की और उसको स्त्रियों के प्रति उन्मुख किया। स्त्रियों के प्रति मन में जो ग्लानि थी, वह समाप्त हो गई।

आजकल धर्म के नाम पर योगाभ्यास और ध्यान-साधना के नाम पर चलने वाले कुछ आश्रमों में इस प्रकार की कुंठा वाले स्त्री-पुरुषों पर मुक्त-यौनाचार का प्रयोग करते हैं और उनकी कुंठाओं को समाप्त करते हैं। जो पुरुष स्त्री के पास जाने से या जो स्त्री पुरुष के पास जाने से घबराती है, उसकी इस कुंठा को यौनाचार के द्वारा समाप्त कर ध्यान-साधना की दुहाई देते हैं, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। यह ध्यान के नाम पर यौनाचार को बढ़ाने का प्रयास मात्र है। यह माना जा सकता है कि इस प्रकार की प्रक्रिया से उसकी मानसिक चिकित्सा हो सकती है, किंतु इसे हम अध्यात्म-साधना या ध्यान-साधना नहीं मान सकते। यह मन की कुंठा की चिकित्सा मात्र है और कुछ नहीं।

यदि हम इसे ध्यान या अध्यात्म की साधना मानें तो वेश्या कोशारूपा का स्थान पहला होगा। उसने स्थूलभद्र की मानसिक कुंठा को मिटाया, उसको उतना ही मूल्य देना होगा, जितना मूल्य आज कुछेक आश्रमों में दिया जा रहा है। कोशारूपा ऐसी एक वेश्या नहीं थी। अनेक वेश्याओं ने इस प्रकार के कार्य किए हैं। वे चौसठ कलाओं में निपुण होती थीं। उनमें एक मुख्य कला होती थी कि वे अपने प्रयोगों से यौन-कुंठाओं को मिटाती थीं। इस विधि से वे अनेक पुरुषों को कामुकप्राणी बना देती थी। क्या हम उन वेश्यालयों को अध्यात्म ध्यान-केन्द्र मान लें? आज के कुछेक आश्रमों में और उन वेश्यालयों में क्या अंतर है? उन आश्रमों में प्रयोग इसी आधार पर हो रहे हैं कि 'दमन मत करो', भोग करो के सिद्धांत पर चलते हैं। उन्होंने 'दमन' शब्द को पकड़ लिया। उसका प्रतिफलन हुआ मुक्तवासना। मुक्त यौनाचार को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया।

मार्क्स ने कल्पना की थी कि साम्यवादी शासन में कोई परिवार नहीं होगा। कोई पत्नी नहीं होगी, कोई पति नहीं होगा। कोई बाप नहीं होगा। कोई बेटा नहीं होगा, उसकी कल्पना साकार नहीं हुई। यदि साकार होती तो आज अध्यात्म के किसी आचार्य को मुक्त-यौनाचार जैसे प्रयोग नहीं करने पड़ते। यह तो मार्क्स पहले ही कर गए। कल्पना थी। वह सफल नहीं हुई, यह अलग बात है। आज जो साम्यवादी देश हैं, जहां मार्क्स के सिद्धांतों का क्रियान्वयन हो रहा है, वहां भी यह बात नहीं बनी। आज वहां भी परिवार है। पति-पत्नी हैं, बाप-बेटा हैं। सबकुछ है।

आज के युवक में मुक्त यौनाचार के प्रति आकर्षण है और वह ऐसे स्थानों में जाना चाहता है, जहां मुक्त-यौनाचार किसी भी नाम से चलता हो, चाहे वह ध्यान की गहराई में जाने के नाम से चले या कुंठा-निवारण के लिए चले, किंतु इसका परिणाम कितना भयंकर होता है, यह सबको ज्ञात है। हम परिणामों को विस्मृत न करें। प्रवृत्ति का क्षण हमारे लिए मूल्यांकन का क्षण नहीं होता। हम उसे कसौटी नहीं मान सकते। कसौटी बन सकता है परिणाम का क्षण, कसौटी बन सकता है निष्पत्ति और फल का क्षण। यदि मुक्त-यौनाचार के प्रयोगों के परिणामों पर हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इतने खराब परिणाम आएंगे कि सारा सामाजिक ढांचा ही विकृत हो जाएगा, लड़खड़ा जाएगा।

गांधी ने इस दिशा में प्रयोग किए। प्रयोग हो सकते हैं, प्रयोगों को मैं अस्वीकार नहीं करता। जैन परंपरा में विजय सेठ और विजया सेठानी के वृत्तांत की चर्चा है। वे दोनों आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर चुके थे। दोनों एक शय्या पर सोते, किंतु थे पूरे ब्रह्मचारी। यह प्रयोग था उनका, किंतु ऐसे विरल व्यक्तियों के प्रयोगों को हम सामाजिक स्तर पर लाना चाहें तो यह हमारी बहुत बड़ी भूल होगी। सब मुक्त हो जाएंगे। किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं रहेगा। परिवार नाम की कोई चीज नहीं रहेगी। पतिव्रत और पत्नीव्रत जैसे शब्द आकाश-कुसुम बन जाएंगे।

मुक्त-यौनाचार का प्रयोग करने वाले इसे भारतीय विकास का हेतु मानते हैं। यह उनका चिंतन है। सबका अपना-अपना चिंतन है। सिद्धांततः और अनुभव के आधार पर इस बात पर विचार करें तो हम दोनों तटों–दमन और मुक्त यौनाचार को एक दृष्टि से देखेंगे कि दमन जितना अपराध है अपने व्यक्तित्व के प्रति, उतना ही अपराध है उन्मुक्तता या उच्छृंखलता अपने व्यक्तित्व के प्रति। हम इन दोनों से बचकर रेचन की बात सीखें, रेचन करना जानें। जब ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा होगी तब हमारी समस्याएं अपने आप समाहित होंगी और हम इस प्रकार की भ्रांत दिशाओं में जाने से बच जाएंगे।

14. आभामंडल और शक्ति-जागरण (1)

हम सब ज्योति की साधना के लिए उपस्थित हैं। ज्योति दो प्रकार की होती हैं–आत्मा की ज्योति और तैजस की ज्योति। हम दो ज्योतियों के बीच अपना उपक्रम कर रहे हैं। एक है आत्मा की ज्योति। वह जलती है, पर उसके प्रकाश का पता नहीं चलता। वह प्रकाश कभी बुझता नहीं। वह एक ऐसा दीप है, जो निरंतर जलता रहता है। उसमें ईंधन की आवश्यकता नहीं होती। उसमें सहज ही ऐसी शक्ति है कि वह सदा प्रज्वलित रहता है।

दूसरी है तैजस की ज्योति। यह हमारे शरीर की ज्योति है। हमारा एक सूक्ष्म-शरीर है तैजस शरीर। ध्यान काल में कभी स्फुलिंग सामने आते हैं, कभी चिनगारियां उछलती हैं और कभी रंग सामने आते हैं। ये रंग, चिनगारियां और स्फुलिंग–सभी तैजस शरीर में से निकलते हैं और कभी-कभी दिखाई देते हैं। जब हमारा मन सूक्ष्म होता है, एकाग्र होता है तब वह उन्हें पकड़ लेता है।

साधना में बाधक तरंगें

ज्योति की साधना में कुछ बाधाएं भी हैं। ये बाधाएं हैं वृत्तियों की। हमने बहुत सारी वृत्तियां अर्जित कर रखी हैं और ये समय-समय पर उभरती रहती हैं। हमारे नाड़ी-संस्थान में तरंगें उठती रहती हैं। कभी किसी चैतन्यकेन्द्र से तरंग उठती है और कभी किसी चैतन्यकेन्द्र से। नाना वृत्तियां, नाना केन्द्र और नाना प्रकार की तरंगें। ये तरंगें स्नायुओं को उत्तेजित करती हैं। उत्तेजना अभिव्यक्त होती है। यह साधना में बाधा बन जाती है। हम अभ्यास यह करते हैं कि तरंग न उठे, हमारा स्नायु संस्थान उस तरंग को स्थान न दे, उसे अपने पर न उतारे। हम स्नायु संस्थान के शोधन की साधना करते हैं, संस्कारों के शोधन की साधना करते हैं। साधना में सबसे बड़ी बाधा है क्रोध की, भय की और कामवासना की। ये तीन मुख्य बाधाएं हैं। कभी अप्रियता की अनुभूति होती है और तत्काल क्रोध उभर आता है। कभी काम की तरंगें उठती हैं। भय की तरंग तो बनी ही रहती है। जब तक साधक इन तरंगों से छुटकारा नहीं पा

लेता, तब तक वह निर्विघ्नरूप से आगे नहीं बढ़ सकता। इनसे निपटने से पहले हमें अपने दृष्टिकोण को शुद्ध बनाना होगा। हमारा दृष्टिकोण बहुत संक्रांत है। वह एक पारदर्शी स्फटिक है। इसकी भी एक कठिनाई है। जो पारदर्शी होता है, वह दूसरे का प्रतिबिंब बहुत जल्दी पकड़ लेता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, स्फटिक उस रंग को पकड़ लेता है। वह वैसा प्रतिभासित होने लग जाता है। दृष्टिकोण की कठिनाई है, उसकी पारदर्शिता की कठिनाई है उसकी संक्रामकता। हम इस संक्रामकता से कैसे बचें?

हमारे सामने नाना प्रकार के विचार आते हैं और वे हमारे दृष्टिकोण से संक्रांत हो जाते हैं। हम अध्यात्म की यात्रा के लिए चलते हैं। हमने तैयारी की कि हम आत्म-दर्शन करें, आत्मा की यात्रा करें। राग हमारे बीच बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। वह हमारे दृष्टिकोण में संक्रांत हो जाता है।

काम का मार्गांतरण

अध्यात्म की भाषा में जो राग है, मनोविज्ञान की भाषा में वही सेक्स या काम है। मनोवैज्ञानिकों ने एक शब्द का प्रयोग किया–लिबिडो। यह कामशक्ति का बोधक है। जो कामशक्ति है, उसका संबंध केवल सेक्स से ही नहीं है। 'लिबिडो' शब्द सेक्स का पर्यायवाची नहीं है, फिर भी स्थूल या सांकेतिक रूप में मनोविज्ञान काम शब्द को सेक्स के द्वारा अभिव्यक्त करता है। जब तक काम का दिशांतरण नहीं होता, जब तक राग को नई दिशा नहीं दे देते, तब तक अध्यात्म की यात्रा नहीं हो सकती। काम का दिशांतरण या मार्गांतरण बहुत जरूरी है। एक दिशा से जल आ रहा है। वह जिसे सिंचन दे रहा है, वह अवश्य पनपेगा। जब तक हम जल-प्रणालिका को नहीं बदल देते, तब तक नई पौध पैदा नहीं होगी। यदि नई पौध पैदा करनी है तो जल-प्रणालिका को मोड़ना होगा, उसकी दिशा बदलनी होगी। जो पहले से सींचा जा रहा है, उस मार्ग को बंद कर नई नहर निकालनी होगी, जिससे वह जल दूसरों का सिंचन कर सके।

विद्युत का चमत्कार

राग, आकर्षण या श्रद्धा–तीनों एकार्थक हैं। साधना का यही लक्ष्य है कि हमारी रागानुभूति, हमारा आकर्षण जिस विद्युत के प्रति है, उससे मोड़कर नई विद्युत के प्रति आकर्षण पैदा करना। काम, राग–ये सब विद्युत के साथ जुड़े हुए हैं। यह सब विद्युत का ही चमत्कार है। राग क्या है? एक व्यक्ति की विद्युत सामने वाले व्यक्ति की विद्युत से संयुक्त होती है। दोनों का संयोग होता है और राग निर्मित हो जाता है। यदि विद्युत अनुकूल नहीं है तो राग निर्मित नहीं होगा।

इसीलिए एक व्यक्ति के प्रति राग होता है, दूसरे के प्रति नहीं होता। हम बहुत बार सोचते हैं कि अत्यंत कुरूप पुरुष के प्रति सुंदर स्त्री का राग कैसे हुआ? जिसकी विद्युत शक्तिशाली होती है, वह दूसरे को आकृष्ट कर लेती है। इसमें रंग, रूप या संस्थान बाधक नहीं बनता। विद्युत की अनुकूलता में ऐसा अनुराग उत्पन्न होगा कि दूसरे उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। मुग्धता रंग के प्रति नहीं होती। मुग्धता संस्थान या आकृति के प्रति नहीं होती। मुग्धता होती है विद्युत के प्रति। जब अनुकूलधर्मा विद्युत मिलती है तो दो व्यक्ति आपस में बंध जाते हैं। विद्युत विद्युत को पकड़ती है, बांधती है।

तीन साधन विद्युत बहिर्गमन के

काव्य शास्त्रों में उल्लिखित है कि स्त्री दूसरों को आकृष्ट करने के लिए अपने कटाक्ष के बाणों का प्रक्षेप करती है। यह कटाक्ष क्या है? बहुत बार सोचा, किंतु इसका यथार्थ समाधान नहीं मिला, किंतु जब ध्यान साधना में उतरा तो यह स्पष्ट हो गया। हमारे मस्तिष्क में यह विद्युत पैदा होती है। आंख मस्तिष्क का दरवाजा है। मस्तिष्क को देखने के दो उपाय हैं–मस्तिष्क को शल्य क्रिया द्वारा देखा जा सकता है या आंख के मार्ग से उसको पूरा देखा जा सकता है। मस्तिष्क की विद्युत आंख से बाहर निकलती है।

शरीर की विद्युत के बहिर्गमन के तीन मुख्य साधन हैं–आंख, अंगुलियां और वाणी। आंख के माध्यम से जो विद्युत बाहर जाती है, वह जब दूसरे व्यक्ति की विद्युत से टकराती है तब व्यक्ति सम्मोहित जैसा हो जाता है। सारा काम विद्युत का है, इसलिए जब तक हम विद्युत की गरिमा या कार्यप्रणाली को नहीं समझ लेंगे, तब तक काम या राग का दिशांतरण या मार्गांतरण घटित नहीं होगा। जो व्यक्ति अपनी विद्युत को, ऊर्जा को मोड़ देता है, जो ज्ञान के प्रति, धर्म के प्रति, आत्मा के प्रति ऊर्जा को मोड़ देता है, उसकी काम-ऊर्जा शिथिल हो जाती है। उसकी रागानुभूति कम हो जाती है। जिस राग-प्रणालिका से बहता हुआ जल काम को, सेक्स को सिंचन देता था, वह मार्ग धीरे-धीरे बंद होता जाता है और नया मार्ग खुल जाता है। वह जल दूसरे मार्ग से बहने लगता है।

राग के दो प्रकार

अध्यात्म शास्त्र में राग के दो भेद प्राप्त होते हैं–प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। जो राग धर्म के प्रति होता है, आत्मा के प्रति होता है, धर्ममूर्ति पुरुष के प्रति होता है, वह है प्रशस्त राग। जो राग विषयों के प्रति, पदार्थों के प्रति होता है, वह है अप्रशस्त राग। **धम्माणुरागरत्ते**–जो व्यक्ति धर्म के अनुराग से रक्त

होता है, वह धार्मिक होता है। यहां भी अनुराग है। राग नहीं मिटा। केवल इतना-सा अंतर आया कि जो राग विषयों या पदार्थों के प्रति दौड़ता था, वह राग धर्म के प्रति हो गया। वह राग सत्य की खोज के प्रति हो गया। राग के बिना काम नहीं चलेगा। जब तक व्यक्ति वीतराग अवस्था तक नहीं पहुंच जाता, जब तक उसके सारे कषाय क्षीण नहीं हो जाते, तब तक राग से सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकता, किंतु यहां राग का दिशांतरण होता है। व्यक्ति का राग धर्ममय बन जाता है, धर्म के प्रति, सत्य के प्रति हो जाता है। पदार्थ के प्रति विराग हो जाता है। साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है–**अनुरागाद् विरागः।** अनुराग से विराग होता है। एक के प्रति अनुराग, दूसरे के प्रति विराग। विराग और राग–दोनों सापेक्ष हैं। जब आत्मा के प्रति राग उत्पन्न होता है तब पदार्थ के प्रति विराग होता है। जब पदार्थ के प्रति राग उत्पन्न होता है तब आत्मा के प्रति विराग होता है। आत्मा और पदार्थ दोनों के प्रति एक साथ राग या विराग नहीं हो सकता।

विकास का मार्ग है उदात्तीकरण

कुछेक व्यक्ति यह कहते हैं कि काम नैसर्गिक है। उसे छोड़कर नया मार्ग क्यों बनाएं? मैथुनसंज्ञा प्राणिमात्र की स्वाभाविक संज्ञा है। उसको क्यों बदला जाए? यह प्रश्न स्वाभाविक है–काम व्यक्ति का नैसर्गिक गुण है, प्राकृतिक गुण है, इतना कहने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। सच यह है कि जब तक हम प्राकृतिक गुणों का भी उदात्तीकरण नहीं कर लेते, तब तक हम पशु की भूमिका में ही रह जाते हैं। पशु मनुष्य इसलिए नहीं होता कि वह प्रकृति-प्रदत्त नियमों का विकास करना नहीं जानता, मार्गांतरीकरण या उदात्तीकरण करना नहीं जानता। मनुष्य की क्षमताओं का इसीलिए विकास हुआ कि वह प्रकृति-प्रदत्त या नैसर्गिक गुण-धर्म जो उसे उपलब्ध है, वह उनका शोधन करना जानता है, विकास करना जानता है, उनका उदात्तीकरण करना जानता है और उनको नया मूल्य देना जानता है। इसीलिए मनुष्य-मनुष्य है। उसने नई दिशाएं खोजी हैं और वह अपनी चेतना को सार्थक कर पाया है।

यदि मनुष्य काम को नैसर्गिक मान कर बैठ जाए और पशु की भांति उसका अनियंत्रित उपयोग करता चला जाए तो समाज ही नहीं बनेगा। समाज तब बना जब उसने एक व्यवस्था की, कुछ रेखाएं खींची। पशु नया मार्ग खोजना नहीं जानता, नया दरवाजा खोलना नहीं जानता और अपनी ऊर्जा के प्रवाह को और अधिक उपयोगी बनाना नहीं जानता। इसीलिए वह जहां था, वहीं है और वहीं रहेगा।

एक तर्क दिया जाता है कि पशु नंगा रहता है, पर भद्दा नहीं लगता। पशु मुक्त-यौनाचार करता है उसे संकोच नहीं होता, लज्जा का अनुभव नहीं होता। जब पशु ऐसा करता है, फिर मनुष्य क्यों न करें? **संभोग से समाधि** जैसे सिद्धांतों में ऐसे तर्क दिए जाते हैं। कितना हास्यास्पद है? आज यदि समूचा मानव-समाज पशु बन जाए और फिर इन प्राकृतिक नियमों का उपयोग करे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। एक ओर तो मनुष्य पाशविक नियमों को छोड़कर नए समाज का निर्माण करना चाहता है और न जाने कितने गुण-धर्मों का विकास करना चाहता है, दूसरी ओर काम-वासना की तृप्ति के लिए पशु के गुण धर्मों का उपयोग कर मुक्त भोगेच्छा को समर्थित करना चाहता है, यह कैसा द्वैध! क्रोध स्वाभाविक है। काम स्वाभाविक है। भय स्वाभाविक है। इन्हें सीखना नहीं पड़ता। स्वाभाविक का अर्थ है, जिसको सीखना नहीं पड़ता, जो अन्य के साथ-साथ आता है, वह होता है स्वाभाविक। क्रोध सीखना नहीं पड़ता, क्षमा सीखनी पड़ती है। भय सीखना नहीं पड़ता, अभय सीखना पड़ता है। अब्रह्मचर्य सीखना नहीं पड़ता, ब्रह्मचर्य सीखना पड़ता है।

मनुष्य की महानता का कारण

इस प्रकार कुछ नैसर्गिक हैं और कुछ साधनालब्ध। नैसर्गिक को ही सबकुछ मानकर चलने पर समाज नहीं बनता। मनुष्य ने इन सारी नैसर्गिक बातों को उदात्त किया है। उनका मार्गांतरीकरण कर मनुष्य ने अपनी विशेषताएं अर्जित की हैं। यदि मनुष्य की सारी ऊर्जा प्राकृतिक नियमों को पूर्ण करने में ही बहती तो आज मनुष्य इतना ज्ञानी नहीं होता, इतना कला-निपुण नहीं होता। वह न सत्यों की खोज कर पाता और न सूक्ष्म रहस्यों से परिचित हो पाता। मनुष्य ने जो महानताएं, विशेषताएं उपलब्ध की हैं, वे अपनी ऊर्जा का दिशांतरण करके ही की हैं। एक व्यक्ति सत्य की खोज में लगा, धर्म की साधना में लगा और सारा जीवन उसमें खपा डाला। उसकी ऊर्जा सत्य की खोज में लगी और उसने सारे जगत को नए-नए सत्यों से भर डाला। सारा संसार उनसे उपकृत हुआ।

महान ग्रंथ है भामती

जब-जब भी आदमी ने बड़ा काम किया है, उसने अपने अनुराग के प्रवाह को दिशांतरित करके ही किया है। वाचस्पति मिश्र ने एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखना प्रारंभ किया। वे विवाहित थे। अभी-अभी विवाह संस्कार हुआ था। वे दिन-रात उस ग्रंथ के लेखन में लग गए। सारा अनुराग ग्रंथ-लेखन में

लग गया। बारह वर्ष बीत गए। प्रतिदिन नवोढ़ा आती और बुझते दीपक में तेल डाल कर चली जाती। उसका यह क्रम प्रतिदिन चलता रहा, ग्रंथ समाप्ति पर था। रात का समय। वाचस्पति लिख रहे थे। पत्नी आई। दीप में तेल डाल वह जाने लगी। वाचस्पति ने आंखें ऊपर उठाकर पूछा–'अरे! तुम कौन हो? यहां क्यों आई हो?' उसने कहा–'मैं आपकी पत्नी भामती हूं'। यह सुनते ही उन्हें विवाह की स्मृति हो आई। बारह वर्ष का विवाह-संस्कार साकार हो उठा। उन्होंने कहा–'माफ करना। मैं भूल गया था। मुझे भान ही नहीं था कि मैंने विवाह किया है।' अंत में उन्होंने अपनी पत्नी की स्मृति में उस ग्रंथ का नाम रखा–'भामती'।

इतने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की रचना तभी हो पाई, जब अनुराग का प्रवाह बदला। यदि ऊर्जा का प्रवाह कामवासना की ओर बहता तो इस महान ग्रंथ की रचना नहीं हो पाती, इसलिए मैथुन को, संभोग या कामवासना को नैसर्गिक मान लेने पर भी यदि हम नैसर्गिक प्रणालिका में बहने वाली ऊर्जा को दूसरी दिशा में नहीं ले जाएंगे तो फिर मनुष्य पशु ही होगा। वह आज के अर्थ में मनुष्य नहीं बन पाएगा, इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम नैसर्गिक राग को एक नया रास्ता, नया मार्ग दें और उसके लिए नया दरवाजा खोलें।

एक बात है कि मुक्त भोग का प्रतिपादन करने वाली विचारधारा के अनुसार प्रेम की महासत्ता का ही दूसरा नाम है 'काम'। अतः प्रेम को विस्तार देने के लिए काम की मुक्तता अनिवार्य है। काम प्रेम का ही अंग हैं अर्थात् राग का ही अंग है। यह सच है कि सबकुछ राग से ही चलता है, प्रेम से ही चलता है, किंतु राग को मुक्त करने की बात बहुत भयंकर है। काम का मुक्त उपयोग कैसे संभव हो सकता है? हम इस संभावना पर विचार करें। क्रोध प्राकृतिक धर्म है। क्या हम उसका मुक्त उपयोग करें? यदि क्रोध का मुक्त उपयोग होने लग जाए तो न परिवार चलेगा, न पड़ोस चलेगा और न समाज ही चलेगा। सब बिखर जाएगा।

मनुष्य ने सबसे पहले एक समझौता किया। उसकी शर्त है कि मैं तुम्हें बाधा नहीं पहुंचाऊंगा, तुम मुझे बाधा नहीं पहुंचा सकोगे। इस समझौते के आधार पर समाज बना, गांव बने। हजारों व्यक्ति साथ रहने लगे। यदि यह समझौता नहीं होता तो न समाज बनता और न गांव बसते। सारा जंगल ही होता, जहां एक जानवर दूसरे पर झपटता है, मारता है। प्रेम, अहिंसा और मैत्री की पहली निष्पत्ति है–समूह में रहना, गांव का बसना। गांव या नगर का

विकास, समाज का विकास इसी अहिंसा के समझौते के आधार पर हुआ है। परिवार का विकास भी इसी आधार पर हुआ है। यदि काम अनियंत्रित होता, उसका उपभोग मुक्त होता तो न परिवार बनता, न समाज बनता और न गांव बनता। मुक्त भोग एक-दूसरे परिवार में हस्तक्षेप है। यह हस्तक्षेप अमान्य रहा है समाज व्यवस्था में। ऐसी स्थिति में जहां अध्यात्म-साधना का प्रश्न है, व्यक्ति के उदात्तीकरण का प्रश्न है, वहां मुक्त भोग की बात कभी मान्य नहीं हो सकती।

मैं मानता हूं कि किसी भी वृत्ति का दमन नहीं होना चाहिए। डिप्रेशन खतरनाक होता है। मनोविज्ञान ने इस पर बहुत प्रहार किया है। यह उचित भी है। दमन नहीं करना चाहिए, दबाना नहीं चाहिए, इसका तात्पर्य यह भी नहीं होता कि उसे सर्वथा मुक्त कर देना चाहिए। हमें तीसरा मार्ग खोजना चाहिए। न केवल समाज व्यवस्था की दृष्टि से, किंतु व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से भी हमें तीसरा मार्ग खोजना चाहिए। न दमन का मार्ग अच्छा है और न मुक्तता का मार्ग अच्छा है। अच्छा मार्ग है रूपांतरण का, उदात्तीकरण का, शोधन का। प्रश्न है कि काम के रूपांतरण के सूत्र कौन-से हैं? उसके उदात्तीकरण और शोधन के सूत्र कौन-से हैं?

नीत्से ने कहा–'सब धर्मों ने सेक्स को जहर पिला कर मारना चाहा, किंतु वह मरा नहीं। इतना अवश्य हुआ कि वह विषाक्त होकर, जहरीला होकर जीवित हो गया।' आज काम विषाक्त होकर जी रहा है। वह जहरीला सर्प बन कर डस रहा है। यह बहुत बड़ी सचाई है। जहां दमन होता है, वहां काम मरता नहीं, विषाक्त हो जाता है। व्यक्ति काम को बहुत बड़ा अनर्थ मानते हैं। उसकी बात करने में लज्जा का अनुभव करते हैं। इतना अस्वाभाविक डर, इतना काल्पनिक भय कि भीतर काम की आग भभकती है और बाहर में इतना पानी डालने का प्रयास होता है, दिखावा होता है कि भीतर कुछ नहीं जल रहा है। इस दोहरे व्यक्तित्व ने, काल्पनिक भय ने अनेक प्रश्न पैदा कर दिए और नीत्से जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति को ये बातें धर्म के संदर्भ में लिखनी पड़ीं। इसमें सचाई है। इसे नकारा नहीं जा सकता। हमारी धारणा है कि आंख देखती है। उसमें विकार भी आता है तो आंख को फोड़ देना चाहिए। कितनी आंखें फोड़ेंगे? क्या सारा संसार अंधा बन जाएगा? नई समस्या पैदा हो जाएगी।

प्रयाण की दिशा

काम स्वाभाविक है। साधना के प्रारंभ में ही यदि कोई व्यक्ति यह प्रदर्शित करता है कि वह काम से ऊपर उठ गया, निष्काम बन गया, वीतराग

बन गया तो यह धोखा है, छलना है। यह बहुत बड़ी प्रवंचना है। अपने आपको धोखा, दूसरों को भी धोखा। हम यह मानकर चलें कि जो व्यक्ति साधना शुरू करता है, दिशांतरण का प्रयत्न शुरू करता है, वह एक ही दिन में सिद्ध नहीं हो जाता। प्रयत्न को स्वीकार करें, मार्गांतरण को स्वीकार करें, अभ्यास को स्वीकार करें, साधना को स्वीकार करें, किंतु सिद्धि का प्रदर्शन न करें, सिद्ध होने का प्रदर्शन न करें।

स्वाभाविक वृत्तियां मनुष्य में जागती हैं। साधक में भी जागती हैं और सामान्य मनुष्य में भी जागती हैं। साधक वह होता है, जो वृत्तियों के मार्गांतरीकरण की दिशा में प्रस्थान कर चुका होता है और कोई अंतर नहीं आता। जो इस दिशा में यात्रा प्रारंभ नहीं करता, वह साधक नहीं होता, भले फिर वह गृहस्थ हो या संन्यासी। जो इस दिशा में यात्रा प्रारंभ कर देता है, वह साधक होता है, भले फिर वह गृहस्थ हो या संन्यासी। प्रश्न है प्रयाण का। प्रयाण करने से पूर्व यह प्रश्न आएगा कि हमारा यात्रा-पथ कौन-सा है? हमारे प्रयाण की दिशा कौन-सी है।

तनाव का उत्सर्जन

राग का प्रवाह जो काम की दिशा में जाता है, उसका सबसे बड़ा कारण है तनाव। व्यक्ति में तनाव जितना होता है, उतना ही काम प्रबल होता है। जितना तनाव, उतना काम। तनाव होना, काम की उत्तेजना होना—यह कृष्णलेश्या का परिणाम है। कृष्णलेश्या वाला अजितेन्द्रिय होता है। यह कृष्णलेश्या का भाव है। इसका आभामंडल काला होता है। कृष्णलेश्या का परिणाम जितना प्रबल होगा, तनाव उतना ही ज्यादा होगा। तनाव के कारण व्यक्ति बहुत सारी बुरी आदतों का शिकार होता है। व्यसनों का शिकार होता है।

तनाव को निकालने का एक विचित्र प्रयोग पढ़ा। एक महिला तनावग्रस्त थी। आश्रम में गई। प्रयोग किया, छेड़छाड़ की गई। वह हल्की हो गई। यह प्रयोग पढ़ा। मुझे बड़ी हंसी आई। हल्की हुई होगी वह स्त्री। एक तनाव था। एक विद्युत बाहर निकालना चाहती थी, वह छेडछाड़ से निकल गई। तनाव समाप्त हो गया। एक बार ऐसा महसूस हुआ, किंतु वह स्त्री स्वयं दूसरे तनावों से कितनी भर जाएगी। तनाव मिटाने का यह कोई रास्ता नहीं है, उपाय नहीं है। यह बहुत ही तात्कालिक और क्षणिक उपाय है। एक बार हल्कापन लगता है, पर यह कोई मार्ग नहीं है तनाव मिटाने का।

परिणामदर्शी बनें

आप यात्रा पर हैं। पांच किलो पानी है साथ में। थक गए। पानी जमीन पर उंडेल दिया। अनुभव होगा कि भार हल्का हो गया है। आगे बढ़े, प्यास लगी। अब क्या होगा? अब पता लगेगा कि हल्का क्या होता है, भारी क्या होता है? हम परिणामदर्शी बनें। परिणाम को न भूलें। हम याद रखें कि यात्रा है। प्यास लग सकती है। प्यास को भुलाकर हल्का होने के लिए साथ वाले पानी को उंडेल देते हैं तो यह अच्छा नहीं है।

जो आदमी शराब पीता है, वह भी तनाव को मिटाने के लिए ही तो शराब पीता है। वह क्या बुरा करता है? जब वह तनाव से भर जाता है और अपने आपको भुलाना चाहता है तब वह शराब की शरण में जाता है। अपने आपको भुलाए बिना बेचैनी होती है, अशांति होती है। आदमी ने मदिरा पीनी शुरू की अपने आपको भुलाने के लिए। आदमी ने तंबाकू खाना शुरू किया अपने आपको भुलाने के लिए। आदमी ने गांजा, चरस पीना शुरू किया अपने आपको भुलाने के लिए। आदमी मूर्ख नहीं था कि उसने बिना प्रयोजन इन वस्तुओं का सेवन प्रारंभ किया हो। आज का आदमी अनेक प्रकार के ड्रग्स का प्रयोग करता है, क्योंकि वह चाहता है कि वह भय के तनाव से, चिंता और परिस्थितियों के तनाव से, आस-पास के वातावरण के तनाव से मुक्त हो जाए। उनको भुला दे। वे याद ही न आएं। तनाव को मिटाने के लिए मदिरा पीना बुरी बात नहीं है, किंतु बुरी बात तब बन जाती है जब उसको पीने की आदत स्नायुगत हो जाती है। आदमी ने एक बार मदिरा का पान किया, दो बार किया और पीता ही गया। वह उसकी आदत हो गई। स्नायु अभ्यस्त हो गए। अब मदिरापान व्यसन बन गया। यह बुरा है।

उदात्तीकरण की प्रक्रिया

अध्यात्म के उपाय भी तनाव मिटाने के लिए हैं, पर वे किसी भी स्थिति में बुरे नहीं बनते। अध्यात्म ने उदात्तीकरण की प्रक्रिया प्रस्तुत की। यह मार्ग निरापद है। इसमें कोई दोष नहीं है। एक गांव था। एक बार वहां रोग फैल गया। रोग को मिटाने के लिए अनेक मांत्रिक आए। एक मांत्रिक ने कहा–'मेरे पास भूत है। वह सारा रोग मिटा देगा, पर वह दिखने में बहुत भद्दा है, कुरूप है। यदि उसको देख कर किसी ने मखौल कर दी, कोई हंस गया तो वह सारे गांव को नष्ट कर देगा।'

दूसरे मांत्रिक ने कहा–'मेरा भूत भद्दा है, किंतु बहुत ही शांत है। कोई कुछ भी करे, वह किसी को कष्ट नहीं देता। वह सारे रोग को मिटाने में सक्षम है।'

राजा ने पहले मांत्रिक से कहा–'तुम चले जाओ' तुम्हारा भूत खतरनाक है। रोग मिटाने की बात बाद में है, वह सारे गांव को ही नष्ट कर देगा। ऐसा भूत नहीं चाहिए। गांव में बच्चे भी हैं, बूढ़े भी हैं, स्त्रियां भी हैं। कोई भी उसकी कुरूप आकृति को देखकर हंस भी सकता है। उसकी हंसी सारे गांव की मौत बन जाएगी। ले जाओ अपने भूत को।'

राजा ने दूसरे मांत्रिक से कहा–'तुम इस गांव का रोग मिटाओ। भूत अच्छा है। यह उपाय निरापद है।'

तनाव मिटाने के दो उपाय हैं। एक उपाय है मदिरा का सेवन और दूसरा उपाय है वृत्ति के उदात्तीकरण का। मदिरा के सेवन का उपाय स्थायी नहीं है। वह पुनः तनाव पैदा करता है। वृत्ति के उदात्तीकरण का उपाय स्थायी है। इससे तनाव पैदा नहीं होता।

ध्यान तनाव मिटाने का उपाय

मदिरापान नशा है तो ध्यान भी एक नशा है। इससे भी मादकता आती है, किंतु यह मादकता कोई बुरा परिणाम नहीं छोड़ जाती। बिल्कुल निर्दोष है। इसके साइड-एफेक्ट नहीं होते। अध्यात्म ने कहा–मनुष्य को अपने आपको भूलने की आवश्यकता है। इसे मिटाया नहीं जा सकता। तनाव को समाप्त करने की बात को भी नकारा नहीं जा सकता। तनाव को मिटाने का अचूक उपाय है ध्यान। ध्यान के तीन प्रकार हैं–पहला है कायिक ध्यान अर्थात् शिथिलीकरण। दूसरा है वाचिक ध्यान यानी मौन, इससे वाचिक तनाव मिट जाता है। तीसरा है मानसिक ध्यान, निर्विचारता। विचारों से तनाव आता है। निर्विचार से तनाव समाप्त होता है। ये तीन साधन हैं। चौथा साधन है आंतरिक विद्युत का अनुभव। यह सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है। आंतरिक स्पंदनों का अनुभव करना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जब व्यक्ति पदार्थ के स्पंदनों का अनुभव करता है तब तनाव से भर जाता है। जब व्यक्ति अपने भीतर के स्पंदनों का अनुभव करने लग जाता है, जब वे सुखद स्पंदन जाग जाते हैं तब सुख का अनुभव होने लगता है; अलौकिक सुख की अनुभूति होती है। ये तेजोलेश्या के स्पंदन हैं। जब तक ये स्पंदन नहीं जागते, तब तक नई दिशा नहीं खुलती। जब तक व्यक्ति लाल वर्ण के स्पंदनों

में नहीं जाता, तब तक नई दिशा का उद्घाटन नहीं होता। लाल रंग व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाता है। तेजोलेश्या नया दरवाजा खोलती है। उस व्यक्ति की राग की धारा बदल जाती है, मार्गांतरण हो जाता है। नई शक्ति का अनुभव होता है।

मार्गांतरीकरण के पांच साधन हैं–

१. ध्यान

२. शिथिलीकरण

३. मौन

४. निर्विचारता

५. आंतरिक विद्युत के स्पंदनों का अनुभव।

आप यह मानें कि अभ्यास प्रारंभ करते ही ये सब तनाव मिट जाएंगे, संभव नहीं। अभ्यास करते रहें। प्रयास चालू रहे। निरंतर साधना चलती रहे। मंजिल निकट आती जाएगी। एक दिन हम निश्चित बिंदु पर पहुंच जाएंगे। हमें प्रतिदिन का लेखा-जोखा रखना है। प्रतिक्रमण करना है। हमें देखना है कि हम इतने अर्से से साधना कर रहे हैं, कहां तक हम पहुंच पाए हैं। क्या प्रतिदिन हम आगे बढ़ रहे हैं या हमारी गति पीछे की ओर हो रही है? हम एक डायरी में इसका अंकन लिखें।

ध्यान का मूल सूत्र है जागरूकता, अंतर्मुखता। जब तक जागरूकता और अंतर्मुखता बनी रहेगी तो गृहस्थ साधक को काम नहीं सताएगा, वह तनाव से नहीं भरेगा और तनाव मिटाने के लिए उसे मदिरापायी नहीं बनना पड़ेगा। इस साधना का अभ्यास करने वाले एक साथ वीतराग न भी बने, पर ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण होता रहेगा और आंतरिक शक्तियां जागेंगी, प्रतिभा में निखार आएगा, प्रज्ञा का जागरण होगा, अंतर के आलोक का विकास होगा।

15. आभामंडल और शक्ति-जागरण (2)

शक्तिसंपन्न व्यक्तित्व के निर्माण के लिए शक्ति का जागरण बहुत आवश्यक है। शक्ति-जागरण के बिना चेतना की ऊर्ध्वयात्रा भी नहीं हो सकती, आनंद भी उपलब्ध नहीं हो सकता, इसलिए पहले शक्ति-जागरण जरूरी है, शक्ति का संवर्धन आवश्यक है।

दो शक्तियां काम कर रही हैं–एक है आत्मा की शक्ति और दूसरी है तैजस की शक्ति, विद्युत की शक्ति। हमारी आत्मा की शक्ति के स्पंदन निरंतर हो रहे हैं। हमारे सूक्ष्म शरीर के भीतर आत्मिक शक्ति के प्रकंपन निरंतर हो रहे हैं। तैजस के परमाणु समूचे आकाशमंडल में व्याप्त हैं। हम उन्हें ग्रहण करते हैं, उनका परिणमन करते हैं, उनका प्रयोग करते हैं।

आत्मा की शक्ति और तैजस की शक्ति–इन दोनों का जब योग होता है तब हमारी क्रियाओं का संचालन होता है। शक्ति के बिना विस्फोट नहीं हो सकता। विस्फोट के लिए शक्ति चाहिए। शक्ति के द्वारा हम विस्फोट करते हैं और भीतर में छिपी चेतना को बाहर लाते हैं। भीतर में छिपे हुए आनंद के स्रोत को बाहर लाते हैं और उनका उपयोग करते हैं।

तैजस की शक्ति

तैजस की शक्ति कास्मिक पॉवर है। यह समूचे जगत के कण-कण में व्याप्त है। आकाश का एक भी कण, एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां तैजस परमाणुओं की वर्गणा न हो। प्रश्न केवल इतना ही है कि हम आत्मिक शक्ति के स्पंदनों को जगा सकें और तैजसशक्ति को ग्रहण कर सकें। उस प्रक्रिया को हमें जानना है। प्रक्रिया को जाने बिना हम शक्ति का उपयोग नहीं कर सकते, शक्ति को जागृत नहीं कर सकते। जहां हमारे सूक्ष्म शरीर के भीतर आत्मिक शक्ति के स्पंदन हो रहे हैं, वहां अंतराय का स्पंदन भी हो रहा है। अंतराय शक्ति को रोकने वाली शक्ति है। शक्ति को रोकने वाला कर्म संस्थान है अंतराय। एक ओर से शक्ति के स्पंदन बाहर आते हैं और पूर्णरूप से बाहर

आ जाना चाहते हैं, पूरा विकास पा लेना चाहते हैं। दूसरी ओर अंतराय कर्म के परमाणुओं के स्पंदन इतने सक्रिय हैं कि उसमें अवरोध पैदा करते हैं। हमारा एक काम होगा कि जो आत्मशक्ति के स्पंदन प्रकट होना चाहते हैं, उसमें अवरोध डालने वाले कर्म परमाणुओं के स्पंदनों को दूर हटाएं, रास्ता साफ करें और आत्मशक्ति को बाहर आने दें। दूसरा काम यह होगा कि तैजसशक्ति को विकसित करें।

तैजस शक्ति को कैसे बढ़ाएं?

तैजस शरीर हमें उपलब्ध है। वह सूक्ष्म शरीर है। यह विद्युत का शरीर है, तेज के परमाणुओं का शरीर है। वह हमें सहज प्राप्त है। हम उसकी शक्ति को सक्रिय बनाएं। उसको सक्रिय बनाने के लिए बाहर के तैजस परमाणुओं को स्वीकार करना बहुत जरूरी है। जितने तैजस के परमाणु अधिक मात्रा में उपलब्ध होंगे, उतना ही तैजस शरीर शक्तिशाली बनेगा और उसकी क्षमता बढ़ेगी। उसकी प्रक्रिया भी हमें ज्ञात करनी है।

तैजस-शक्ति को कैसे बढ़ाया जा सकता है और कैसे बाहर से तैजस परमाणुओं को भीतर लिया जा सकता है, यह सब प्रक्रिया पर निर्भर है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो दिशा–इन छहों दिशाओं से तैजस के परमाणु भीतर लिए जा सकते हैं। उन परमाणुओं को ग्रहण करने और भीतर ले जाने की एक शक्ति चाहिए। शक्ति के बिना वैसा नहीं हो सकता। इस शक्ति पर हमें विचार करना है।

केवल शारीरिक शक्ति ही शक्ति नहीं है। मन की भी शक्ति है और वचन की भी शक्ति है। शरीर की शक्ति काय बल, वचन की शक्ति वचन बल और मन की शक्ति मनोबल–ये तीनों शक्तियां जरूरी हैं। शरीर की शक्ति भी चाहिए, वचन की शक्ति भी चाहिए और मन की शक्ति भी चाहिए। शक्ति तीन नहीं हैं। ये सब शक्ति की शाखाएं हैं। शक्ति एक और सामान्य है, उसके पीछे कुछ जुड़ता नहीं। शक्ति केवल शक्ति होती है। ये तो शक्ति के भिन्न-भिन्न प्रयोग हैं। शाखाओं को हम मूल से अलग नहीं मान सकते।

एक वृक्ष की सौ शाखाएं हैं। शाखा वृक्ष नहीं होती। शाखा शाखा होती है, वृक्ष वृक्ष होता है। वृक्ष मूल है। शाखा शाखा है, मूल नहीं। वृक्ष और शाखा को एक नहीं माना जा सकता। शाखा को कोई नाम नहीं दिया जा सकता और यदि उसे कोई नाम दिया जाता है तो इस भ्रांति को भी साथ में तोड़ना होता है कि वह शाखा मात्र है, मूल नहीं।

मनोबल भी मूल शक्ति नहीं है। वचनबल भी मूल शक्ति नहीं है और कायबल भी मूल शक्ति नहीं है। ये सब प्राणशक्ति, तैजसशक्ति की शाखाएं हैं।

मूल शक्ति है–प्राणशक्ति

मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भ्रांति उत्पन्न हुई। वह भ्रांति मनोवैज्ञानिकों के द्वारा उत्पन्न नहीं भी हुई हो, किंतु मनोविज्ञान के विद्यार्थियों में या मनोविज्ञान की चर्चा करने वाले लोगों द्वारा हुई है। उन्होंने मान लिया कि शक्ति एक है और वह है काम की शक्ति। सबकुछ काम शक्ति ही है और शेष उसी का विकास है। उसी का सब्लीमेशन है। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। इस भ्रांति को डॉ. जुंग ने बहुत सरल तरीके से निरस्त किया। एनालिटिकल साइकोलॉजी के प्रवर्तक डॉ. जुंग ने कहा–लिबिडो काम-शक्ति का पर्यायवाची शब्द नहीं है। लिबिडो एक सामान्य शक्ति है। शेष सारी शक्तियां उस (लिबिडो) की शाखाएं हैं।' उन्होंने एक बहुत बड़ी भ्रांति का निरसन किया। यह सही बात है कि शक्ति केवल तैजस की है। वह शक्ति जिस दिशा में जाती है, उसे संचालित करती है और सक्रिय बनाती है, उस संचालन के आधार पर हम उसका नामकरण कर देते हैं।

मन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति को हम मन की शक्ति कह देते हैं। जो शक्ति वचन को संचालित करने वाली है, उस प्राणशक्ति को हम वचन की शक्ति कह देते हैं। जो जीवनयात्रा को संचालित करती है, वह जीवनीशक्ति आयुष्य प्राण कहलाती है। जो शक्ति इन्द्रियों को संचालित करती है, वह इन्द्रियप्राण, जो शक्ति श्वास तंत्र को संचालित करती है, वह श्वासोच्छ्वास प्राण कहलाती है। एक ही शक्ति के कार्य-भेद के कारण अनेक नाम बन जाते हैं। ये अलग-अलग शक्तियां नहीं हैं। शक्ति एक है। एक ही शक्ति अनेक काम करती है। जिस दिशा में वह प्रवाहित होती है, उस दिशा में वह इतना सिंचन देती है कि बीज पौधा बन जाता है और लहलहा जाता है। हम शक्ति के तंत्र को और शक्ति के सिद्धांत को समझें। शक्ति संवर्धन के लिए हमें कुछ प्रक्रियाओं का अवलंबन लेना होगा। जब वह शक्ति विकसित हो जाती है तब हम जिस दिशा में चाहें, उस दिशा में उसे प्रवाहित कर लाभ उठा सकते हैं।

उपाय शक्ति के विकास का

शक्ति को विकसित करने के लिए पहला उपाय यह है कि हम संकल्प शक्ति का उपयोग करें। हमारे शक्ति तंत्र से एक चेतना प्रस्फुटित होती है। चेतना का एक स्तर है–भावतंत्र यानी लेश्यातंत्र। हमारे जीवन की समूची

प्रणाली भावतंत्र से संचालित होती है। आत्मा के स्पंदन बाहर आते हैं और भाव का एक संस्थान बनता है। वहां जीव के स्पंदन की तरंगे एक आकार लेती हैं और भाव के रूप में बदल जाती हैं। उससे हमारे समूचे कर्म-तंत्र का संचालन होता है। हमारा बाहरी व्यक्तित्व वही होता है, जिस प्रकार की लेश्या होती है, जो भाव होता है। जैसा अंतर का भाव होता है, जैसी अंतर की लेश्या होती है, वैसा होता है हमारा बाहर का व्यक्तित्व। हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला सबसे शक्तिशाली तंत्र है–भावतंत्र या लेश्यातंत्र। हम लेश्या को बदलें। शक्ति का विकास करें। शक्ति का प्रयोग लेश्या को बदलने में करें। शक्ति के विकास और उसके सही प्रयोग के लिए लेश्या का बदलना जरूरी है। लेश्यातंत्र को बदले बिना न शक्ति का विकास किया जा सकता है और न शक्ति का सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

सम्यक् दृष्टि से विवेक करें

लेश्यातंत्र को बदलें। बदलने की प्रक्रिया है। सबसे पहले हम चेतना का उपयोग करें। हम सम्यग्दृष्टि से यह विवेक करें कि अमुक भाव व्यक्तित्व के लिए अहितकर है। जब व्यक्ति के मन में निराशा का भाव जागता है, शक्ति को क्षय करने का भाव जागता है, अकर्मण्यता का भाव जागता है, वह शक्ति को नीचे बिठा देता है। व्यक्ति को जीवित ही मृत बना देता है। उस स्थिति में चेतना का पहला काम है कि व्यक्ति यह भाव करे कि मैं निराशावादी नहीं बनूंगा, हतोत्साह नहीं होऊंगा, अपने हाथों और पैरों को निष्क्रिय नहीं बनाऊंगा, अपनी क्षमता का उपयोग करूंगा। आशा रखूंगा, उत्साह रखूंगा और अपने लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करूंगा। जब यह भाव बन जाए तब इस भाव को आकार देने के लिए हम अपनी संकल्पशक्ति का उपयोग करें। एक ऐसा स्पष्ट मानसिक चित्र बनाएं, जिसमें यह स्पष्ट हो कि क्या बनना है–मैं यह बनना चाहता हूं, मैं यह कहना चाहता हूं, मैं शक्तियों का विकास करना चाहता हूं। चित्र जितना स्पष्ट होगा, उतना ही जल्दी उसमें रंग आते चले जाएंगे। पहले चित्र बनाएं, फिर एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें।

सबसे पहले संकल्प-शक्ति का उपयोग और फिर एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें। मन की पूरी एकाग्रता उस चित्र पर केन्द्रित करें। मन को सब विचारों से खाली कर दें। कोई विचार न करें, विकल्प न करें। पूरी एकाग्रता के साथ उस चित्र को देखें। मन में जो भी विकल्प उठें, उन विकल्पों का उत्तर न दें। केवल द्रष्टा बनकर उनको देखते जाएं। जब एकाग्रता की शक्ति का योग

मिलेगा, संकल्प की शक्ति आकार लेना शुरू कर देगी, फिर इच्छा-शक्ति का उपयोग करें। हमारा भाव आंतरिक शब्दों का, आंतरिक आत्मसूचनाओं का योग पाकर इच्छाशक्ति के रूप में बदल जाता है, भावना के द्वारा इच्छा-शक्ति के रूप में बदल जाता है। हमने एक भाव लिया, चित्र बनाया, एकाग्रता साधी और फिर भावना का प्रयोग किया, आत्मसूचन (ऑटो-सजेशन) का प्रयोग किया कि मैं यह होना चाहता हूं, मैं यह कहना चाहता हूं, मैं अपनी तैजसशक्ति का विकास करना चाहता हूं। इस आत्मसूचन से भाव इच्छा शक्ति में बदलने लगे। वह दृढ़ निश्चय में बदल जाए और पूरा स्पष्ट आकार लेना प्रारंभ कर दे।

प्रयोग लेश्या रूपांतरण के

संकल्प-शक्ति का प्रयोग, एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग और इच्छा-शक्ति का प्रयोग–जब ये तीनों प्रयोग एक साथ मिलते हैं तब लेश्या का रूपांतरण हो जाता है। जब लेश्या बदलती है तब आभामंडल भी बदलता है। हमारे अंत:करण में सूक्ष्म-शरीर के भीतर छह लेश्या, भाव का मंडल और उसका संवादी अंग है आभामंडल। यह हमारे शरीर के चारों ओर गोलाकार रूप में होता है। जैसी लेश्या, वैसा आभामंडल। जैसा भावमंडल, वैसा आभामंडल। भाव बदलता है, साथ-साथ में आभामंडल बदल जाता है। जब भाव उत्पन्न होता है, पवित्र होता है तब आभामंडल के रंग बदल जाते हैं, रस बदल जाते हैं, स्पर्श बदल जाते हैं। जब भाव खराब होता है तब आभामंडल का रंग काला हो जाता है। जब भाव अच्छा होता है तब आभामंडल का रंग पीला, लाल या सफेद हो जाता है। सारे धब्बे समाप्त हो जाते हैं। दोनों साथ-साथ चलते हैं।

भावमंडल हमारी शक्ति को विकसित करता है और आभामंडल बाहर से आने वाली बाधाओं को रोकता है। बहुत बार ऐसा होता है कि आदमी शांत बैठा है, अकस्मात् उसके मन में ऐसे विचार आ जाते हैं, जिनको वह कभी लाना नहीं चाहता। वह एक विचार को लेकर बैठता है। दूसरे ही क्षण दूसरा विचार आ जाता है। ये विचार क्यों आते हैं? ये विचार कहां से आते हैं? यह खोजना चाहिए। विचार के परमाणु आकाशमंडल में चक्कर लगाते रहते हैं। अरबों-खरबों व्यक्तियों के विचार आज भी आकाशमंडल में व्याप्त हैं। जब व्यक्ति इन विचारों की रेंज में आता है तब उसके मन में भी वह विचार उत्पन्न हो जाता है और वह विचार उस व्यक्ति का बन जाता है। हम यह मानें कि हम जो सोचते हैं, वे सब हमारे विचार होते हैं। वे हमारे विचार नहीं होते, वे दूसरों

के विचार होते हैं। हम दूसरे के विचारों का भार ढोते हैं। ऐसे-ऐसे विचार हमारे मस्तिष्क में आ घुसते हैं, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह निर्णय करना हमारे लिए बहुत कठिन होता है कि हमारा अपना विचार कौन-सा है और दूसरों के विचार कौन-से हैं? मैं क्या सोचना चाहता हूं और क्या सोच बैठता हूं। न जाने किन-किन व्यक्तियों के विचार मेरे मन में घुस आते हैं। बहुत बड़ी कठिनाई है।

हमारा यह संसार इतना संक्रमणशील है कि कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं है, अकेला कोई रह नहीं सकता। व्यक्ति जंगल में चला जाए, किसी का मुंह न देखे, किसी पक्षी को भी न देखे, फिर भी वह अकेला नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म लोक की यात्रा करने वाले सूक्ष्म पदार्थ इतने चक्कर लगाते हैं कि वह व्यक्ति अकेला नहीं रह पाता। वह उनसे संक्रांत हो जाता है। विचारों का जबरदस्त संक्रमण होता है। ये विचार खाली जगह में नहीं घुसते। ये घुसते हैं भरी जगह में। जब व्यक्ति भरा हुआ होता है तब ये ज्यादा घुसते हैं। पता नहीं उनका क्या स्वभाव है। यदि व्यक्ति अपने मन को खाली कर देता है तो विचार उसको आक्रांत नहीं करते। यदि व्यक्ति के मस्तिष्क में विचारों की भीड़ है तो दूसरे विचार भी आकर उस भीड़ को बढ़ाएंगे। वे भीड़ को ही पसंद करते हैं। खालीपन उन्हें पसंद नहीं है। यह विचारों का द्वंद्व चलता रहता है।

अप्रमत्तता : शक्ति जागरण का सूत्र

तब तक हम विचारों के आक्रमण को नहीं रोक सकते, जब तक आभामंडल शक्तिशाली नहीं बन जाता। जब तेजोलेश्या का आभामंडल बनता है तब विचारों के लिए दरवाजे बंद हो जाते हैं। कोई बाहरी विचार भीतर नहीं जा सकता। जब पद्मलेश्या का आभामंडल बनता है तब बुरे विचार अंदर प्रवेश नहीं पा सकते। जब शुक्ललेश्या का आभामंडल बनता है तब सारी बातें समाप्त हो जाती हैं। बाहर का संक्रमण बंद हो जाता है। इस स्थिति में ही व्यक्ति अकेला बनता है। समूह में रहते हुए भी वह अकेला बन जाता है। इस संक्रमण के जगत में जीने वाला कोई अकेला नहीं बन सकता। वह भले ही अकेला रहे, पर इन सूक्ष्म परमाणुओं के लिए अकेला नहीं रह जाता। वह उनकी भीड़ में आ जाता है।

दूसरी ओर जो व्यक्ति तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या से आभामंडल का निर्माण कर लेता है तो वह हजारों-हजारों की भीड़ में रहता हुआ भी सचमुच अकेला बन जाता है। जब आभामंडल या भावमंडल

शक्तिशाली बन जाता है तब बाहर का सारा प्रवेश निषिद्ध हो जाता है। शक्ति जागरण के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति प्रतिपल जागरूक रहे, अप्रमत्त रहे। मन को जागरूक करना बहुत जरूरी है। जागरूकता के बिना ऐसा हो नहीं सकता। हमारा आभामंडल, हमारी लेश्याएं, हमारा भावतंत्र वैसा होगा, जैसा भीतर से स्पंदन आएगा। जब मोह के स्पंदन आते हैं तब लेश्या कृष्ण बन जाती है, नील और कापोत बन जाती है। आभामंडल भी वैसा विकृत, अंधकारमय और धब्बों वाला होगा। जब मोह की शृंखला टूटती है तब धर्म लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तब आभामंडल भी पवित्र बनेगा। सारे रंग बदल जाएंगे। आभामंडल का रंग लाल, पीला या सफेद हो जाएगा। शक्ति का संचार प्रारंभ हो जाएगा। शक्ति में बाधा डालने वाले स्पंदन समाप्त हो जाएंगे।

शक्ति का संवर्धन

मैंने प्रक्रिया की बात बताते हुए कहा था कि हम संकल्प-शक्ति का प्रयोग करें, एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग करें और इच्छा की शक्ति का प्रयोग करें। यह पूरी प्रक्रिया नहीं है। प्रक्रिया शेष रह जाती है। पूरी प्रक्रिया को जाने बिना व्यक्तित्व में परिवर्तन नहीं आ सकता। तैजस के परमाणुओं का संचय और संग्रहण नहीं किया जा सकता। ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया बहुत कठिन है, जन सामान्य के समझ से परे की बात है। उसका अधोगामी प्रवाह व्यक्ति को काम की ओर प्रेरित करता है। काम का अनियंत्रित भोग व्यक्ति को पतित और असामाजिक बनाता है। अतः उसके समक्ष काम के दमन के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रहता। इससे बचने का एक मात्र उपाय है शक्ति का संवर्धन। ऊर्जा की ऊर्ध्व यात्रा करना बहुत अभ्यास साध्य है। हम इस बात को न भूलें कि जिस दिशा में हमारी शक्ति का प्रवाह ज्यादा होता है, वह दिशा सक्रिय बन जाती है और शेष सारी दिशाएं निष्क्रिय रह जाती हैं। इन्द्रियों की दिशा में हमारी शक्ति का बहुत व्यय होता है। काम की दिशा में शक्ति का व्यय अधिक होता है। स्पर्श, रस, गंध आदि जितने विषय हैं, उनमें शक्ति का बहुत व्यय होता है। उस दिशा में ऊर्जा को प्रवाहित करने का मार्ग सहज लब्ध है।

जरूरी है शक्ति के अपव्यय को रोकना

एक प्रश्न सामने आया। क्या संभोग समाधि का आदि बिंदु है? यह प्रश्न एक व्यक्ति का नहीं। इस प्रश्न ने अनेक व्यक्तियों को झकझोरा है। हम एक ओर शक्ति की चर्चा करते हैं, शक्ति के विकास की चर्चा करते हैं, किंतु शक्ति का विकास तब तक संभव नहीं होगा, जब तक शक्ति के व्यय को न

रोक सकें। एक ओर शक्ति के संचय का प्रयत्न करें और दूसरी ओर शक्ति का व्यय होता चला जाए तो यह रहट की घड़ियों के जैसा क्रम होगा। जब घड़ियां कुएं के भीतर जाती हैं तब पानी भरता है और जब बाहर आती हैं तब पानी खाली हो जाता है। भरना और खाली होना–इससे बड़ी शक्ति पैदा नहीं होती। नदी निरंतर बहती रहती है, उससे कोई बड़ी शक्ति पैदा नहीं होती। स्रोत से पानी आता रहता है, आगे चलता रहता है। जब उसके प्रवाह को रोककर पानी बांध दिया जाता है तब उस नियोजित पानी से विद्युत पैदा होती है और बहुत बड़ी शक्ति पैदा हो जाती है। अतः शक्ति के विकास के लिए यह बहुत जरूरी है कि शक्ति का व्यय रोका जाए।

समाधि एक विश्लेषण

'संभोग से समाधि'–जब इस प्रकार के दृष्टिकोण सामने आते हैं तब लोगों के मन में एक भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। कुछ लोग यह मानने भी लग जाते हैं कि समाधि प्राप्त करने का सशक्त साधन है संभोग। इस सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति की भावना कुछ और रही हो, गूढ़ रही हो, किंतु सामान्य व्यक्ति उस गूढ़ता तक कैसे पहुंच सकता है? तांत्रिक प्रयोगों के जो रहस्य थे, वे रहस्य केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए थे, जो बहुत आगे जाकर विशेष प्रकार के प्रयोग करना चाहते थे। इसीलिए बार-बार कहा गया– **गोप्यम्-गोप्यम्, पुनरपि गोप्यम्।** गोप्यम् की बात जब ढीली पड़ जाती है, जब वे रहस्य जन-सामान्य के समक्ष आते हैं तब उन रहस्यों का अर्थ सामान्य आदमी अपनी बुद्धि के अनुसार समझता है और भटक जाता है। तर्क आता है–संभोग की अवस्था में निर्विचारता आती है, सुख का अनुभव होता है। उस निर्विचारता और सुख की स्थिति ने ही समाधि को जन्म दिया है।

मनुष्य ने समाधि की खोज इसीलिए की कि उसे निर्विचारता में सुख की अनुभूति हुई। समाधि निर्विचारता का साधन है। इस तर्क के आधार पर यदि हम चलें तो इसके प्रति दूसरा तर्क यह होता है कि समाधि की खोज एक शिकारी ने की, एक मच्छीमार ने की। जब एक शिकारी निशाना साधता है तब वह अपने लक्ष्य में इतना खो जाता है कि उसे निर्विचारता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उसकी एकाग्रता सध जाती है। उस शिकारी ने समाधि की खोज की। निशाने पर तीर लगने से उसे जो आनंदानुभूति होती है, वह अवर्णनीय है। एक चोर सेंध लगाते समय कितना एकाग्र होता है, बगुला मछली को पकड़ने में कितना स्थिर और एकाग्र होता है? हम यह क्यों न मानें कि इन सारे स्रोतों से समाधि

की खोज की गई। भगवान महावीर ने इसे ध्यान माना है। एकाग्रता ध्यान है, फिर चाहे वह कैसा भी ध्यान क्यों न हो।

सब समाधि एक नहीं

एक व्यक्ति लक्ष्यबेधी था। उसे अपनी कला पर गर्व था। एक दूसरा व्यक्ति मिला। उसने कहा–'मेरे गुरु बिना तीर-धनुष के ही लक्ष्य को बेध डालते हैं।' उसके मन में उत्सुकता जगी। दोनों गुरु के पास पहुंचे। गुरु उन दोनों को साथ लेकर पहाड़ की चोटी पर चला गया। वह वहां एक ऐसी चट्टान पर खड़ा हुआ, जहां नीचे भयंकर गढ्ढें और दरारें दीख रही थीं। दोनों घबराएं, पर गुरु के साथ खड़े हो गए। गुरु ने अपनी आंखें ऊपर उठाईं। पक्षियों का एक झुंड उड़ता जा रहा था। ज्योंही वह झुंड आंखों की रेंज में आया, तत्काल सारे पक्षी एक-एक कर नीचे आ गिरे। लक्ष्यबेध हो गया। आंखों ने उन पक्षियों को बींध डाला। क्या यह ध्यान नहीं है? यह बहुत बड़ा ध्यान है, बहुत बड़ी एकाग्रता है, बहुत बड़ी समाधि है, किंतु सब समाधि समाधि नहीं होतीं। आचार्य भिक्षु ने कहा–गाय का दूध होता है, आक का दूध होता है और थूहर का दूध होता है। दूध दूध है, कोई अंतर नहीं, किंतु यदि गाय के दूध के स्थान पर कोई आक का दूध पी ले तो वह व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। सब समाधि एक नहीं होती। क्या हम यह मान लें कि मनुष्य ने कभी आक का दूध पीया होगा, इसलिए दूध की खोज की होगी। यह कितनी बड़ी भ्रांति होगी।

सामान्य मनुष्य मान लेता है कि संभोग समाधि का साधन है। संभोग में जाने से समाधि प्राप्त होती है, फिर ध्यान शिविरों में क्यों जाएं? क्यों ध्यान करें? अपने आप जो घटना घटित होती है उसके लिए इतना प्रयत्न क्यों? यह एक भटकाव है। ध्यान और समाधि के नाम से आप इसमें न भटकें, भ्रांत न बनें। नाम का साम्य हो सकता है। वह भी समाधि, यह भी समाधि। वह भी ध्यान, यह भी ध्यान। नाम की समानता से न भटकें। संस्कृत शब्दकोश में जितने नाम धतूरे के हैं, उतने ही नाम स्वर्ण के हैं। धतूरे और स्वर्ण के नाम एक हैं। जो शब्द धतूरे का वाचक हैं, वे शब्द स्वर्ण के वाचक हैं। **नामसाम्याद् हि चित्तं धतूरोऽपि मदप्रदः**। नाम की समानता के कारण स्वर्ण जैसे आदमी में मद पैदा करता है, वैसे ही धतूरा भी मद पैदा करता हे। हम नाम के चक्कर में न पड़ें, वास्तविकता को समझें। इतना मानने में कोई बाधा नहीं कि संभोग से प्राप्त सुख की अनुभूति ने मनुष्य को उत्प्रेरित किया हो कि इससे भी कोई दूसरा आनंद या सुख होना चाहिए, जो इससे ऊंचा हो।

तर्कशास्त्र का एक सूत्र है–मनुष्य ने पत्थर को जाना। उसका तर्क आगे आया। उसने सोचा–एक पत्थर को जान सकता हूं तो समूची खदान को जान सकता हूं। एक आदमी को जान सकता हूं तो समूचे प्राणिजगत को जान सकता हूं। तर्क जब और आगे बढ़ता है और उसका अंतिम बिंदु यह प्राप्त होता है कि जब मैं एक को जान सकता हूं तो सबको जान सकता हूं। एक पत्थर सर्वज्ञता के सिद्धांत का उत्प्रेरक बन सकता है। एक पत्थर का बोध, एक पत्थर का ज्ञान, एक परमाणु का ज्ञान समूचे जगत के ज्ञान का, सर्वज्ञता के ज्ञान का प्रेरक बन सकता है। जो एक को जान सकता है, वह सबको जान सकता है।

जिसने संभोग के क्षणिक सुख का अनुभव किया है, उसके मन में यह विकल्प उठ सकता है कि यह सुख है तो और भी सुख होना चाहिए। खाने-पीने के पदार्थों से सुख मिल सकता है। सुगंध से भी सुख मिल सकता है। तर्क आगे बढ़ता जाता है। इसमें भी सुख है, उसमें भी सुख है। चलते-चलते यह विचार आता है कि एक बिंदु ऐसा भी होना चाहिए, जहां चरम सुख की अनुभूति भी होती है। जहां छोटे-छोटे सुख समाप्त हो जाते हैं। यह प्रेरणा बने, कोई आपत्ति नहीं है, किंतु मनुष्य ने सच्ची समाधि की खोज इस आधार पर की कि जो कामजन्य सुख है, वह निराशा पैदा करता है, शक्ति को क्षीण करता है और विषाद पैदा करता है। ऐसी स्थिति में ऐसा भी सुख होना चाहिए, जो आनंद उपलब्ध कराए, शक्ति क्षीण न करे और विषाद पैदा न करे। इस दिशा में मनुष्य ने खोज प्रारंभ की और वह एक दिन सही समाधि तक पहुंच गया।

परिणाम को देखें

महावीर ने कहा–**खणमेत्तसोक्खा, बहुकालदुक्खा**–इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनसे होने वाला सुख क्षणस्थायी होता है। उसका अंत दुःख में होता है। ये प्रवृत्तिकाल में सुख देते हैं और परिणाम काल में दुःख देते हैं। समाधि की खोज प्रवृत्ति के आधार पर नहीं हुई, परिणाम के आधार पर हुई है। मतभेद का बिंदु है प्रवृत्ति और परिणाम। जब हम केवल प्रवृत्ति को मानकर सुख की बात को आगे बढ़ाते हैं तब हम शक्ति के व्यय के रास्तों को खोल देते हैं। सारी शक्ति खर्च हो जाती है, फिर भी प्राप्त कुछ भी नहीं होता। यह विकास हुआ है परिणाम के आधार पर। जब मनुष्य ने सोचा कि सारे दरवाजों को खोलने का परिणाम यह होता है कि सारा पानी बह जाता है, शक्ति सारी क्षीण हो जाती है तब ऐसा कोई उपाय ढूंढें, जिससे शक्ति भी क्षीण न हो और आनंद भी मिल जाए। प्रवृत्ति का क्षण भी अच्छा हो और परिणाम भी अच्छा हो। प्रवृत्ति का

क्षण भी सुखदायी और परिणाम का क्षण भी सुखदायी। इस चिंतन से प्रेरित होकर मनुष्य ने समाधि की खोज की। शक्ति के व्यय को रोकने का उपक्रम सोचा।

ओरा (आभामंडल) के दो प्रकार

ऑकल्ट सांइस के पुरस्कर्ताओं ने ओरा के दो प्रकार बतलाए हैं–

1. इमोशनल ओरा (भावनात्मक आभामंडल)

2. मेण्टल ओरा (मानसिक आभामंडल)

लेश्या के सिद्धांत में भी ये दो शब्द मिलते हैं। लेश्या दो प्रकार की होती हैं। एक प्रकार की लेश्या का संबंध है कषाय से और दूसरी प्रकार की लेश्या का संबंध है योग से। **कषायप्रवृत्तिरंजिता लेश्या**–लेश्या कषाय की प्रवृत्ति उदय से रंजित होती है और लेश्या योग के द्वारा संचालित होती है। लेश्या का संबंध दो आंतरिक शक्तियों से हैं–कषाय से और योग से। योगलेश्या मानसिक आभामंडल (मेण्टल ओरा) का निर्माण करती है और कषाय लेश्या भावनात्मक आभामंडल (इमोशनल ओरा) का निर्माण करती है। इस प्रकार आभामंडल में दो तत्त्व काम करते हैं–एक मानस और दूसरा भावना।

कषाय का स्रोत जितना तीव्र होता है, हमारी शक्तियां उतनी ही क्षीण होती हैं और तैजस शरीर दुर्बल बनता चला जाता है। चंचलता अधिक होती है, आभामंडल क्षीण होता जाता है, मानस का आभामंडल क्षीण होता जाता है, क्योंकि मन जितना सक्रिय रहेगा, वाणी जितनी सक्रिय रहेगी और शरीर जितना सक्रिय रहेगा, उतनी ही शक्ति का व्यय अधिक होता है। जब शक्ति का व्यय अधिक होता है तब उसका संग्रह हो नहीं सकता। शक्ति के अतिरिक्त संग्रह के बिना नई दिशाओं का उद्घाटन नहीं हो सकता, साधना के नए आयाम नहीं खुल सकते। इसलिए शक्ति के अतिरिक्त व्यय को रोका जाए। इसका एक मात्र उपाय है कायोत्सर्ग।

गुप्ति की साधनाः शक्ति संवर्धन का उपाय

कायोत्सर्ग करें, शिथिलता का अनुभव करें, जिससे कि हमारे शरीर की कोशिकाएं, हमारे शरीर का कण-कण विश्राम ले सके और उसकी शक्ति खर्च न हो, संचित रहे। श्वास को शांत करें। लंबा श्वास लें। श्वास को मंद करें। जब श्वास मंद होता है तब शरीर शिथिल होता है, कायगुप्ति और कायोत्सर्ग सधता है, ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है। प्राणशक्ति का व्यय कम हो जाता है।

हम कम बोलें, अनावश्यक न बोलें। मौन रहना सीखें। विद्युत का व्यय कम हो जाएगा। वाणी के साथ जो विद्युत खर्च होती है, वह बच जाएगी। हम उसका दूसरा उपयोग कर सकेंगे। हम वाक्गुप्त बनें, मौन करें, विचार भी कम करें। विचारों के चक्र को तोड़ना सीखें। विचारों के चक्र से मस्तिष्कीय ऊर्जा इतनी खर्च होती है कि उसकी पूर्ति बड़ी कठिनाई से की जा सकती है। ऐसे ही मस्तिष्क को विद्युत की बहुत जरूरत होती है। हमारे ऊपर का भाग जो शरीर के भाग से दो प्रतिशत मात्र है, उसे विद्युत चाहिए बीस प्रतिशत। अब जहां दो प्रतिशत हिस्सा बीस प्रतिशत बिजली की मांग करे तो क्या हो सकता है।

हम निर्विचार रहना सीखें। निर्विचारता में विद्युत की खपत कम होगी। विद्युत का और तैजस का संचय रहेगा। एक ओर हम प्राण प्रयोग के द्वारा, प्राण को अधिक खींचने के द्वारा, भीतर में प्राणशक्ति को भरें, तैजसशक्ति को शक्तिशाली बनाएं और दूसरी ओर उस विद्युत की खपत को कम करें। हमारी शक्ति का भंडार तब बढ़ेगा जब हम एक ओर से संकल्प-शक्ति के प्रयोग के द्वारा, प्राणसंग्रह की प्रक्रिया के द्वारा, प्राण भरने की क्रिया के द्वारा शक्ति के भंडार का संवर्धन करें और उधर खपत कम करें, व्यय कम करें।

इस प्रकार शक्ति का भंडार बढ़ेगा। शक्ति का जागरण होगा, हमारा आभामंडल शक्तिशाली बनेगा। हमारा भावतंत्र शक्तिशाली बनेगा और हम अपने आस-पास एक ऐसे कवच का निर्माण करने में सफल होंगे, जो कवच हमें सारे बाहरी आक्रमणों से, संक्रमणों से बचाता रहेगा।

16. लेश्या : पौद्गलिक है या चैतसिक

चुनाव करें रंग का

क्या हम अपने जीवन में सफल होना चाहते हैं? सफल जीवन जीना चाहते हैं? यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें ध्यान देना होगा अपने कपड़ों पर। हमने किस रंग के कपड़े पहन रखे हैं? प्राय: जैन साधु-साध्वियां सफेद कपड़े पहनते हैं। लाल, पीला, काला या नीला वस्त्र नहीं पहनते। प्रश्न हो सकता है कि सफेद रंग ही क्यों चुना गया? विराग में जाना है तो अन्य आकर्षक दिखाई देने वाले रंगों को छोड़ देना होता है। सफेद रंग शुक्ललेश्या और परमशुक्ल लेश्या का रंग है। वैराग्य की दृष्टि से यह सर्वोत्तम रंग है।

उद्दंडता का कारण

रंगों का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। रंग व्यक्ति की मन:स्थिति को प्रभावित ही नहीं करते, परिवर्तित भी कर देते हैं। सोवियत रूस में एक स्कूल के विद्यार्थी बहुत उद्दंड और उच्छृंखल थे। स्कूल के सामने एक बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गई। उन्होंने सोचा– उद्दंडता का कारण क्या है? दो-चार बच्चे उद्दंड हो जाएं, यह बात समझ में आ सकती है। प्राय: सभी विद्यार्थी उद्दंड कैसे हो सकते हैं? इसका रहस्य क्या है? जो विद्यार्थी बहुत शांत और संयत लग रहे थे, वे भी उद्दंड और असंयत बनते जा रहे हैं। बहुत खोज की गई, पर कोई कारण समझ में नहीं आया।

आखिर रंग-वैज्ञानिकों को बुलाया गया। उन्होंने इस समस्या का कारण बतलाया कि आपके स्कूल का रंग भी लाल है, खिड़कियां और दरवाजें भी लाल रंग से पुते हुए हैं। खिड़कियों में जो कांच के शीशे हैं, वे भी लाल हैं, पर्दे भी लाल हैं और फर्श पर जो कालीन बिछे हुए हैं, वे भी लाल हैं। बच्चों की स्कूल ड्रेस भी लाल है। जहां लाल रंग की अधिकता होगी, वहां उद्दंडता और उच्छृंखलता की वृत्ति प्रबल बनेगी।

रंग बदला : स्वभाव बदला

रंग-वैज्ञानिकों ने सुझाव दिया कि इस रंग को बदला जाए। हरे, गुलाबी या नीले रंग का प्रयोग करें। स्कूल के अधिकारियों को उनका सुझाव उपयुक्त लगा। कमरों के रंग बदल दिए गए। कालीन और पर्दे बदल दिए गए। खिड़कियों के शीशे और दरवाजों के रंग में भी परिवर्तन कर दिया गया। कुछ दिन बीते, विद्यार्थियों के स्वभाव में परिवर्तन आना शुरू हो गया। उनकी उद्दंडता कम हो गई। बच्चे शांत और शालीन बनते चले गए। अधिकारियों एवं चिकित्सकों को समस्या का समाधान मिल गया।

रंगों का महत्त्व

यह देखना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि मकान का रंग कौन-सा है? छत का रंग कौन सा है? यदि इन सबका रंग लाल है तो गुस्सा न आने वाले व्यक्ति को भी गुस्सा आने लग जाएगा। लड़ाई-झगड़े कम होते हैं तो ज्यादा होने लग जाएंगे। जहां मजदूरों का संबंध है, श्रमयुक्त कार्य करना है, वहां लाल रंग उपयोगी होता है।

जहां ज्यादा भार उठाना है, सामान से भरी बोरियों को उठाना है, वहां लाल रंग का मूल्य है। यदि मकान का रंग लाल है, दुकान और गोदाम का रंग लाल है तो मजदूर ज्यादा भार को भी आसानी से उठा लेंगे। उनकी भार उठाने की क्षमता बढ़ जाएगी। यदि उनका रंग नीला है तो मजदूर सुस्त बन जाएंगे, थोड़ा भार उठाने में भी उन्हें परेशानी होगी। उनकी भार उठाने की क्षमता कम हो जाएगी।

यह लेश्या का सिद्धांत जीवन से जुड़ा हुआ सिद्धांत है। हमारे जीवन की सफलता या असफलता में यह बहुत बड़ा कारण है। हम इसे समझ कर अपने जीवन को सफलता की दिशा में ले जा सकते हैं, अपने व्यक्तित्व को उन्नत और प्रभावी बना सकते हैं, अपने चिंतन को स्वस्थ और शक्तिशाली बना सकते हैं।

लेश्या : तीन प्रकार

लेश्या के तीन प्रकार हैं–कर्मलेश्या, नो-कर्मलेश्या और भावलेश्या। दूसरी भाषा में कहें तो लेश्या के दो प्रकार हैं–पौद्गलिक लेश्या और चैतसिक या आत्मिक लेश्या।

पौद्गलिक लेश्या के दो प्रकार हैं–कर्मलेश्या और नो-कर्मलेश्या। उत्तराध्ययन के लेश्याध्ययन के प्रारंभ में ही छह कर्मलेश्याओं का उल्लेख है–

लेसज्झयणं पवक्खामि आणुपुव्विं जहक्कमं।
छण्हं पि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेह मे॥

कर्मलेश्या

कर्म बंधन के साथ लेश्या का गहरा संबंध है। लेश्या संक्लिश्यमान होती है तो अशुभ कर्म का बंध होता है। लेश्या विशुद्ध्यमान होती है तो शुभ कर्म का बंध होता है और क्षयोपशम बढ़ता है। एक लेश्या हमारे शरीर के साथ निरंतर चल रही है, आभामंडल चल रहा है और कर्म को ग्रहण करते समय लेश्या वर्गणा के पुद्गल हमारे साथ निंरतर काम कर रहे हैं। यह कर्मलेश्या है।

नो-कर्मलेश्या

एक है—नो-कर्मलेश्या। यह जो सूरज का प्रकाश है, वह नो-कर्मलेश्या है। जीवन के साथ उसका गहरा संबंध है। जहां सूरज का प्रकाश है, वहां जीवन है। जहां सूरज का प्रकाश नहीं है, वहां जीवन नहीं है। हमारी दुनिया का जीवन सूर्य के आधार पर चल रहा है। अगर सूर्य का प्रकाश बंद हो जाए तो पाचन तंत्र बिगड़ जाएगा। जब दिनभर आकाश बादलों से घिरा रहता है तब आदमी का पाचन तंत्र गड़बड़ा जाता है, पाचन शक्ति कमजोर हो जाती है। पांच-सात दिन तक सूरज न दीखे और आदमी खाता ही चला जाए तो वह बीमार पड़ जाएगा।

रात्रिभोजन के निषेध का एक कारण जीव हिंसा की दृष्टि रही है। उसका दूसरा कारण सूरज के अस्त होने पर पाचन तंत्र का मंद हो जाना है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में लिखा है कि सूर्य के अस्त हो जाने पर हृदय कमल संकुचित हो जाता है, पाचन तंत्र भी संकुचित हो जाता है, रक्त का संचार भी धीमा पड़ जाता है।

दर्द रात में अधिक क्यों?

शरीर में जितना दर्द होता है, उसका पता दिन में कम चलता है, रात्री में अधिक चलता है। रात आते ही घुटनों का दर्द बढ़ जाएगा, पीठ और गर्दन का दर्द बढ़ जाएगा। प्रश्न हो सकता है कि सारे दर्द रात में ही अधिक क्यों सताते हैं? दिन में अधिक क्यों नहीं सताते? जितना अजीर्ण होता है, वह प्रायः रात में ही होता है। दिन में कब अजीर्ण होता है? किसी अपवाद को छोड़ दें, प्रायः यह रात में ही होता है। वायु भी रात में अपना खेल दिखाती है। इन सबका कारण क्या है?

जब तक सूरज रहता है, ये सब शांत रहते हैं। सूर्य के अस्त होते ही सबको

मौका मिल जाता है। चोरी करने का मौका भी रात को ही मिलता है। नींद भी रात को ही सताती है। जितने तामसिक भाव हैं, उन सबको रात में खुलकर अभिव्यक्त होने का अवसर मिल जाता है।

रत्न चिकित्सा और लेश्या

सूर्य की एक लेश्या है। चन्द्रमा की भी लेश्या है। रत्नों की भी लेश्या है, ये सब नो-कर्मलेश्या हैं। रत्नों में सूर्य का प्रकाश बहुत संचित होता है। इसके आधार पर ही जेम्स थैरापी (रत्न चिकित्सा) का विकास हुआ है। रत्न चिकित्सा पर काफी साहित्य लिखा गया है। रत्न का प्रभाव बड़ा विचित्र है। इसका कारण है सूर्य की रश्मियों का संचय।

मुम्बई की घटना है। एक व्यक्ति निरंतर बुखार से ग्रस्त रहता था। उसने बहुत दवाइयां लीं, पर बुखार नहीं उतरा। उसने रत्न-चिकित्सक को अपनी समस्या बताई। रत्न-चिकित्सक ने सारी स्थितियों का अध्ययन किया। उसने देखा कि अंगुली में लाल माणक पहना हुआ है। समस्या समझ में आ गई। चिकित्सक ने कहा कि इस माणक (रत्न) को अंगुली से निकाल दिया जाए। इसे इस कमरे में भी न रखा जाए। चिकित्सक का परामर्श स्वीकार कर लिया गया। जो बुखार इतनी दवाइयों से नहीं मिटा, वह उस रत्न को अंगुली से निकालने के बाद दूसरे दिन ही समाप्त हो गया।

यदि रत्न का अनुकूल प्रभाव होता है तो वह व्यक्ति को निहाल कर देता है और यदि उसका प्रतिकूल प्रभाव होता है तो वह व्यक्ति को कंगाल भी बना देता है। उसका प्रभाव दोनों ओर होता है। यह नो-कर्मलेश्या द्रव्यलेश्या का प्रभाव है।

पौद्गलिक लेश्या का अर्थ

पौद्गलिक लेश्या का अर्थ है किरण, रश्मि, या ज्योति। ये यदि प्रशस्त होते हैं तो बहुत लाभकारी होते हैं। यदि अप्रशस्त होते हैं तो बहुत हानिकारक होते हैं। हम रंगों के प्रति जागरूक बनें तो हानि से बच सकते हैं। बहुत लाभ उठा सकते हैं। किस रंग का कपड़ा पहनें? किन रंगों का खाना खाएं? मकान या कमरे का रंग कैसा हो? इसका विवेक होना जरूरी है।

रंग से उपजी समस्या

एक सिनेमा हॉल में बहुत गहरा लाल रंग करवाया गया। जो दर्शक सिनेमा देखने जाते, वे सिर दर्द से परेशान हो जाते। काफी दिनों तक यह क्रम चलता रहा। सिनेमा घर में दर्शकों की संख्या घटने लगी। एक दिन ऐसा आया

कि सिनेमा हॉल से घाटा होने लगा। मालिक समस्या और चिंता से घिर गया। चपरासी ने मालिक से कहा कि क्या बात है? आप उदास क्यों हैं? मालिक बोला–बहुत घाटा हो गया है। मुझे अभी-अभी पांच हजार रुपयों की जरूरत है। यदि वे नहीं मिलते हैं तो मेरी प्रतिष्ठा को धक्का लग जाएगा। चपरासी ने कहा कि आप चिंता मत कीजिए। मैं आपको पांच हजार रुपए ला देता हूं। मालिक आश्चर्य से भर गया। उसने पूछा कि तुम्हारे पास इतने रुपये कहां से आए? मैं तुम्हें वेतन तो बहुत थोड़ा देता हूं। चपरासी बोला कि जब आपका सिनेमा चलता है तब मैं गेट के बाहर सिर-दर्द की गोलियां बेचता हूं। जो लोग सिनेमा देखकर बाहर निकलते हैं, वे सिर-दर्द से परेशान होते हैं। जब वे सिर दर्द की गोलियां लेते हैं तो उन्हें राहत मिल जाती है। मेरे पास जो रुपये जमा हुए हैं, वे सिर-दर्द की गोलियां बेचकर कमाए हुए हैं। यह लाल रंग और फिल्म में दिखाए जाने वाले उत्तेजक दृश्यों का परिणाम था। ये सारे पुद्गल हैं, जो व्यक्ति को बहुत प्रभावित करते हैं।

चैतसिक लेश्या

लेश्या का दूसरा पक्ष है चैतसिक लेश्या। भाव लेश्या चैतसिक लेश्या है। प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पाप और पांच आश्रव–ये सब भाव लेश्याएं हैं। इन सबमें रंग हैं। एक व्यक्ति झूठ बोलता है तो वैसा रंग बन जाता है। झूठ बोलने वाले व्यक्ति का आभामंडल भी धुंधला बन जाता है। हमारा आभामंडल बहुत स्वच्छ है, किंतु जो आदमी झूठ बोलता है, उसका आभामंडल भद्दा बन जाता है। हम आचरण की बात छोड़ दें। मन में चोरी की भावना जाग गई, हिंसा की भावना जाग गई तो आभामंडल मलिन बन जाएगा। झूठ या घृणा का भाव जागा तो आभामंडल भी वैसा ही बन जाएगा। जैसी भावना जागती है, वैसा आभामंडल बन जाता है। जैसा आभामंडल बनता है, वैसी ही भावना पैदा हो जाती है।

संबंध है दोनों में

पौद्गलिक लेश्या (द्रव्य लेश्या) और चैतसिक लेश्या (भाव लेश्या)–इन दोनों में गहरा संबंध है। जितने स्थान द्रव्य लेश्या के हैं, उतने ही स्थान भाव लेश्या के हैं। द्रव्य लेश्या संक्लिष्ट होती है तो भावलेश्या संक्लिष्ट हो जाती है। भाव लेश्या संक्लिष्ट होती है तो द्रव्यलेश्या संक्लिष्ट हो जाती है। भावलेश्या विशुद्ध होती है तो द्रव्यलेश्या विशुद्ध हो जाती है। द्रव्यलेश्या विशुद्ध होती है तो भावलेश्या विशुद्ध हो जाती है। इन दोनों में गहरा संबंध है। हमें

इन दोनों आयामों के प्रति जागरूक रहना होगा। हम रंग और आभामंडल के प्रति भी जागरूक बने और अपनी भावनाओं के प्रति भी जागरूक बनें। इन दोनों क्षेत्रों में जागरूकता बढ़ जाए तो जीवन में बहुत विकास किया जा सकता है।

समस्या है लेश्याओं में मेल न होना

आदमी में तनाव बहुत है। वह अनेक प्रकार की चिंताओं से घिरा रहता है। वह कभी उदास हो जाता है। उसे वातावरण में रूखापन महसूस होता है। जीवन में सरसता नहीं रहती। इस स्थिति में दूसरे व्यक्ति के प्रति आकर्षण का भाव पैदा नहीं होता। कारण क्या है? इसका कारण है लेश्याओं का मेल न होना। दो व्यक्ति हैं, दोनों को साथ में रहना है। दोनों की लेश्याओं में मेल नहीं है तो साथ कैसे निभेगा? एक पूरब में जाएगा तो दूसरा दक्षिण में जाएगा।

शादी से पूर्व लड़के-लड़की के गण मिलाए जाते हैं। यह देखा जाता है कि गण मिला है या नहीं? गण मिलते हैं तो कितने मिलते हैं और कितने नहीं मिलते। ऐसा माना जाता है, यदि गण मिलते हैं तो संबंध ठीक निभेगा। यदि गण नहीं मिलते हैं तो संबंध ठीक नहीं रह पाएगा। लड़ाई-झगड़ा, तनाव और मन-मुटाव पैदा होते रहेंगे, संबंधों में मधुरता नहीं रह पाएगी। स्वस्थ दांपत्य की दृष्टि से लोग शादी के समय गण मिलाते हैं।

यह लेश्या का गण प्रतिदिन मिलाने का है। यदि लेश्या का गण नहीं मिलता है तो कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। हम लेश्या का गण मिलाएं। इसका सूत्र है लेश्या का परिवर्तन। लेश्या को बदला जा सकता है। यदि लेश्या को बदलने की बात समझ में आ जाए तो सबकुछ समझ में आ सकता है।

परिवर्तन का कारक तत्त्व

हम भावों को शुद्ध रखने का अभ्यास करें। उसके साथ-साथ द्रव्य लेश्या को बदलने पर भी ध्यान दें। भावलेश्या और द्रव्यलेश्या–दोनों की शुद्धि परिवर्तन का कारक तत्त्व है। परिवर्तन की जो चर्चा है, वह सारी लेश्या से जुड़ी हुई है। हम प्रयोग शुरू करें द्रव्यलेश्या से। द्रव्यलेश्या को बदलेंगे तो भावलेश्या में परिवर्तन आना शुरू हो जाएगा। प्रेक्षाध्यान में ज्योतिकेन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान कराया जाता है।

व्यक्ति सफेद रंग को देखने की साधना करता है, उसे यह अनुभूति हो जाती है कि तनाव कम हो रहा है, भाव शुद्ध और पवित्र बनते जा रहे हैं। अनेक लोगों ने इसका प्रयोग किया। उनका सिरदर्द मिट गया। ललाट पर सफेद रंग

का ध्यान करने के दो परिणाम सामने आते हैं–भाव विशुद्धि और सिरदर्द से मुक्ति। सिरदर्द के कारण भी भाव अपवित्र हो सकते हैं। जो ललाट का स्थान है, वह आवेगों का स्थान है, कषाय का स्थान है। यह कषाय का कार्यक्षेत्र है।

आत्मा और शरीर का मिलन

इस बात पर विचार किया गया कि आत्मा और शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर–इनके संगम बिंदु कहां हैं? आत्मा और शरीर का मिलन कहां होता है? सूक्ष्म शरीर भीतर है और स्थूल शरीर बाहर है। आत्मा भीतर है और शरीर बाहर है। इन दोनों का संगम-स्थल कौन-सा है? शरीर में तीन-चार स्थान ऐसे हैं, जहां इनका मिलन होता है।

पहला संगम-स्थल

एक संगम-स्थल है हमारा लिंबिक सिस्टम। हमारे मस्तिष्क का एक हिस्सा है लिंबिक सिस्टम। यह वह बिंदु है, जहां आत्मा और शरीर का मिलन होता है। इस मिलन का माध्यम है लेश्या। लेश्या वहां आती है और शरीर तथा आत्मा को मिला देती है।

गाड़ियों के ठहरने के स्टेशन बहुत हैं, पर जंक्शन बहुत कम हैं। जंक्शन वह होता है, जहां अनेक गाड़ियों का मिलन होता है, जहां से नई ट्रेनें चलती हैं। यह लिंबिक सिस्टम वह केन्द्र है, जहां आत्मा और शरीर का मिलन होता है। यह स्थान बहुत संवेदनशील है, इसे जितना शांत रखा जाए, ठंडा रखा जाए उतना ही भाव विशुद्ध और पवित्र हो जाएगा। यह शांत होता है तो न सिरदर्द होता है, न क्रोध और उत्तेजना सताती है। इस बिंदु को पकड़ना लेश्या को पकड़ना है।

दूसरा संगम-स्थल

शरीर और आत्मा का दूसरा संगम-स्थल है नाभि–तैजसकेन्द्र। नाभि न्यूक्लीयस केन्द्र होता है। नाभि का बहुत महत्त्व बतलाया गया है। कहा जाता है कि नाभि टल गई, पेट में दर्द हो गया, शरीर में दर्द हो गया। अनुभवी लोग सबसे पहले यह देखते हैं कि अमुक व्यक्ति बीमार है। उसकी नाभि टली है या नहीं? नाभि के टलने को 'धरण' कहा जाता है। पेट का एक विशेष प्रकार से नाप-जोख कर यह निर्णय लिया जाता है कि धरण है या नहीं? यदि धरण होती है तो सबसे पहले उसे ठीक किया जाता है। यह महत्त्वपूर्ण संगम-स्थल है।

तीसरा संगम-स्थल

शरीर और आत्मा का तीसरा संगम-स्थल है आनंदकेन्द्र। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण चैतन्यकेन्द्र है। इस पर रंगों का ध्यान करना लेश्या को विशुद्ध और पवित्र बनाना है। इन सब केन्द्रों पर सूर्य का ध्यान, चन्द्रमा का ध्यान, चमकते सफेद रंग का ध्यान किया जाता है और इससे चैतन्यकेन्द्र निर्मल बनते हैं।

रंग : प्रशस्त भी अप्रशस्त भी

ध्यान के ये सारे प्रयोग पौद्गलिक लेश्या से जुड़े हुए हैं। यदि हम अपनी वृत्तियों और भावनाओं को शुद्ध रखना चाहते हैं, अपनी चैतसिक लेश्या को पवित्र रखना चाहते हैं तो हमें लेश्या की निर्मलता पर भी ध्यान केन्द्रित करना होगा, निर्मल रंगों का ध्यान करना होगा। सब रंग एक जैसे नहीं होते। सफेद रंग भी एक जैसा नहीं होता। वह प्रशस्त भी होता है, अप्रशस्त भी होता है। यदि सफेद रंग अप्रशस्त है तो वह अच्छा नहीं है। वही रंग अच्छा होता है, जो प्रशस्त होता है। हम प्रशस्त रंग का चुनाव करें।

काले रंग का महत्त्व

न्यायालय में जज काला कोट पहनता है। वकील भी काला कोट पहनता है। न्यायालय परिसर में सब जगह काला रंग ही काला रंग दिखाई देता है। काला रंग एकदम खराब ही नहीं होता। वह प्रशस्त भी होता है। काले रंग में यह विशेषता है कि वह प्रभावित नहीं होता। राजस्थान की प्रसिद्ध कहावत है–'काली कंबल पर रंग नहीं चढ़ता'। बहुत सारे रंग कमजोर होते हैं, उन पर दूसरे रंग चढ़ जाते हैं, किंतु जो काले रंग का होता है, उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। शायद इसलिए न्याय के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए काले रंग का चुनाव किया गया ताकि न्यायाधीश निष्पक्ष रह सके, सामने आने वाले दबावों से अप्रभावित रह सके। वकील को भी निष्पक्ष रहना चाहिए। न्यायालय निष्पक्षता का स्थान है। उससे जुड़े हुए व्यक्ति के लिए काले रंग का चुनाव इसी दृष्टि से किया गया होगा।

रंग : व्यवसाय विज्ञापन का

आजकल आम आदमी भी रंग के चुनाव पर बहुत ध्यान देता है। वह कोई भी ड्रेस खरीदता या सिलवाता है तो इस बात पर ध्यान देता है कि ड्रेस की मैचिंग ठीक है या नहीं। आजकल इस क्षेत्र में न जाने कितने सलाहकार और परामर्शक हैं। बड़ी-बड़ी कंपनियां और विज्ञापनदाता उनसे सलाह लेते

हैं। केवल सलाह के वे हजारों रुपया पारिश्रमिक ले लेते हैं। विज्ञापन दें तो किस रंग का दें। यदि विज्ञापन ठीक रंग का नहीं होगा तो कंपनी फेल हो जाएगी। विज्ञापन में आकर्षक रंग आ गया तो कंपनी चल पड़ेगी। विज्ञापित माल में कुछ दम हो या नहीं, विज्ञापन अच्छा होना चाहिए। यह विज्ञापन का व्यवसाय रंग के आधार पर पनप रहा है।

इस रंगों के सिद्धांत को जैन दर्शन की भाषा में लेश्या का सिद्धांत कहा गया। ये सारे रंग द्रव्यलेश्या है। हमारा इनसे काम ज्यादा पड़ता है। भावलेश्या हमारे भीतर की बात है। वह हमारे संपूर्ण आचार और व्यवहार को प्रभावित करती है। परिवर्तन के लिए इन दोनों लेश्याओं–द्रव्यलेश्या और भावलेश्या को जानना जरूरी है। अनेक लोग इस भाषा में सोचते हैं कि हम इन सबको क्यों जानें? ये सारे तत्त्वज्ञान से संबंधित हैं। हमें इनसे क्या लेना-देना है।

व्यक्ति इस सचाई को भूल जाता है कि कोई भी व्यक्ति इन सबको जाने बिना अच्छा जीवन जीने की कला नहीं सीख सकता। जिसे अच्छा जीवन जीना है, उसे यह सब जानना होगा। जिसको पशुवत् जीवन जीना है, वह ऐसी बात सोच सकता है। जीवन की सफलता के लिए इन सारी सचाइयों को जानना अपेक्षित है। लेश्या हमारे जीवन से जुड़ी हुई एक सचाई है। हम उसे जानें, सफल जीवन की कुंजी हमारे हाथ में होगी।

17. लेश्या : भावधारा

इच्छा का स्तर

तुम्हारी इच्छा क्या है? तुम्हारी भावना क्या है? तुम क्या सोचते हो? ये तीन प्रयोग हमारी चेतना के तीन स्तरों को अभिव्यक्त करते हैं। हमारी चेतना के कई स्तर हैं। इन स्तरों के आधार पर भाषा के भी अलग-अलग प्रयोग विकसित हुए हैं। 'तुम्हारी इच्छा क्या है?' इस वाक्य में कोई चिंतन नहीं है, मनन का भी सवाल नहीं है। यह मन से परे की बात है। इच्छा चेतना का बहुत गहरा स्तर है। मन बहुत ऊपर रह जाता है।

भावना का स्तर

आदमी इच्छा के आधार पर, इच्छा की चेतना के आधार पर काम करता है। उससे आगे भावना का स्तर है। 'तुम्हारी भावना क्या है?' यह भावना होने का स्तर है। इसके नीचे रहती है इच्छा। क्या होना है? जो घटित हो रहा है, अपने आप हो रहा है और जिसे हम कर नहीं रहे हैं, वह भावना है। भीतर में कुछ ऐसा है कि सबकुछ अपने आप चल रहा है। हमारी कोई चेष्टा नहीं है, प्रयत्न नहीं है, किंतु ऐसी कोई आंतरिक शक्ति और प्रेरणा जागती है, जिससे अपने आप एक क्रम चल रहा है। यह है भावना का स्तर। बाहर से कुछ दिखाई नहीं दे रहा है और भीतर में सबकुछ घटित होता जा रहा है।

भीतर जल रही है आग

कबीर का प्रसिद्ध वाक्य है–

बाहिर से तो कछूय न दीखे, भीतर जल रही जोत।

आग को राख से ढक दिया। बाहर से कुछ नहीं दिख रहा है, पर भीतर एक ज्योति जल रही है। इसी प्रकार भाव हमारी चेतना का वह स्तर है, जो बाहर से कुछ नहीं दिखता, पर भीतर ही भीतर अपना काम कर रहा है। भीतर एक आग निरंतर जल रही है। अनेक बार हम कई लोगों से पूछते हैं कि तुम यह

सब कर रहे हो, आखिर इसके पीछे तुम्हारी भावना क्या है? ऐसा प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है कि जो आचरण किया जा रहा है, उसके पीछे भावना क्या है? इसका अर्थ है आचरण करने के पीछे है भावना का स्तर।

बंदर का चातुर्य

एक मगरमच्छ ने बंदर से दोस्ती कर ली। आम का मौसम आया। नदी के किनारे आम का एक विशाल पेड़ था। बंदर ने आम तोड़ा और उसे मगरमच्छ के मुंह में डाल दिया। उसे भी आम बड़ा मीठा लगा। मगरमच्छ को आम खाने का चस्का लग गया। एक दिन मगरमच्छ की पत्नी ने पूछा कि आजकल तुम देर से क्यों आते हो? क्या बात है? मगरमच्छ ने कहा कि नदी के किनारे मेरा एक मित्र रहता है। वह मुझे रोज मीठे-मीठे आम खिलाता है। आम इतने मीठे होते हैं कि मैं उन्हें छोड़ नहीं सकता, इसीलिए रोज देर हो जाती है। पत्नी ने कहा–अकेले ही खा लेते हो, मुझे नहीं खिलाते। पत्नी के मन में विकल्प उठा कि जो बंदर रोज इतने आम खाता है, उसका मांस कितना मधुर होगा? उसने पति से आग्रह किया कि मुझे आम नहीं चाहिए। मुझे वह बंदर चाहिए, जो इतने मीठे-मीठे आम खाता है। आप उस बंदर को लाएं, मैं उसे खाऊंगी। मुझे बंदर का कलेजा चाहिए। मगरमच्छ ने कहा कि तुम कैसी बात करती हो? वह मेरा मित्र है, मैं उसे कैसे मारूं? मगरमच्छ की पत्नी अपने आग्रह पर अड़ी रही। मगरमच्छ कृतघ्न नहीं था, किंतु पत्नी के दुराग्रह के सामने उसे झुकना पड़ा।

उसने सोचा कि यदि इसकी भावना पूरी नहीं करूंगा तो घर में कलह होगा, अशांति हो जाएगी। वह दूसरे दिन बंदर से बोला–भैया! मेरी पत्नी ने तुम्हें बुलाया है? क्या तुम उससे मिलना नहीं चाहोगे? बहुत आग्रह किया है उसने मिलने के लिए। बंदर बोला कि मैं पानी में कैसे जा सकता हूं? मगरमच्छ ने उसकी समस्या को समाहित करते हुए कहा–तुम मेरी पीठ पर बैठ जाओ, मैं तुम्हें ले चलूंगा। मगरमच्छ की बात स्वीकार कर बंदर उसकी पीठ पर बैठ गया। मगरमच्छ बहुत भावुक था। उसने मार्ग में यह बात बता दी कि तुम्हारी भाभी ने तुम्हारा कलेजा खाने के लिए तुम्हें बुलाया है।

बंदर ने चतुराई से काम लिया। उसने कहा कि तुम कैसे मूर्ख हो? हम तो पेड़ों पर इधर-उधर फांदते रहे हैं, कलेजा साथ में नहीं रखते। पहले बताते तो कलेजा साथ ले आता। चलो, वापस चलो, हम कलेजा ले आते हैं। मगरमच्छ वापस किनारे की तरफ चल पड़ा। जैसे ही तट आया, बंदर उछलकर पेड़ पर चढ़ गया। मगरमच्छ भावना के स्तर पर था, उसमें चिंतन नहीं था। ज्योंहि बंदर

पेड़ पर चढ़ा, मगरमच्छ उसे देखता रह गया। उसे बंदर का चातुर्य समझ में आ गया।

चिंतन और भावना

हर प्राणी भावना के स्तर पर काम करता है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा आदि इनमें चिंतन नहीं होता। इनके पास मन है, पर बहुत छोटा मन है। **त्रैकालिकसंज्ञानं मनः**–दीर्घकालिकी संज्ञा है मन। मन की यह परिभाषा शायद पशुओं में ज्यादा घटित नहीं होती। यह परिभाषा मनुष्यों के लिए घटित हो सकती है, पर सभी मनुष्यों के लिए भी नहीं। ऐसे भोले आदमी भी हैं, जो एक घंटा बाद की बात भी नहीं सोच सकते और एक घंटा पहले क्या किया, यह भी नहीं सोच सकते। न उन्हें कुछ याद रहता है, न कल्पना कर सकते हैं, न योजना बना सकते हैं और न चिंतन कर सकते हैं। समनस्क होते हुए भी अनेक मनुष्य इस प्रकार के होते हैं। पशुओं की बात ही क्या है!

मनोविज्ञान की भाषा

मन का काम है सोचना, चिंतन करना, कल्पना करना। मन और भाव एक नहीं है। लेश्या मन नहीं है। भाव हमारी चेतना का गहरा स्तर है, जिसे मनोविज्ञान की भाषा में सब-कोन्शियस कहा जा सकता है। मनोविज्ञान में तीन शब्द हैं–कोन्शियस, सब-कोन्शियस और अन-कोन्शियस। अन-कोन्शियस अचेतन मन हमारा अध्यवसाय हो सकता है। यहां अचेतन का अर्थ जड़ नहीं है। जहां चेतन मन काम नहीं करता, वहां भीतरी चेतना काम करती है और उसी का नाम है अचेतन मन।

जैन दर्शन की भाषा

जैन दर्शन की भाषा में कहा जा सकता है कि अध्यवसाय हमारी सूक्ष्मतर चेतना है। भाव या लेश्या हमारी सूक्ष्म चेतना का स्तर है और चित्त हमारी स्थूल चेतना है। जो लेश्या का स्तर है, वह होने का, सूक्ष्म चेतना का स्तर है, जहां प्रतिक्षण घटित हो रहा है, भाव का चक्का निरंतर चल रहा है। जब हम नींद में सोते हैं तब हमारा चेतन-मन काम नहीं करता, किंतु भाव बराबर काम करता रहा है। नींद में भी लेश्याएं चल रही हैं। आदमी सोता है, लेश्याएं कभी नहीं सोतीं, भाव कभी नहीं सोते। भाव मन से काम लेता भी है और नहीं भी लेता। आदमी जागता है तो मन से काम लेता है और सोता है तो मन से काम नहीं लेता। चेतन मन काम करता है तभी हम मन से काम करते हैं। यह चेतना का स्थूल स्तर है।

लेश्या : शब्द-मीमांसा

लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है। शब्द भी बड़ा जटिल खोजा गया–लेश्या। इस शब्द पर भी बहुत उलझनें पैदा हुई हैं। लेश्या का अर्थ किया गया है–ज्योति-रश्मि। जैसे सूरज की रश्मियां होती हैं, वैसे ही हमारी चेतना की रश्मियां होती हैं। चेतना हमारे भीतर है, किंतु उसकी किरणें बाहर तक फैल जाती हैं। नंदी सूत्र की चूर्णि में इस शब्द पर बहुत ध्यान दिया गया है। यह शब्द है रस्सी। रस्सी से बना लस्सी और उससे बन गया लेस्सा यानी लेश्या। एक समीकरण बन गया–रस्सी+लस्सी+लेस्सा=लेश्या। रस्सी रज्जु का भी नाम है।

भाव से है आचरण का संबंध

हमारा जो आचरण है, व्यवहार है, उसका संबंध मन से नहीं है, मन से परे की चेतना से है। एक आदमी बहुत समझदार और चिंतनशील है, किंतु वह प्रकृति से कुटिल है। चिंतन का संबंध मन से है, पर कुटिलता का संबंध मन से नहीं है। व्यवहार में यह आरोपण भी कर दिया जाता है कि अमुक व्यक्ति का मन बहुत कुटिल है। मन न सीधा होता है, न टेढ़ा। उसका काम ही दूसरा है। यह टेढापन, यह वक्रता कहां से आती है? यह वक्रता भाव से पैदा होती है। एक आदमी क्रूर है, नृशंस है। प्रश्न होता है कि यह नृंशसता और क्रूरता कहां से पैदा हुई? यह मन से नहीं, भाव से आती है।

कृष्णलेश्या का एक परिणाम बतलाया गया है नृशंसता। इसी प्रकार जो व्यक्ति पांच आश्रवों में प्रवृत्त है, तीव्र आरंभ में संलग्न है, षट्काय से अविरत है, क्षुद्र है, अजितेन्द्रिय है, बिना विचारे काम करने वाला है, वह कृष्णलेश्या में परिणत होता है। प्रमत्तता, आसक्ति, रस-लोलुपता, मूर्च्छा आदि से युक्त जो प्रवृत्ति है, वह मन का काम नहीं है। वह भावना के स्तर पर घटित होने वाली क्रिया है।

पशु में भी है भावना का स्तर

यह भावना का स्तर प्रत्येक प्राणी में होता है। क्या एक कुत्ते में मन की शक्ति है? उसमें कल्पना और योजना बनाने की शक्ति है, किंतु वह भावना के स्तर पर होती है। जब बादल आते हैं तब टिट्टिभ (टिटोड़ी) बहुत तेज बोलती है। वह खुले में अंडा देती है और घोंसला नहीं बनाती। वह इतनी सुरक्षा करती है कि आदमी सोच ही नहीं सकता। वह सुरक्षा किस आधार पर करती है? यह सारा प्रयत्न भावना से प्रेरित होता है। भावना का स्तर पशु में बहुत प्रबल होता

है। शिकारी जंगल में शिकार की टोह में घूम रहा था। उसे एक हरिणी दिखाई दी। उसने हरिणी की ओर निशाना साधा। हरिणी ने भावुक स्वर में कहा–

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जितांगाद्,
मां मुञ्च वागुरिक! यामि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि शस्यकवलग्रहणानभिज्ञाः,
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः ॥

ऐ शिकारी! तुम मेरा पूरा मांस ले लो, केवल दो स्तनों को छोड़ दो। मैं एक बार अपने बच्चों के पास जाना चाहती हूं, क्योंकि मेरे बच्चे बहुत छोटे हैं। वे अभी तक घास चरना भी नहीं जानते हैं। वे मेरी बाट जो रहे हैं कि कब मां आती है? कब स्तनपान कराती है? इसलिए हे शिकारी! तुम कृपा करो और कुछ देर के लिए मुझे छोड़ दो। यह बात चिंतन के स्तर पर नहीं, केवल भावना के स्तर पर ही पैदा हो सकती है।

विकास हो नई शाखा का

हम इस सचाई को समझें कि हमारा आचरण और व्यवहार मन से जुड़ा हुआ नहीं है। बार-बार यह कहा जाता है कि मन ही ऐसा है? मन पकड़ में नहीं आता। वह पकड़ में कैसे आएगा? जो काम मन का नहीं है, हम उसका आरोपण मन पर कर रहे हैं। हमें मन से आगे पहुंचना होगा, लेश्या के स्तर पर, भावना के स्तर पर पहुंचना होगा। उस स्तर को पकड़ कर ही हम समस्या का समाधान कर सकते हैं।

पूरे आचारशास्त्र और व्यवहारशास्त्र की मीमांसा भावना के स्तर पर की जा सकती है। आज विज्ञान की एक पूर्ण शाखा बन गई–मनोविज्ञान (साइकोलॉजी)। यह बहुत भ्रामक शब्द बन गया है। हमारे आचरण और व्यवहार की व्याख्या मन के स्तर पर नहीं की जा सकती। यदि हम मन के स्तर पर उसकी व्याख्या करेंगे तो भ्रांति के चक्रव्यूह में फंस जाएंगे। जैसे मनोविज्ञान विज्ञान की एक शाखा है, वैसे ही एक नई शाखा का विकास होना चाहिए।

लेश्या है भावविज्ञान

लेश्या का मतलब है भावविज्ञान। पहला नंबर होना चाहिए भावविज्ञान का और दूसरे नंबर पर रहना चाहिए मनोविज्ञान। हम भावविज्ञान को छोड़कर मनोविज्ञान के आधार पर अपने व्यक्तित्व का अंकन करना चाहेंगे तो भ्रांतियां बढ़ती चली जाएंगी। आज मनोविज्ञान के संदर्भ में जो चल रहा है, क्या हम

उसे आंख मूंद कर मान लें? स्वीकार कर लें? ऐसा करना ठीक नहीं होगा।

हमारे पास ज्ञान और चिंतन की बहुत बड़ी राशि है और वह हमें विरासत में मिली है। हम इसका उपयोग करें और मनोविज्ञान के सामने इस बात को प्रस्तुत करें कि मनोविज्ञान के आधार पर व्यक्तित्व का जो अंकन किया जाता है, उसकी जो चिकित्सा की जाती है, वह तब तक सफल नहीं होगी, जब तक भावना का बल उसके साथ नहीं जुड़ेगा। मनोविज्ञान की सफलता के लिए भावविज्ञान का मूल्यांकन और उपयोग अनिवार्य है।

भावना का चमत्कार

राजलदेसर के एक भाई ने कहा–महाराज! मेरा बारह साल का एक लड़का छह माह से बहुत बीमार है। मैं छह माह से इसका इलाज करा रहा हूं, पर कुछ भी लाभ नहीं हुआ। चलना तो दूर की बात है, वह उठ भी नहीं सकता। प्रेक्षाध्यान के प्रशिक्षक ने उसे भावना का प्रयोग कराया, संकल्प-शक्ति का प्रयोग कराया। पांच-छह दिन के प्रयोग से ही लड़के के स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक सुधार आ गया। जो लड़का उठ भी नहीं सकता था, वह आज राजलदेसर से चलकर आपके दर्शनार्थ लाडनूं पहुंच गया है।

यह है भावना का चमत्कार। बहुत गहरा है भावना का प्रयोग। हम जो सजेशन देते हैं, वे मन को नहीं, भाव को छूते हैं। जो मन के स्तर पर रहता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। हम मन के उस पार भावना के स्तर पर चले जाएं, भावना के स्तर पर अपनी बात पहुंचा दें, एक दिन में परिवर्तन घटित हो जाएगा। इसके लिए अपेक्षित है मनोविज्ञान के साथ-साथ भावविज्ञान का गहरा अध्ययन। उत्तराध्ययन का चौतीसवां लेश्या अध्ययन भावविज्ञान का अध्ययन है। यदि हम इसका गहराई से विश्लेषण करें तो शायद एक भ्रांति-चक्र को तोड़कर गहरी सचाई तक पहुंच जाएंगे।

18. लेश्या और रंग

वर्षा बरसी। लोगों के चेहरे खिल गए। आकाश स्वच्छ और प्रसन्न हो गया। सबके रंग बदल गए। आकाश का भी रंग बदल गया, पेड़ पौधों का भी रंग बदल गया और मनुष्य का भी रंग बदल गया। रंग ही है, जो बदलता है। हम परिवर्तन की बात कहते हैं। परिवर्तन करने वाला कौन है? सारा रंगों का खेल है। रंग बदला, स्वभाव बदला। रंग बदला, मन बदला। रंग बदल जाए तो सबकुछ बदल जाए।

रंग न बदले तो कुछ भी न बदल पाए। शरीर, मन और भाव–इन तीनों को रंग प्रभावित करते हैं। मनुष्य पर बाहरी पदार्थों का जो प्रभाव होता है, उसमें सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला है रंग और भी बहुत सारी बातें प्रभावित करती हैं, किंतु रंग सबसे ज्यादा प्रभावित करता है।

तीन रंग : तीन दोष

हमारे शरीर में तीन तत्त्व या दोष माने जाते हैं। आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त और कफ–ये तीन दोष शरीर को चला रहे हैं। हम तीन रंगों को लें–नीला, हरा और लाल। नीला रंग बहुत शांतिदायक होता है। यह गर्मी, ऊष्मा या उत्तेजना–इन सबको मिटाता है। गर्मी के मौसम में नीला रंग बहुत उपयोगी होता है। जितने भी पित्तप्रधान रोग हैं, उन्हें नीला रंग दूर करता है। हरा रंग रक्तशोधक होता है। यह विजातीय तत्त्वों को बाहर निकालता है।

जितने विजातीय तत्त्व शरीर में जमते चले जाते हैं, हरा रंग उन्हें दूर कर देता है। वातप्रधान रोगों को शांत करने में भी हरा रंग बहुत उपयोगी है।

लाल रंग स्फूर्तिदायक है। यह शरीर में चुस्ती लाता है, सुस्ती को दूर करता है। जो आलसी हैं, नींद में ऊंघते रहते हैं, सुस्त बैठे रहते हैं, उनके लिए लाल रंग बहुत लाभदायक है। यह कफप्रधान रोगों को शांत करता है।

रंगों का कार्य

रंगों का काम है शरीर में संतुलन बनाए रखना। एक आदमी बहुत मोटा है, भारी-भरकम है, चर्बी बढ़ती चली जा रही है और दूसरा आदमी बहुत दुबला-पतला है। इसका कारण क्या है? इसका एक कारण है रंगों का असंतुलन। लाल रंग अधिक बढ़ गया है तो व्यक्ति दुबला-पतला हो जाएगा। नीला रंग अधिक बढ़ गया है तो व्यक्ति मोटा-ताजा होगा, उसकी चर्बी बढ़ती चली जाएगी। जिस व्यक्ति में लाल और नीला–ये दोनों रंग संतुलित हैं, वह न मोटा होगा और न दुबला-पतला। उसका शरीर संतुलित होगा, सुंदर और सुगठित होगा।

रंगों का प्रभाव

रंगों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी होता है। लाल रंग अधिक बढ़ गया है तो गुस्सा आने लग जाएगा, उत्तेजना ही उत्तेजना आएगी। यदि नीला रंग कम हो गया है तो व्यक्ति स्वार्थी बन जाएगा। वह केवल अपनी बात सोचेगा, दूसरों का हित-अहित नहीं देखेगा। मानसिक प्रभाव की दृष्टि से भी रंगों का संतुलन जरूरी है। हमारे शरीर के जितने अंग हैं, उन सबके अपने-अपने रंग हैं। बाहर से चमड़ी का रंग एक जैसा दिखाई देता है, पर भीतर में हर अवयव का अपना-अपना रंग है। जिसने शरीर के भीतर गहराई से देखा है, उसने इस तथ्य का साक्षात्कार किया है। रश्मि और रंग का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव होता है? यह आज वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन चुका है।

गौतम की जिज्ञासा : महावीर का समाधान

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–'भंते! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या के पुद्गलों को प्राप्त कर तद्रूप में (नीललेश्या में) परिणत हो जाती है?'

महावीर ने कहा–'गौतम! ऐसा होता है। कृष्णलेश्या केवल नीललेश्या के रूप में ही परिणत नहीं होती, किंतु वह कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के रूप में भी परिणत हो जाती है।

थोड़े अच्छे पुद्गलों का योग मिला, कृष्णलेश्या के पुद्गल नीललेश्या में बदल गए।

पीतलेश्या के पुद्गलों का योग मिला, कृष्णलेश्या के पुद्गल पद्मलेश्या में बदल गए।

तेजोलेश्या के पुद्गलों का योग मिला, कृष्णलेश्या तेजोलेश्या के रूप में परिणत हो गई।

शुक्ललेश्या के पुद्गलों का योग मिला, कृष्णलेश्या शुक्ल लेश्या में बदल गई।'

परिवर्तन का सिद्धांत

हम लेश्या ध्यान का प्रयोग करते हैं, उसका आधार क्या है? उसका आधार है प्रज्ञापना सूत्र का वह प्रकरण, जिसमें लेश्या परिवर्तन का सिद्धांत प्रतिपादित है।

हम रंगों के आधार पर लेश्या को बदल सकते हैं। हम सफेद रंग का ध्यान करते हैं, इसका अर्थ है यदि कृष्णलेश्या या अन्य किसी लेश्या के जो परिणाम विद्यमान हैं तो वे शुक्ललेश्या में बदल जाएंगे। यह लेश्या परिवर्तन का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। हम अनेक बार देखते हैं कि व्यक्ति के सामने कोई स्थिति आती है और व्यक्ति बदल जाता है। स्थूल रूप में हमारा निष्कर्ष होता है–एक घटना घटी और आदमी बदल गया। वस्तुतः स्थूल घटना के साथ-साथ रंग भी बदल जाते हैं और आदमी का अंतःकरण भी बदल जाता है।

महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह

महाराणा प्रतापसिंह और शक्तिसिंह दोनों भाई शिकार खेलने के लिए जंगल में गए। विजय दशमी का दिन था। दोनों भाइयों ने बाण चलाया और एक हिरण को मार डाला। यह एक घटना घटी और इस घटना को लेकर एक विवाद भी छिड़ गया। प्रताप ने कहा–हिरण मेरे बाण से मरा है। शक्तिसिंह ने कहा–हिरण मेरे बाण से मरा है।

इस बात को लेकर भाइयों में विवाद बढ़ गया। दोनों भाई बहुत शक्तिशाली और समर्थ थे, किंतु दोनों में ही अक्खड़पन भी बहुत था, राठौड़ीपन भी था। राठौड़ी वृत्ति के लोग समझौता करना नहीं जानते। उन्होंने लचीला होना सीखा ही नहीं था। दोनों एकांत आग्रह पर अड़ गए।

प्रताप कहता है कि हिरण मैंने मारा है और शक्तिसिंह कहता है कि हिरण मैंने मारा है। हिरण किसके बाण से मरा? इसका निपटारा कौन करे? दोनों सगे भाई, दोनों में बड़ा प्रेम, किंतु इस एक बात ने दोनों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। ऐसा लगता है कि उस समय दोनों कृष्णलेश्या के परिणामों में चले गए। दोनों ने शस्त्र निकाल लिए और एक-दूसरे को मारने के लिए कटिबद्ध बन गए।

परिवर्तन के प्रयत्न

मेवाड़ का राजपुरोहित दोनों राजकुमारों के साथ था। उसने देखा कि यह

अनर्थ हो रहा है। यह अन्याय होगा। दोनों शक्तिशाली हैं, शस्त्रों से सज्जित हैं। दोनों ओर से एक साथ प्रहार होगा, दोनों अकाल मौत मर जाएंगे। मेवाड़ पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ेगा। राजपुरोहित उन दोनों में बीच-बचाव करने के लिए आगे आया।

उसने कहा–'राजकुमारो! आप क्या कर रहे हैं? मेवाड़ की धरती शत्रुओं से घिरी हुई है, चारों ओर से कठिनाइयां प्रस्तुत हो रही हैं। शत्रु घात लगाए बैठे हैं। आप लोग ऐसा करेंगे तो मेवाड़ का, हमारी स्वतंत्रता का क्या होगा?

राजपुरोहित ने बहुत समझाया, पर दोनों राजकुमार अपनी बात से हटने के लिए तैयार नहीं हुए। जब तवा गर्म होता है तब उस पर पानी की जो बूंदें गिरती हैं, उनका कोई विशेष असर नहीं होता।

राजपुरोहित का बलिदान

राजकुमारों का अपरिवर्तित मानस राजपुरोहित के लिए चिंता का विषय बन गया। बदलने के लिए लेश्या का परिवर्तन जरूरी है। यह एक तथ्य है कि जब-जब किसी व्यक्ति ने अनशन या सत्याग्रह किया है, तब-तब लेश्या का परिवर्तन हुआ है। व्यक्ति बदल जाता है, उसकी लेश्या बदल जाती है, रंग बदल जाता है और सामने वाले व्यक्ति का हृदय भी बदल जाता है।

कभी-कभी क्रूर आदमी का हृदय भी पसीज जाता है। ऐसे व्यक्ति, जिन्होंने कभी हिन्दुस्तान न छोड़ने की बात कही थी, जो हिन्दुस्तान को छोड़ना नहीं चाहते थे, वे भी पसीज गए, हिन्दुस्तान स्वतंत्र हो गया। जब बड़ी घटना घटती है, लेश्या बदल जाती है, स्थिति में बदलाव आ जाता है।

राजपुरोहित ने सोचा कि ऐसे काम नहीं होगा। उसमें आत्मोत्सर्ग का भाव प्रबल बन गया कि यदि आप मारना ही चाहते हैं तो मुझे मार दें। यदि मारने से ही संतोष मिले तो मैं आपके सामने प्रस्तुत हूं। इतना कहने पर भी राजकुमारों का रोष शांत नहीं हुआ। राजपुरोहित एक कदम आगे बढ़ा, उसने कटार निकाली और अपनी छाती में भौंक ली। राजपुरोहित का बलिदान देखकर दोनों कुमार स्तब्ध रह गए। महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह का हृदय बदल गया, दोनों भाई शांत हो गए।

अपेक्षित है प्रयोग

एक घटना का इतना प्रभाव होता है कि व्यक्ति बदल जाता है। किसी बड़े परिवर्तन के लिए बड़ी घटना का होना जरूरी है, बड़े त्याग या बलिदान

का होना जरूरी है। लेश्या का परिवर्तन भी कुछ ऐसे ही होता है। बड़ी बात या बड़ी घटना सामने आती है, आदमी बदल जाता है, कृष्णलेश्या शुक्ललेश्या में परिणत हो जाती है। लेश्या बदली, भाव बदला और आदमी बदल गया।

लेश्या नहीं बदली तो कुछ भी नहीं बदला। रंगों के द्वारा लेश्या का परिवर्तन होता है। यह बात सिद्धांतः ठीक है, किंतु केवल सिद्धांत से नहीं, प्रयोग से परिणाम आता है। हम परिवर्तन के लिए इसका प्रयोग करें, यह अपेक्षित है।

तात्पर्य वैदिक संध्या का

एक योगी ने लिखा कि जो व्यक्ति वैदिक संध्या की ठीक से उपासना करता है, वह शरीर और मन दोनों से स्वस्थ रहेगा। वैदिक में तीन रंगों का विधान है–लाल, नीला और सफेद। ब्रह्मा, विष्णु और महेश–इनके ये तीन रंग हैं। कृष्ण का वर्ण है श्याम। श्याम का अर्थ काला नहीं है। वस्तुतः उसका अर्थ नीला है। महेश का नीला, ब्रह्मा का लाल और शिव का रंग सफेद है।

वैदिक संध्या का तात्पर्य है कि जो इन तीनों वर्णों का संध्या के समय ध्यान करता है, वह शरीर और मन दोनों दृष्टियों से स्वस्थ रहता है।

संदर्भ नमस्कार महामंत्र का

जैनों का महामंत्र है नमस्कार महामंत्र। नमस्कार महामंत्र का ध्यान पांच वर्णों के साथ किया जाता है। यदि व्यक्ति प्रतिदिन आधा घंटा तक निर्धारित रंगों के साथ नमस्कार महामंत्र का ध्यान करे तो तीन मास बाद उसे लगेगा कि मैं हर दृष्टि से ठीक हो रहा हूं। मेरे स्वास्थ्य, प्रसन्नता और शांति में वृद्धि हो रही है।

हम नमस्कार महामंत्र की माला जपने को रूढ़ि न बनाएं। इसको वैज्ञानिक रूप दें, एक नया प्रायोगिक रूप दें। आज माला को एक रूढ़ि का सा रूप मिल रहा है। व्यक्ति माला जपने बैठता है और जल्दी से जल्दी उसे पूरा कर लेना चाहता है। बहुत लोग कहते हैं, माला जपने में कितना समय लगता है। थोड़े समय में ही एक माला का जप हो जाता है।

अनेक लोग गर्व की भाषा में इस प्रकार भी कहते हैं कि मैं पांच मिनट में पूरी माला जप लेता हूं। पांच मिनट में एक सौ आठ बार नमस्कार महामंत्र का जप! क्या यह जप का सही तरीका है? लगता है हमारी गति कम्प्यूटर से भी तेज हो गई है। वस्तुतः इतनी जल्दबाजी में माला जपना, जप की सम्यक् विधि नहीं हो सकती।

अनेक लोग शिकायत करते हैं–महाराज! रोज माला जपते हैं, पर उसका कोई लाभ नहीं मिलता। जब जप की विधि ही सही नहीं है तो लाभ कैसे मिलेगा? निष्ठा और सम्यक् विधि से किया गया जप ही सार्थक परिणाम देने वाला होता है।

मूल्य है निष्पत्ति का

हम नमस्कार महामंत्र के जप के साथ रंगों का प्रयोग करें। इससे रंग और लेश्या का संतुलन सधेगा। शारीरिक, मानसिक और भावात्मक संतुलन सधेगा। नमस्कार महामंत्र को संख्या के आधार पर गिनने की बात का उतना मूल्य नहीं है, जितना मूल्य इस बात का है कि जप किस ढ़ंग से किया जा रहा है। संख्या पर न अटकें। जितना करें, इतने अच्छे ढ़ंग से करें कि मन उसमें पूरी तरह नियोजित हो जाए।

खाना खाया और स्वाद नहीं आया तो क्या खाना खाया? जप किया, ध्यान किया और आनंद नहीं आया तो जप करने का क्या अर्थ रहा? जप करें तो यह लगना चहिए कि मन बहुत शांत रहा, भावना बहुत पवित्र रही। यदि ऐसा नहीं लगता है तो मानना चाहिए कि जप की विधि में कहीं कमी है।

सम्यक् विधि और एकाग्रता के साथ किया गया जप कभी निष्फल नहीं होता। उससे व्यक्ति में यह अनुभूति जागती है कि मेरा विकास हो रहा है, शांति और पवित्रता का स्रोत प्रस्फुटित हो रहा है।

कठिन है संतुलन

जीवन की एक व्याख्या की जा रही है–स्ट्रगल इज लाइफ–संघर्ष ही जीवन है। यह विकास की परिभाषा है–जीवन एक संग्राम है, युद्ध है। उसमें लड़ना है, संघर्ष करना है और संघर्ष करके आगे बढ़ना है। आज समाज में कितनी टकराहट चल रही है। एक दूसरे की टांग खींचना, एक दूसरे को पछाड़ना यह केकड़ावृत्ति समाज में कितनी चल रही है। इस केकड़ावृत्ति की अवस्था में आदमी का आगे बढ़ना कठिन होता है। संतुलन का जीवन जीना आसान बात नहीं है।

मित्र की मुसीबत

एक दिन एक व्यक्ति बहुत परेशान लग रहा था। मित्र ने पूछा–'क्या बात है? आज इतने परेशान क्यों हो?'

उसने कहा–'मैं बहुत मुसीबत में फंस गया हूं?'

मित्र बोला–'तुम्हारे क्या मुसीबत हो सकती है? तुम्हारें दोनों लड़के संपन्न हैं। खूब धन कमा रहे हैं। तुम्हें किस बात की कमी है?'

वह बोला–'तुम ठीक कहते हो। लड़के संपन्न हैं, पर मेरी मुसीबत उनके कारण ही है।'

'ऐसा क्या हुआ, जो मुसीबत आ गई? बताओ तो सही।'

'मुसीबत बहुत बड़ी है। मैंने लड़कों को पढ़ाया। एक डॉक्टर बन गया और एक वकील। उनका यह व्यवसाय ही मुसीबत का कारण है।'

मित्र ने कहा–'उनके व्यवसाय से आपकी मुसीबत का क्या लेना देना है?'

एक बार एक्सीडेंट में मेरे पैर में चोट लग गई, पैर में घाव हो गया। जो डॉक्टर है, वह कह रहा है–पिताजी! घाव को जल्दी ठीक कर लें अन्यथा इसमें रस्सी पड़ जाएगी। हो सकता है फिर पैर काटने के सिवाय कोई विकल्प न रहे।

मित्र ने कहा–'यह तो अच्छी बात है। इसमें मुसीबत का प्रश्न ही कहां है?'

'लेकिन जो वकील है, वह कह रहा है पिताजी! अभी घाव को ठीक नहीं करना है। इसे बढ़ने दें। जब घाव गहरा हो जाएगा तब मैं दावा करूंगा और पूरा हर्जाना वसूल करूंगा। यही मेरी मुसीबत है।'

समाधान है लेश्या

यह जीवन का संघर्ष है, टकराहट है। व्यक्ति दोनों ओर से खिंचा जा रहा है। एक लड़का कहता है कि ठीक कर लें और एक लड़का कह रहा है कि घाव को और गहरा होने दें। यह जीवन का विचित्र संघर्ष है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति जी रहा है और संघर्षो को झेल रहा है। परिवार का संघर्ष है, भाई-भाई का संघर्ष है, पति-पत्नी का संघर्ष है, समाज के साथ भी संघर्ष है। राजनीति में चले जाएं तो संघर्ष ही संघर्ष हैं। इस प्रकार टकराहट, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की स्थिति में आदमी स्वस्थ, शांत एवं संतुलित जीवन कैसे जी सकता है? यह एक प्रश्न है और इसका समाधान है लेश्या का प्रयोग।

हम नमस्कार मंत्र का पांच रंगों के साथ प्रयोग करें, शांत एवं संतुलित जीवन की बात हाथ में आ जाएगी। ये बाहरी संघर्ष चलते रहेंगे, दुनिया का स्वभाव मिटेगा नहीं, पर व्यक्ति के भीतर कोई संघर्ष नहीं रहेगा, भीतर में कोई चूल्हा नहीं जलेगा। भीतर आग जले, चूल्हा जलता रहे तो समस्या पैदा होती है। यदि व्यक्ति अपने मन को स्वस्थ, शांत एवं संतुलित रखना चाहता है,

अपनी भावनाओं को अनुशासित रखना चाहता है तो उसके लिए लेश्या ध्यान या रंग ध्यान का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है।

बाहरी शत्रु : भीतरी शत्रु

वस्तुत: आदमी अपने आप से परेशान है। एक शत्रु होता है बाहर का और एक शत्रु होता है भीतर का। यह भीतर का शत्रु बहुत परेशानी पैदा करता है। हम इन भीतरी परेशानियों को कम करें, भीतर का सारा वातावरण वातानुकूलित हो जाएगा। जब भीतर वातानुकूलन की स्थिति बन जाएगी तब बाहरी प्रभाव कहां से आएगा? बाहरी प्रभाव को रोकने के लिए मकान को एयरकंडीशंड बनाया जाता है। लाखों रुपये खर्च कर सकते हैं, पर दिमाग को ठंडा रखने के लिए खर्च नहीं करेगा। हम गहराई से सोचें कि मकान को ठंडा रखना अधिक जरूरी है या दिमाग को ठंडा रखना?

वातानुकूलन का विज्ञान

एक भाई ने कहा कि मैंने अभी नए ऑफिस के निर्माण में चालीस-पचास लाख रुपये लगा दिए। मैंने पूछा कि एक ऑफिस के निर्माण में इतना व्यय? उस भाई ने जवाब दिया कि उसे एयरकंडीशंड बनाने में ही तीन-चार लाख रुपए खर्च हो गए। मैंने पूछा–दिमाग को एयरकंडीशंड बनाने के लिए भी कुछ खर्च करते हो? उसके पास इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं था। व्यक्ति इस बारे में सोचता ही नहीं है। वह बाहरी वातावरण या मकान को समशीतोष्ण करना चाहता है, पर भीतर जो आग जल रही है, उसे शांत करने की कोई चिंता नहीं करता, उस दिशा में प्रयत्न भी नहीं करता। यह लेश्या का विज्ञान, रंग का विज्ञान भीतरी वातावरण को वातानुकूलित बनाने का महत्त्वपूर्ण विज्ञान है। हम इसका मूल्यांकन और प्रयोग करें, रंगों का संतुलन सधेगा और वह जीवन के लिए वरदान सिद्ध होगा।

19. लेश्या : एक विधि है चिकित्सा की

हम उस जगत में जीते हैं, जिसमें सूर्योदय से सूर्यास्त तक विरोधाभास चलते हैं। एक भी क्षण ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। एक भी व्यक्ति ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। संभवतः एक भी पदार्थ ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। कोई व्यक्ति विरोधी बात कहता है, वह बात अखरती है, व्यक्ति में विरोधाभास है, किंतु हम यह न भूलें कि हमारा समूचा जीवन विरोधाभासों से भरा पड़ा है।

एक भी आदमी ऐसा नहीं जो सोलह आना स्वस्थ हो और एक भी आदमी ऐसा नहीं जो सोलह आना बीमार हो। वह स्वस्थ भी है, बीमार भी है। एक भी आदमी ऐसा नहीं, जिसका मन संपूर्ण रूप से स्वस्थ हो, पागलपन का जिसमें लेश भी न हो। एक भी आदमी ऐसा नहीं, जो संपूर्ण रूप से पागल हो। पागल है उसमें भी समझदारी है। समझदार है, उसमें भी कुछ पागलपन है। समझदारी और पागलपन दोनों साथ-साथ चलते हैं। न जाने इस जगत का क्या नियम है कि हर क्षण हर भाग में विरोधाभास उपलब्ध है।

विमर्श अपाय और उपाय का

इन विरोधाभासों की स्थिति में भी महावीर ने अनेकांत का प्रतिपादन किया था। हम विरोधाभासों को नहीं मिटा सकते। किसी की शक्ति नहीं कि वह उन्हें मिटा दे। हम केवल अपनी दृष्टि में संतुलन ला सकते हैं, समन्वय ला सकते हैं, सापेक्षता ला सकते हैं और विरोधों में अविरोध देख सकते हैं। यह हमारी सीमा में है, किंतु प्रकृतिगत विरोधाभासों को हम मिटा नहीं सकते। मनुष्य बीमार भी है और स्वस्थ भी है।

बीमारी एक अपाय है। उसको मिटाने का उपाय भी है। अपाय और उपाय दोनों साथ-साथ चलते हैं। जितने अपाय हैं, उतने ही उपाय हैं। अपाय हैं तो उन्हें खोजना होगा। जब अपाय सामने आया तब मनुष्य ने उपाय खोजा। शरीर बीमार होता है। बीमारी एक अपाय है। मनुष्य ने शरीर को स्वस्थ रखने

के लिए चिकित्सा पद्धति खोजी। शरीर की रुग्णता एक अपाय है। चिकित्सा पद्धति उसका उपाय है। मन की रुग्णता एक अपाय है। मनुष्य ने उपाय खोजा कि मन स्वस्थ रह सके और वह मानसिक स्वास्थ्य के साथ जी सके। दूषित भाव एक अपाय है। मनुष्य ने उपाय खोजा कि भाव प्रसन्न रह सकें, निर्मल और निर्दोष रह सके। भाव का दोष आध्यात्मिक बीमारी है तो भाव को स्वस्थ रखना आध्यात्मिक चिकित्सा है। ध्यान की साधना इसीलिए है कि उससे भाव शुद्ध रख सकें, विचारों को स्वस्थ रख सकें और साथ-साथ शरीर को भी स्वस्थ रख सकें। भाव का स्वास्थ्य, विचारों का स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य–तीनों स्वास्थ्य हमें उपलब्ध हों। इसीलिए ध्यान की साधना करते हैं।

प्रेक्षा : जागरूकता को बढ़ाने का उपाय

हम दीर्घश्वास का प्रयोग करते हैं। यह इसलिए कर रहे हैं कि भीतर जो विष भरा है, जमा हुआ है, वह निकल जाए और शुद्ध प्राणशक्ति का प्रवेश हो सके। हम समवृत्तिश्वास का प्रयोग इसलिए कर रहे हैं कि मन की मूर्च्छा टूटे, मन की जागरूकता बढ़े। मूर्च्छा और जागरूकता–ये दो धाराएं हैं। एक है मूर्च्छा की धारा और दूसरी है जागरूकता की धारा। जो व्यक्ति आत्मा को प्रमाद में ले जाना चाहते हैं, शून्यता में ले जाना चाहते हैं, आत्म-विस्मृति में ले जाना चाहते हैं, वे मूर्च्छा की धारा के समर्थक हैं।

जो व्यक्ति आत्मचेतना को जागृत करना चाहते हैं, वे जागरूकता की धारा के समर्थक हैं। मूर्च्छा की धारा के समर्थक लोग व्यक्ति को मूर्च्छा की समाधि में ले जाते हैं। वे गांजा, चरस आदि मादक पदार्थों का सेवन करते हैं और व्यक्ति को आत्मविस्मृति, मूर्च्छा और विचारशून्यता में ले जाते हैं। वे उसे ऐसी दुनिया में ले जाते हैं, जहां उसे समाधि का अनुभव होता है। इस प्रकार व्यक्ति की आत्मचेतना को लुप्त कर केवल मूर्च्छा का समर्थन करने वाली धारा मूर्च्छा की धारा है। प्रेक्षाध्यान की धारा मूर्च्छा की धारा नहीं है। यह जागरूकता की धारा है।

प्रेक्षा उपाय है मूर्च्छा को तोड़ने का

प्रेक्षा का उद्देश्य है सतत जागरूकता, एक क्षण के लिए भी आत्मविस्मृति न हो, ज्योति सतत जलती रहे, अपने अस्तित्व का भान निरंतर बना रहे। व्यक्ति आत्मचेतना खो बैठे, बेभान हो जाए, ऐसी समाधि को हम समाधि नहीं मानते और ऐसी समाधि को हम महान समाधि का मूल्य नहीं देते। हम उस समाधि का समर्थन करते हैं, उस समाधि को मूल्य देते हैं, जिसमें विकल्पशून्यता

आए, पर अस्तित्व का भान निरंतर बना रहे। अस्तित्व के भान को भुलाकर होने वाली विकल्पशून्यता जागृति नहीं है, मूर्च्छा है। मूर्च्छा का प्रयोग हम नहीं चाहते। दीर्घश्वास प्रेक्षा से मूर्च्छा टूटती है। मन शांत होता है, स्थिर होता है। उसमें मूर्च्छा नहीं होती, अपने अस्तित्व की विस्मृति नहीं होती। इस प्रयोग में हम मन को जागरूक बनाए रखना चाहते हैं, जागरूक बनाए रखते हैं। समवृत्तिश्वास प्रेक्षा में भी मन को अत्यंत जागरूक रहना होता है। जब मन की जागरूकता क्षण भर के लिए भी टूटती है तो उसके साथ-साथ क्रम भी टूट जाता है। जब मन अजागरूक होता है तब यह संभव नहीं है कि व्यक्ति एक नथुने से श्वास ले और दूसरे नथुने से उसे छोड़े। यह क्रम टूट जाता है। यह पूरा जागरूकता का प्रयोग है।

शरीर प्रेक्षा भी पूरा जागृति का प्रयोग है। जैसे ही व्यक्ति मूर्च्छा में जाता है, शरीर प्रेक्षा का क्रम टूट जाता है, मन नींद में चला जाता है। शरीर का कण-कण तभी देखा जा सकता है जब मन पूरा जागरूक रहे। साथ-साथ विकल्पशून्य रहे। राग-द्वेष की ऊर्मियों से खाली रहे, निस्तरंग रहे।

चैतन्यकेन्द्रों की प्रेक्षा का प्रयोग भी जागरूकता का प्रयोग है। भाव को निर्मल रखने का प्रयोग भी जागरूकता का प्रयोग है। जब भाव शुद्ध नहीं होगा तब विचार शुद्ध नहीं होंगे, तब शरीर शुद्ध नहीं होगा। हम विचारों की इतनी चिंता न करें। विचार की चिंता मनोवैज्ञानिक बहुत करते हैं। वह उनका विषय है, किंतु अध्यात्म का साधक सबसे पहले भाव की चिंता करता है, लेश्या की चिंता करता है।

विमर्श प्रशस्त-अप्रशस्त लेश्याओं का

भाव और विचार दो बातें हैं। दोनों भिन्न हैं। भाव का संबंध है कषाय के स्पंदनों से और विचार का संबंध है मस्तिष्क के आवरणों से। हमारे सूक्ष्म शरीर के अंदर दो प्रकार के स्पंदन समानांतर रेखा में चलते हैं। एक है मोह का स्पंदन और दूसरा है मोह के विलय का स्पंदन। दोनों स्पंदन चलते हैं और वे भाव बनते हैं। कषाय जितना क्षीण होगा, मोह का स्पंदन उतना ही निवीर्य बन जाएगा। शक्तिशून्य बन जाएगा, निष्क्रिय बन जाएगा। वह समाप्त नहीं होगा, किंतु उसकी सक्रियता कम हो जाएगी। उसका प्रभाव क्षीण हो जाएगा।

जब मोह के विलय का स्पंदन शक्तिशाली होगा तब भाव मंगलमय और कल्याणकारी होंगे। जब-जब कषाय के स्पंदन कम होते हैं, तब-तब तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के स्पंदन तथा भाव शक्तिशाली

बनते जाएंगे। जब-जब मोह के स्पंदन शक्तिशाली होते हैं, नीललेश्या और कापोतलेश्या के स्पंदन शक्तिशाली होते हैं, तब-तब तेजोलेश्या और पद्मलेश्या के स्पंदन क्षीण हो जाते हैं।

दो धाराएं हैं। एक ओर तीन काली लेश्याएं हैं, दूसरी ओर तीन प्रकाशमय लेश्याएं हैं। महावीर ने कहा–'तीन लेश्याएं प्रशस्त हैं और तीन लेश्याएं अप्रशस्त हैं। तीन लेश्याएं रूखी हैं और तीन लेश्याएं चिकनी हैं। तीन लेश्याएं ठंडी हैं और तीन लेश्याएं गर्म हैं।' कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है भावों को समझने का।

लेश्या और रंग विज्ञान

आज के रंग विज्ञान में इसका संवादी सूत्र हमें उपलब्ध हो जाता है। अभी मैंने 'कलर थैरापी' की एक पुस्तक देखी। उसमें कलर के दो डिवीजन किए गए हैं–एक है लाइट कलर और दूसरा है डार्क कलर। फीका रंग और गहरा रंग। एक है गर्म रंग और दूसरा है ठंडा रंग। वलय है ठोस। रंग की चार छायाएं होती हैं। गर्म रंग और प्रकाशमय छाया, गर्म रंग और अंधकारमय छाया, प्रकाश ठंडा और अंधकार गर्म। हमारी तीन लेश्याएं ठंडी और रूखी होती हैं। काला रंग, नीला रंग और कापोती रंग–वे तीनों रंग और तीनों रंगों की लेश्याएं ठंडी होती हैं और रूखी होती हैं।

जब व्यक्ति के मन में इन लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तब उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागते हैं। वे रंग इन भावों को उत्पन्न करते हैं। काला रंग भय का निर्माण करता है। जब-जब काले रंग के स्पंदन जागते हैं, तब-तब व्यक्ति के मन में अनायास ही भय की अनुभूति होने लगती है, भय के भाव का निर्माण हो जाता है।

शुभलेश्या : भावों की निर्मलता

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या–ये तीनों लेश्याएं गर्म और चिकनी हैं। जब इनके स्पंदन जागते हैं तब व्यक्ति के भाव निर्मल बनते हैं। अभय, मैत्री, शांति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का निर्माण होता है। जब भाव पवित्र होते हैं, निर्मल होते हैं तब विचार भी निर्मल होते हैं। विचारों का संबंध कषाय से नहीं है। विचारों का संबंध है मस्तिष्क से और ज्ञान से।

विचार, स्मृति, चिंतन, विश्लेषण, चयन, निर्धारण–ये ज्ञान की जितनी शाखाएं हैं, इन सबका संबंध मस्तिष्क से हैं। जितने भाव हैं, उन सबका संबंध हमारी अंत:स्रावी ग्रंथियों से हैं। शरीर में दो तंत्र हैं उनकी अभिव्यक्ति के। एक

है ग्रंथितंत्र और दूसरा है नाड़ितंत्र। एक है मस्तिष्क और एक है पृष्ठरज्जु। हमारे भावों को व्यक्त करता है ग्रंथितंत्र और विचारों का निर्माण करता है नाड़ितंत्र। पहला है भाव, दूसरा है विचार। विचार से भाव नहीं बनता, किंतु भाव से विचार बनता है। जिस लेश्या का भाव होता है, वैसा ही विचार बन जाता है। भाव अंतरंग तंत्र है और विचार कर्मतंत्र है। यह करने वाला तंत्र है भाव, इसलिए हमें विचारों पर अधिक ध्यान देने की जरूरत नहीं है। विचारों पर वे लोग ध्यान दें जो बाहर घूमते हैं। जो भीतर की यात्रा कर रहा है, भीतर में बैठा है, उसे विचार पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। वे भाव पर ध्यान दें, भाव को निर्मल करें। प्रश्न होगा कि भाव को कैसे निर्मल करें? उसकी प्रक्रिया क्या है?

उपाय : भावों को निर्मल बनाने का

भावों को निर्मल बनाने का सबसे सरल उपाय है रंगों का ध्यान करना। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपाय है। चिकने रंगों का ध्यान भावों को निर्मल बनाने में उपयोगी होता है। पीला, लाल और सफेद–ये तीन रंग भाव-शुद्धि के कारण हैं। तंत्रशास्त्र के विषय में लोगों में बहुत भ्रांतियां हैं। भ्रांतियां होने का कारण भी है कि तंत्र के आधार पर भैरवीचक्र जैसी पद्धतियां चल पड़ीं और वाममार्ग प्रचलित हो गया। इन पद्धतियों ने भ्रांतियां फैलाई, किंतु मैं मानता हूं कि तंत्रशास्त्र ने साधना के महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्रस्तुत किए। उन्हें हम शुद्ध आध्यात्मिक प्रयोग कह सकते हैं। कहीं कोई दोष नहीं, कहीं कोई त्रुटि नहीं। तंत्रशास्त्र का एक प्रयोग है–साधक पूरे शरीर को लाल सूर्य जैसे लाल रंग में देखे, ध्यान करे। छह महीने के इस प्रयोग से वीतरागता सिद्ध हो सकती है।

तंत्र शास्त्र का एक प्रयोग है–साधक अपने शरीर को आकाश में स्थित देखे और शरद ऋतु की संध्या जैसे रंग का ध्यान करे। छह महीने तक ऐसा निरंतर ध्यान करने पर वीतराग भाव घटित होने लगता है। तंत्रशास्त्र का एक प्रयोग है–नासाग्र पर स्वर्ण के रंग का या श्वेत वर्ण का ध्यान करने से दूषित भावना से मुक्ति मिल जाती है।

चेतना के विकास, इन्द्रिय जय, ज्ञानशक्ति और वीतरागता के अनेक प्रयोग तंत्रशास्त्र ने प्रस्तुत किए। ये सारे महत्त्वपूर्ण प्रयोग लेश्या के सिद्धांत से संबद्ध हैं। रंगों का महत्त्व कम नहीं है। हमारे समूचे भाव-तंत्र पर रंगों का प्रभुत्व है। रंगों के द्वारा शारीरिक बीमारियां मिटाई जा सकती हैं, मानसिक दुर्बलताओं को मिटाया जा सकता है और आध्यात्मिक मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है। लेश्या ध्यान की पद्धति आध्यात्मिक मूर्च्छा को मिटाने की महत्त्वपूर्ण चिकित्सा

पद्धति है। दूषित भावों और विकृत विचारों द्वारा जो जहर शरीर में पैदा होता है, जो विष एकत्रित होता है, उसे बाहर निकालने की यह अभूतपूर्व पद्धति है। रंगों के ध्यान से या रंग चिकित्सा से संचित विष बाहर निकलते हैं और भावों तथा विचारों को निर्मल बनाते हैं।

कोई व्यक्ति बुरी भावना करता है, भावना चली जाती है, पर वह अपने पीछे विष छोड़ जाती है। वह विष शारीरिक या मानसिक बीमारी बनकर व्यक्ति को सताता रहता है। वह व्यक्ति अशांत और असंतुलित बन जाता है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह परिणाम पर अधिक ध्यान नहीं देता। यदि वह परिणाम पर सोचने-विचारने लग जाए तो वह फिर कभी बुरी भावना नहीं कर सकता। अनिष्ट चिंतन नहीं कर सकता। मनुष्य परिणामों से आंखें मूंदकर ही बुरी प्रवृत्तियां करता है, बुरी भावना और अनिष्ट का चिंतन करता है।

लेश्याध्यान : भाव शुद्धि का प्रयोग

रंग का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति श्वेत वर्ण में अर्हं का ध्यान करता है, वह नाना प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है। उसके शरीर में संचित विष समाप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति अरुण वर्ण (बाल-सूर्य जैसा लाल वर्ण) का ध्यान करता है, उसमें तेजोलेश्या के स्पंदन जागते हैं और उसकी मन की दुर्बलता समाप्त हो जाती है, मन की कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य मन की कठिनाइयों से आक्रांत है। वह उनको जानता है। मन के कुछ भी प्रतिकूल होता है तो मन टूट जाता है, बिखर जाता है और उपद्रव करने लग जाता है। कोई अप्रिय घटना घटती है, मन टूट जाता है। कोई प्रिय व्यक्ति चला जाता है, मनुष्य आत्मघात करने को तैयार हो जाता है। मनुष्य का मन इतना कोमल और नाजुक है कि वह थोड़ी भी प्रतिकूल स्थिति को सह नहीं सकता। वह टूट जाना चाहता है। मन की इस दुर्बलता को लेश्या-ध्यान के द्वारा मिटाया जा सकता है। उसके द्वारा मन को इतना शक्तिशाली बनाया जा सकता है कि कोई घटना घटे, मन उससे टूटने से बच जाता है। घटना को नहीं रोका जा सकता, मन को टूटने से बचाया जा सकता है।

अर्हं के ध्यान द्वारा भावों का भी अद्‌भुत ढंग से परिवर्तन होता है। जब हम इन गर्म रंगों (पीला, लाल, श्वेत) का ध्यान करते हैं और उनसे तन्मयता प्राप्त करते हैं तब हमारे भाव परिवर्तित हो जाते हैं। विचारने और सोचने की जरूरत नहीं, सहज बदल जाते हैं। सारे स्पंदन बदल जाते हैं। विचारों के, विकल्पों के और मोह के स्पंदन इन गर्म रंगों के स्पंदनों से रुक जाते हैं, निवीर्य

हो जाते हैं। साथ-साथ कषाय-विलय और मूर्च्छा-विलय के जो स्पंदन होते हैं, उन्हें शक्ति मिलती है और वे सक्रिय हो जाते हैं। लाल रंग या नारंगी रंग टॉनिक का काम करता है। यह महत्त्वपूर्ण रसायन है। इससे पूरी सक्रियता पैदा होती है और अणु-अणु में गर्मी आ जाती है। रंगों का ध्यान महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस ध्यान से शरीर और मन की दुर्बलता मिटती है। स्मृति और बुद्धि का विकास होता है। ज्ञान-तंतु शक्तिशाली बनते हैं। इन सबके लिए अलग-अलग प्रयोग हैं।

मंत्र : भाव शुद्धि का प्रयोग

भावों को बदलने का दूसरा शक्तिशाली साधन है शब्द। मंत्रों की पद्धति इसकी साक्षी है। मंत्रों के द्वारा भावों को बदला जा सकता है। यह मूल्यवान साधन है।

मन और शरीर के साथ मंत्र का बहुत बड़ा संबंध है। तंत्र और मंत्र दोनों साथ-साथ चलते हैं। तंत्रशास्त्र के भी मंत्र बहुत हैं। मंत्र का प्रयोग शब्द का प्रयोग है। इससे भाव बदलते हैं। एक व्यक्ति के मन में जो भाव बन जाता है, निर्मित हो जाता है, उसे तोड़ना कठिन होता है। कोई समझदार व्यक्ति अपने को भाव तक पहुंचा देता है तो सफल हो जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा पद्धति है। कुछ घटनाएं प्रस्तुत करूं।

एक आदमी बीमार था। बहुत घबरा रहा था। एक वैद्य आया। रोगी को देखा। उसकी घबराहट को देखा। वैद्य बोला–घबराओ मत। सांझ होते-होते तुम स्वस्थ हो जाओगे, घूमने फिरने लग जाओगे। वैद्य बाहर आया। राख और नमक की पुड़िया बांधी। रोगी को पुड़िया देते हुए कहा–'यह बहुत कीमती दवा है। दो पुड़िया लेते ही बीमारी शांत हो जाएगी।' रोगी को इतना विश्वास दिलाया कि स्वस्थ होने की बात भाव तक पहुंच गई। रोगी ने पुड़िया लिया। दूसरी पुड़िया लेते ही उसे स्वस्थता का अनुभव होने लगा और सांझ से पहले ही वह चलकर वैद्य के घर चला गया। न बीमारी और न घबराहट। पुड़िया का चमत्कार नहीं था, चमत्कार था बात का भाव तक पहुंच जाना।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। उस समय वे मुनि नहीं बने थे। वे ऊंट पर कहीं जा रहे थे। साथ में एक व्यक्ति था। उसे तंबाकू सूंघने की आदत थी। रास्ते में तंबाकू पूरी हो गई। उस व्यक्ति का शरीर टूटने लगा। उसे शक्तिहीनता का अनुभव होने लगा। वह मार्ग में ही बैठ गया। भिक्षु ने पूछा–'क्या बात है? निढाल होकर कैसे बैठ गए?' उसने कहा–'भीखणजी! मैं अब आगे एक कदम भी नहीं चल सकता। तंबाकू पूरी हो गई। है। उसका नशा उतर गया है। जब तक

तंबाकू न सूंघ लूं, तब तक चल पाना कठिन है।' भिक्षु ने कहा–'मैं इधर-उधर जाकर किसी राहगीर से तंबाकू ले आता हूं। चिंता मत करो।' वे गए। वहां कौन राहगीर आता। एक सूखा उपल लिया। उसका बारीक चूर्ण किया। एक पुड़िया बांधकर ले आए। आकर बोले–'भई! तुम्हारा भाग्य था कि एक पथिक मिल गया। उसके पास तंबाकू थी। यह ज्यादा अच्छी तो नहीं है, फिर भी काम आ जाएगी।' उसने पुड़िया खोली। तंबाकू सूंघी।

दो क्षण बाद वह बोला–'अब चलो, तंबाकू का नशा चढ़ गया। अब आराम से घर पहुंच जाएंगे।' यह क्या है? केवल उपल का चूर्ण तंबाकू बन गया। भाव को बदल देने की शब्द में इतनी बड़ी शक्ति है कि जिस व्यक्ति का शब्द दूसरे व्यक्ति के भाव तक पहुंच जाता है, सारी स्थिति बदल जाती है। गुर्जियफ रूस का बहुत बड़ा साधक था। एक बार उसके पिता ने कहा–'बेटा, मेरी एक बात मानना, जब गुस्सा आए तो चौबीस घंटे बाद गुस्सा करना, पहले नहीं।' इस एक बात ने गुर्जियफ को महान साधक बना डाला। क्या कोई चौबीस घंटे बाद गुस्सा कर सकता है? कभी नहीं कर सकता। गुस्सा समाप्त हो जाता है। जब गुस्से की गर्मी जागती है तब उसे कर लिया जाए तब तो गुस्सा है, अन्यथा फिर गुस्सा नहीं होगा, गर्मी मिट जाएगी। भावों को बदलने का सशक्त माध्यम है शब्द। जब हम शब्द को व्यक्ति के भावतंत्र तक पहुंचा देते हैं तब यथेष्ट काम बन जाता है। ठीक शब्दों का चुनाव करते हैं, ठीक शब्दों का प्रयोग करते हैं, ऐसे शब्दों और निर्देशों का चुनाव करते हैं कि वे भावतंत्र तक पहुंच जाएं, उसे आंदोलित कर दें, उसमें क्षोभ पैदा कर दें। उसे प्रकंपित कर दें और मोह के स्पंदनों को शांत कर दें तो सचमुच भाव परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। दुनिया में जितने भी समझदार व्यक्ति हुए हैं, उन्होंने शब्दों के चयन पर बहुत ध्यान दिया है। बोलने का विवेक और शब्दों का चयन बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। आदमी किसी भी उपाय से नहीं बदलता। शब्दों का सही चयन करे, आदमी बदल जाएगा। एक व्यक्ति था। उसे दही बहुत रुचिकर था।

एक बार वह बीमार हो गया। खांसी ने उसे आ घेरा। वैद्य आते। दवा देते और दही खाने की मनाही करते। वह दवा नहीं लेता। सभी वैद्य निराश हो गए। एक दिन वैद्य आया, जो शरीर की ही समस्या को नहीं जानता था, मन और भावों की समस्याओं से भी परिचित था। बीमार ने कहा–'दवा दो, पर मैं दही खाना नहीं छोडूंगा।' वैद्य बोला–'मैं तुमसे दही नहीं छुड़वाऊंगा।' उसने पूछा–'वैद्यजी! सब दही की मनाही करते हैं, आपने दही खाने की छूट कैसे

दी?' वैद्य बोला–'दही में अनेक गुण हैं।' बीमार आदमी दही के गुण की बात सुनकर प्रसन्न हुआ।वैद्य ने कहा–'दही में तीन मुख्य गुण हैं। कफ की बीमारी या खांसी की बीमारी में जो कोई दही खाता है, उसको तीन लाभ होते हैं–वह कभी बूढा नहीं होता। उसके घर में कभी चोरी नहीं होती। उसे कभी कुत्ता नहीं काटता।'

रोगी ने कहा–'दही खाने के साथ इन सबका क्या संबंध है?' वैद्य बोला–'खांसी में जो दही खाता है, वह बूढ़ा इसलिए नहीं होता कि वह पहले ही मर जाता है। उसके घर में चोरी इसलिए नहीं होती कि वह रात भर खांसता रहता है। एक क्षण के लिए भी सो नहीं पाता। उसको कुत्ता नहीं काटता, क्योंकि वह बिना लाठी के चल ही नहीं सकता। जब हाथ में लाठी रहती है तब कुत्ता कैसे काटे?' रोगी ने कहा–'यह बात है तो मैं दही कभी नहीं खाऊंगा।' उसने दही खाना छोड़ दिया।

कैसा होता है मनुष्य का स्वभाव! जब वैद्यों ने दही खाने की मनाही की तब वह दही खाने की हठ करता रहा। जब वैद्य ने दही खाने को कहा तो उसने दही खाना नहीं चाहा। जब शब्द भाव का स्पर्श कर लेते हैं तब यथार्थ घटित हो जाता है। यदि शब्द की शक्ति का ठीक उपयोग करें, शब्दों का ठीक चुनाव करें तो भाव-संस्थान में बहुत बड़ा परिवर्तन हो सकता है।

मंगल भावना

हमने मंगल भावना के कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं। सभी साधक मंगल-भावना करें। मंगल-भावना के नौ सूत्र हैं–

1. श्री संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं श्रीसंपन्न बनूं।
2. ह्री संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं लज्जासंपन्न बनूं।
3. धी संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं बुद्धिसंपन्न बनूं।
4. धृति संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं धैर्यसंपन्न बनूं।
5. शान्ति संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं शांतिसंपन्न बनूं।
6. शक्ति संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं शक्तिसंपन्न बनूं।
7. नन्दी संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं आनंदसंपन्न बनूं।
8. तेजः संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं तेजसंपन्न बनूं।
9. शुक्ल संपन्नोऽहं स्याम्	–	मैं पवित्रतासंपन्न बनूं।

ये सूत्र हमारी आंतरिक भावना को जागृत करने वाले हैं। मैं श्रीसंपन्न बनूं। लेश्या के सिद्धांत में दरिद्रता को कोई स्थान नहीं है। जिसकी लेश्याएं पवित्र होती हैं, वह महान ऋद्धि वाला होता है, महान वैभव वाला होता है। जैसे सामाजिक व्यक्ति अपनी श्रीवृद्धि करना चाहता है, वैसे ही शुद्ध लेश्या वाला अध्यात्म का साधक अपने आभामंडल को शक्तिशाली बनाना चाहता है। श्री का अर्थ होता है लक्ष्मी और श्री का अर्थ होता है आभा। लक्ष्मी का संवर्धन और आभा का संवर्धन। 'ह्री' का अर्थ है लज्जा और ह्री का दूसरा अर्थ है अनुशासन।

भावों को बदलने के लिए, लेश्याओं को शुद्ध करने के लिए हमारे सामने दो प्रयोग प्रस्तुत हैं। एक है रंगों का ध्यान और दूसरा है मंत्रों का प्रयोग। मंगल भावनाओं का प्रयोग और भाव-संस्थान को सक्रिय बनाने वाले, पवित्र बनाने वाले शब्दों का प्रयोग। हम इन दोनों प्रयोगों के द्वारा भाव-संस्थान को गंगाजल जैसा निर्मल बनाएं, गंगोत्री जैसा निर्मल बनाएं और शरीर, मन तथा अध्यात्म की चिकित्सा करें।

हम शरीर के दोष और अपाय, मन के दोष और अपाय तथा अध्यात्म के दोष यानी मूर्च्छा के दोष और अपाय–इन सब अपायों को समाप्त करें और उपायों का प्रयोग करें। ऐसी स्थिति में लेश्या का सिद्धांत केवल तात्त्विक सिद्धांत नहीं रहेगा, वह हमारे लिए चिकित्सा की पूरी पद्धति बन जाएगा।

20. लेश्या : एक विधि है रसायन-परिवर्तन की

विष के भी रसायन हैं और अमृत के भी रसायन हैं। आयुर्वेद ने रसायनों पर बहुत काम किया है। आयुर्वेद के आचार्यों ने ऐसे रसायनों के प्रयोग किए हैं, जिनसे शरीर पूर्ण स्वस्थ हो सके और उसमें जमे हुए विष समाप्त हो सकें। अध्यात्म संपूर्ण रसायनों को बदलने की प्रक्रिया है। कैमेस्ट्री का विद्यार्थी जानता है कि पदार्थ के रसायनों का परिवर्तन करने पर नई अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मानवीय रसायन का भी यही सिद्धांत है। ह्यूमन ऑलकेमी (Human Alchemy) पर जिन्होंने काम किया है, जो मानवीय रसायनों की संरचना का बोध रखते हैं, वे भली-भांति जानते हैं कि हमारे शरीर के रसायनों का परिवर्तन करने पर एक नई स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

ध्यान की समूची प्रक्रिया, योग की समूची प्रक्रिया और तप की समूची प्रक्रिया रसायन के परिवर्तन की प्रक्रिया है। उपवास इसीलिए किया जाता है कि शरीर का रसायन बदल जाए, रसायनों की संरचना बदल जाए। खाते-खाते विषैले रसायन पैदा हो जाते हैं, संचित हो जाते हैं और वे रसायन मन में विकृति पैदा करते हैं। मन में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे विकार अनायास ही उत्पन्न नहीं होते, वे हमारे शारीरिक विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं।

क्या करें ब्रह्मचर्य की साधना के लिए

भगवान महावीर से पूछा गया–'भगवन्! ब्रह्मचर्य की साधना के लिए क्या किया जाए?' भगवान ने कहा–**अवि निब्बलासए**–निर्बल भोजन करो। शक्तिशाली भोजन मत करो। गरिष्ठ भोजन मत करो। ऐसा भोजन करो, जिससे पेट की व्याधि मिट जाए। ऐसा भोजन मत करो, जिससे वासना को उत्पन्न करने वाला रसायन पैदा हो, फिर पूछा–'भगवन्! और क्या किया जाए?' भगवान ने कहा–'कम खाओ, जिससे कि रसायन इतना न बने, जो वासना को उभार सके।

कामसंज्ञा की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं। उनमें एक कारण है मांस और रक्त का उपचय। जब शरीर में रक्त और मांस अधिक होता है, उनका उपचय

होता है तब काम की संज्ञा तीव्र बनती है। ये सब रासायनिक क्रिया के सूत्र हैं। हमारे शरीर में अनेक प्रकार के तत्त्व उत्पन्न होते हैं। कोशिकाएं अपने लिए विटामिन, प्रोटीन उत्पन्न करती हैं। हमारी चमड़ी के भीतर जब थोडा-सा ताप उत्पन्न होता है तब विटामिन 'डी' उत्पन्न हो जाता है। और भी नाना प्रकार के रसायन पैदा होते हैं। भोजन से भी अनेक प्रकार के रसायन उत्पन्न होते हैं और वे हमारी वृत्तियों को प्रभावित करते हैं, फिर पूछा गया–'भगवन्! और क्या उपाय करना चाहिए?'

भगवान ने कहा–'अगर ऐसी स्थिति आए कि काम शांत नहीं हो रहा है तो आहार का विच्छेद कर दो। छोड़ दो।' जब आहार समाप्त हो जाता है, लंबे समय तक उपवास किए जाते हैं, दस-बीस दिन की तपस्या की जाती है तब इन्द्रियां अपने आप शांत हो जाती हैं, कामवासना मिट जाती है। जब इन्द्रियों को रसायन का भोजन नहीं मिलता तब वे शांत हो जाती हैं।

उपवास : एक चिकित्सा पद्धति

आदमी को भोजन नहीं मिलता है तो वह भी शांत हो जाता है। भूखा आदमी सहज शांत हो जाता है। इन्द्रियां शांत, मन शांत, शरीर शांत और सबकुछ शांत। रसायनों का परिवर्तन होता है। पुराने रसायन बदल जाते हैं। ऐसे नए रसायन उत्पन्न होते हैं, जो उत्तेजना पैदा नहीं करते। तपोयोग रसायन परिवर्तन का योग है। उपवास के द्वारा ऐसे रसायन उत्पन्न होते हैं, जो शारीरिक बीमारी को शांत करते हैं। उपवास स्वयं एक चिकित्सा पद्धति है। प्राचीनकाल में उपवास का प्रयोग चिकित्सा के रूप में किया जाता था। वर्तमान में इस चिकित्सात्मक दृष्टिकोण से लोग कम परिचित हैं। पश्चिम के लोगों ने इस पर अनुसंधान किए, प्रयोग किए और उपवास की चिकित्सा पद्धति का विधिवत् विधान किया। आज उपवास की चिकित्सा प्रचलित है।

उपवास के विधिवत् रासायनिक प्रयोगों से अनेक रोग शांत किए जाते हैं। कारण एक ही है उपवास के द्वारा रासायनिक परिवर्तन होता है और रोग शांत हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति पक्षाघात से पीड़ित थे। उन्होंने आठ दिन का चौविहार (निर्जल) उपवास किया और वे ठीक हो गए। आयंबिल के द्वारा अनेक बीमारियां शांत होती हैं। इसी प्रकार और भी अनेक प्रयोग किए जाते हैं–एकांतर, उपवास, आठ दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, कम खाने का प्रयोग, कम वस्तुएं खाना, कम बार खाना–ये सारे प्रयोग शारीरिक रसायनों में परिवर्तन लाते हैं।

हम दिल्ली में थे। सौराष्ट्र का एक व्यक्ति आया। वह कोरे चावल खाता था। सौ ग्राम चावल खाकर वह पांच-सात लोटा पानी पी लेता था। उसने कहा–'मैंने इस प्रयोग के द्वारा कैंसर जैसे असाध्य रोगों को भी मिटाया है।'

प्रायश्चित्तः ग्रंथि मुक्ति

इन सारी स्थितियों से यह स्पष्ट है कि उपवास, तपस्या, संयम और आसनों के द्वारा रासायनिक परिवर्तन घटित होता है। प्रायश्चित्त के द्वारा भी रसायनों में परिवर्तन आता है। जब व्यक्ति के मन में प्रायश्चित्त की निर्मल भावना जागती है तब पुरानी ग्रंथियां खुलती हैं। आज की मानसिक चिकित्सा का सबसे बड़ा सूत्र है–पुरानी ग्रंथियों को खोलना। जब मन में ग्रंथिपात हो जाता है तब नाना प्रकार की बीमारियां सताने लगती हैं। उन ग्रंथियों को खोलने की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है प्रायश्चित्त। प्राचीन भाषा में प्रायश्चित्त और आज की भाषा में मनोविश्लेषण, आत्मविश्लेषण। जब रोगी आत्मविश्लेषण करता है तब मनःचिकित्सक उसकी सारी ग्रंथियों को जान लेता है और उपायों से उन ग्रंथियों को खोल देता है।

विनय है अहंकारशून्यता

विनम्रता, अहंकारशून्यता रासायनिक परिवर्तन का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। विनय के प्रति हमारी धारणाएं भ्रांत हैं। हमने मान लिया कि विनय दूसरों के प्रति होता है। यह भ्रांति है। इस भ्रांति ने अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है। लोग मानने लग गए कि जो छोटा हो, वह विनय करे। बड़े को विनय करने की जरूरत नहीं है। उसे ठूंठ जैसा बनने की आवश्यकता है। यह कैसी भ्रांति है? सचाई यह है कि विनय किसी दूसरे के प्रति नहीं होता। विनय होता है स्वयं के प्रति। विनय है अहंकारशून्यता। यह अपनी आत्मा की अवस्था है। विनय दूसरों के प्रति होता ही नहीं। जब तक यह मानते रहेंगे कि विनय दूसरों के प्रति होता है, तब तक जो बड़ा है, वह अकड़ा रहेगा। वह दूसरों से विनय चाहेगा। दूसरों के मन में यह प्रतिक्रिया होगी कि वे विनय क्यों करे? विनय वह करेगा, जो अनुयायी होगा। विनय करना श्रावक का काम है, साधु का काम नहीं है। इस औपचारिक बात ने एक भ्रांति पैदा कर दी है। साधु का सबसे बड़ा धर्म है विनय, अहंकारशून्यता। यह व्यक्ति का अपने लिए अपना धर्म है। किसी दूसरे के लिए नहीं है। हम इस भ्रांति को तोड़ें।

विनय के प्रकार

विनय के सात प्रकार हैं–ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, शरीर विनय और सातवां है लोकोपचार विनय। हाथ

जोड़ना वास्तविक विनय नहीं है, यह लोकोपचार विनय है। वास्तव में विनय है–मन का विनय। मन को अनुशासित रखना मन का विनय है। मन को अहंकार से शून्य कर देना, मन का विनय है। वाणी में उद्दंडता न होना वाणी का विनय है। शरीर में अकड़न न होना शरीर का विनय है। ज्ञान के प्रति अपनी प्रगाढ़ आस्था समर्पित करना ज्ञान का विनय है। दृष्टिकोण को सरल, ऋजु और अनेकांतमय बनाना दर्शन विनय है। पवित्र आचरण करना चारित्र विनय है। विनय सबके लिए आवश्यक है। छोटे के लिए आवश्यक है तो बड़े के लिए भी आवश्यक है। यह विनय किसी दूसरे के प्रति नहीं, स्व के प्रति होता है। औपचारिक विनय दूसरे के प्रति किया जाता है।

साध्वी मुझे हाथ जोड़ती है, यह उपचार है और मैं साध्वी को हाथ जोड़ता हूं, यह भी उपचार है। यह अधिक महत्व की बात नहीं है। यह मात्र उपचार है। यह झूठा उपचार बहुत निभाया जाता है। कभी आंखें नहीं मिलती, पर मिलते हैं तब हाथ जरूर जोड़ लेते हैं। यह लोकोपचार है। यह विनय का बड़ा सूत्र नहीं है। हमने इसको बहुत बड़ा सूत्र मान लिया। हम इसी विनय की सीमा में सारी बातें सोचते हैं और अनेक समस्याएं पैदा करते हैं।
विनय अहंकारशून्यता की प्रक्रिया है। यह सारे मदों से अपने आपको खाली करने की प्रक्रिया है। जहां इस प्रक्रिया का आसेवन होता है, वहां रासायनिक परिवर्तन अपने आप घटित होता है।

ध्यान से रासायनिक परिवर्तन

स्वाध्याय रासायनिक परिवर्तन की पुष्ट प्रक्रिया है। ध्यान से भी रासायनिक परिवर्तन होते हैं। रासायनिक परिवर्तन का बहुत बड़ा सूत्र है–ध्यान। जो कषाय के रसायन तीव्र अनुभाव लेकर आ रहे हैं, हम ध्यान के द्वारा ऐसे रसायन पैदा करें कि वे तीव्र अनुभाव वाले रसायन मंद हो जाएं, उनका सामर्थ्य क्षीण हो जाए। उनकी शक्ति विफल हो जाए, उनका आक्रमण नष्ट हो जाए। वे रसायन नए अनुभव उत्पन्न करें। जब हम चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करते हैं, चैतन्यकेन्द्रों पर जमी हुई चिकनाहट को साफ करते हैं, उसे स्वच्छ दर्पण जैसा बनाते हैं तो अपने आप भीतर से कुछ नए तथ्य प्रकट होते हैं। जब तक हमारे चैतन्यकेन्द्र स्वच्छ नहीं होते, धूमिल और आवृत रहते हैं, तब तक भीतर का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता।

हम लोग ज्ञान को जानते हैं, सुख को जानते हैं, जिसे स्मृति-कोष्ठक ग्रहण करते हैं। हम उसी ज्ञान से परिचित हैं, जिसे हमारा नाड़ीसंस्थान उद्घाटित

करता है और प्रेरित करता है। हम उस ज्ञान से बिल्कुल परिचित नहीं हैं, जिसका उद्गम बाहर से नहीं है, जिसका संबंध मस्तिष्क से नहीं है, जिसका संबंध नाड़ीसंस्थान से नहीं है। उस ज्ञान से हम बिल्कुल परिचित नहीं हैं। हम सुख से परिचित हैं, पर केवल उसी सुख से परिचित हैं, जो पदार्थ से मिलता है। हम उस सुख से परिचित नहीं है, जिस सुख में किसी भी पदार्थ का योग नहीं होता।

लेश्या के वर्ण-गंध-रस-स्पर्श

हम अंतर्ज्ञान से परिचित नहीं हैं और हम अंतर्चेतना से भी परिचित नहीं हैं। हम आंतरिक सुखानुभूति और आध्यात्मिक सुखानुभूति से सर्वथा अपरिचित हैं। जब चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान के द्वारा हमारी लेश्याओं में परिवर्तन होता है तब हमारे भाव-संस्थान में परिवर्तन होता है। जब तक उसके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं बदलते, तब तक अंतर्ज्ञान नहीं हो सकता, आंतरिक आनंद उपलब्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक लेश्या का अपना रंग होता है। प्रत्येक लेश्या का अपना गंध, रस, और स्पर्श होता है। हमें उनका पता नहीं चलता, क्योंकि हम अपने भावों के साथ इतने जुड़े हुए हैं कि हमें वास्तविकता का पता ही नहीं चलता।

गांव में एक संन्यासी आया। वह तेजस्वी और शक्तिशाली था। राजा ने उसकी प्रशंसा सुनी। वह दर्शन करने आया। उसे अपूर्व शांति की अनुभूति हुई। उसने कहा–'महाराज! कुछ दिन के लिए आप मेरे महल में चलें।' संन्यासी ने कहा–'महलों में मुझे सोने की गंध आती है। मैं वहां नहीं रह पाऊंगा।' राजा बोला–'कैसी बात करते हैं? सोने की गंध कहां है? लोग सोने का नाम लेते ही उस ओर दौड़ पड़ते हैं। आप उससे दूर जाना चाहते हैं। मैं वहां रहता हूं, मुझे तो आज तक गंध नहीं आई।'

संन्यासी ने कहा–'चलो, मेरे साथ।' संन्यासी राजा को लेकर चमारों की बस्ती में गया। राजा को चमड़े की दुर्गंध सताने लगी। उसने अपनी नाक को कपड़े से ढंक लिया। संन्यासी एक चमार के घर पर रूका। राजा ने कहा–'महाराज! कहाँ ले आए? बड़ी दुर्गंध आ रही है? मेरा जी घुट रहा है। जल्दी चलें।' संन्यासी बोला–'कैसी दुर्गंध! आप भी बड़ी विचित्र बात कर रहे हैं। आप इस घर के मालिक को पूछें।' घर का स्वामी आया। संन्यासी ने पूछा–'अरे, तुम्हें यहां दुर्गंध नहीं आती?'

घर के स्वामी ने कहा–'नहीं, दुर्गंध है कहां? मुझे यहां रहते पचास वर्ष हो गए। कभी दुर्गंध की अनुभूति नहीं हुई?' संन्यासी राजा को लेकर महल में आ

गया। वह राजा से बोला–'देखा, महाराज! आपको वहां चमड़े की दुर्गंध आ रही थी। वहां रहने वालों को उसका अनुभव नहीं हो रहा था। इसी प्रकार यहां आपके महलों में मुझे सोने की दुर्गंध आती है, आपको उसका अनुभव ही नहीं होता।' जो जिसमें रचपच जाता है, वह वैसा ही हो जाता है।

बुरे भावों की गंध में, बुरे भावों के कड़वे रस में, बुरे भावों के स्पर्श में आदमी इतना घुल जाता है, एकात्म हो जाता है कि उसे वह अनुभव ही नहीं होता कि भीतर के रसायनों में कितनी दुर्गंध है, कितने खराब रस और स्पर्श हैं।

निदर्शनः कृष्णलेश्या का

कृष्णलेश्या का वर्ण काला होता है। कोरा वर्ण ही काला नहीं होता, उसमें दुर्गंध होती है। कृष्णलेश्या के परमाणुओं में दुर्गंध होती है। दुर्गंध भी मरे हुए कुत्ते की सडांध से अनंतगुना अधिक। वह दुर्गंध हम अपने भीतर लिए बैठे हैं। हम बाहर की दुर्गंध को मिटाने के लिए कभी-कभी इत्र सुगंध का प्रयोग करते हैं। उससे बाहर की दुर्गंध इतनी नहीं सताती, परंतु हम यह अनुभव तो करें कि भीतर के परमाणुओं में कितनी दुर्गंध है। कृष्णलेश्या का रस कड़वे तुंबे से भी अनंतगुना कड़वा होता है। उसका स्पर्श करवत से भी अनंतगुना ज्यादा कर्कश होता है। इस प्रकार के कृष्णलेश्या के परमाणुओं को हम भीतर आभामंडल के साथ जोड़े हुए बैठे हैं। हम खड़े होते हैं तो वह आभामंडल खड़ा हो जाता है। हम सोते हैं तो वह आभामंडल सो जाता है। हम चलते हैं तो वह आभामंडल चलने लग जाता है। वह हमारा साथ कभी नहीं छोड़ता।

इसी प्रकार नील-लेश्या का आभामंडल भी हमारा साथ नहीं छोड़ता। नीललेश्या के आभामंडल में नीललेश्या के परमाणुओं का रस त्रिकटु और गजपीपल के रस से भी अनंतगुना तीखा होता है। कापोतलेश्या के आभामंडल में कापोतलेश्या के परमाणुओं का रस कच्चे आम और कच्चे कपित्थ के रस से भी अनंतगुना कषैला होता है। हम अपने भीतर ऐसे-ऐसे रसायनों को संजोए बैठे हैं, फिर भी बाहर से साफ रहने का प्रयत्न कर रहे हैं। भीतर की निर्मलता अधिक मूल्यवान होती है।

अमरीकन वैज्ञानिक महिला डॉ. जे.सी. ट्रस्ट ने सूक्ष्म संवेदनशील कैमरों से आभामंडल के फोटो लिए। उसने बताया–'मैंने देखा कि जो लोग बाहर से साफ सुथरे रहते हैं, किंतु भीतर में मलिनता को संजोए रहते हैं, उनके आभामंडल अत्यंत विकृत और गंदे होते हैं। जो लोग शरीर से साफ-सुथरे नहीं हैं, किंतु भीतर से पवित्र हैं, उनके आभामंडल बहुत स्वच्छ और निर्मल होते हैं।'

हम अपने कपड़ों पर और शरीर की स्वच्छता पर जितना ध्यान देते हैं, उतना ध्यान अपने भीतर से प्रकट होने वाले आभामंडल पर नहीं देते, अपने भावों पर नहीं देते। परिणाम यह होता है कि बाहर से तो हम स्वस्थ और सुंदर दिखने लगते हैं और भीतर में गंदगी को पालते जाते हैं। यह गंदगी हमारे मन को तोड़ती जाती है। मन पल-पल टूटता जाता है। ऐसी स्थिति में अशांति का साम्राज्य कैसे न हो? लोग कहते हैं–'दुनिया में इतनी अशांति! इतनी बेचैनी! अशांति कैसे नहीं होगी? हमारे भीतर के सारे रसायन मन को तोड़ने वाले हैं, फिर अशांति न हो, वह कैसे संभव हो सकता है?

लेश्या के द्वारा रसायनों का ज्ञान

लेश्या के द्वारा हम अपने रसायनों का पता लगा सकते हैं। इस दिशा में अनेक वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं। पसीने के द्वारा जाना जा सकता है कि व्यक्ति का आचरण कैसा है? प्रश्न हो सकता है कि पसीने और आचरण में क्या संबंध? जो व्यक्ति क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, झगड़ालू है, दूषित मनोभाव वाला है, उसके पसीने में एक प्रकार की दुर्गंध होगी। जो व्यक्ति सरल है, निश्छल है, पवित्र मनोभाव वाला है, उसके पसीने में दूसरे प्रकार की गंध होगी। जैन परंपरा में यह मान्य है कि तीर्थंकर के शरीर से कमल के फूल जैसी गंध आती है। यह गंध शुभ भावों की प्रतीक है। जिस व्यक्ति के भाव निश्छल, पवित्र और सरल होते हैं, उस व्यक्ति के शरीर से भी निर्मलता टपकेगी, सुगंध आएगी।

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श प्रशस्त होते हैं। तेजोलेश्या का वर्ण नवोदित सूर्य जैसा लाल होता है। पद्मलेश्या का वर्ण असन के पुष्प जैसा पीला होता है। शुक्ललेश्या का वर्ण शंख जैसा श्वेत होता है। इन तीनों लेश्याओं की गंध सुगंधित पुष्पों की गंध से अनंतगुना गंध, खजूर, दाख से अनंतगुना मीठा रस और नवनीत तथा शिरीष पुष्पों से अनंतगुना मृदु स्पर्श होता है।

वैज्ञानिक अन्वेषण

रसों के परिवर्तन की दिशा में वैज्ञानिक जगत में अनेक अनुसंधान चल रहे हैं। वैज्ञानिक एक ऐसे रासायनिक पदार्थ के अन्वेषण में लगे हुए हैं, जिसके प्रयोग से व्यक्ति में क्रोध का रसायन समाप्त हो और क्षमा स्वयं घटित होने लगे, फिर क्षमा घटित करने वाले इंजेक्शन, टिकिया प्रयोग में आने लगेगी। आज कामवासना की बहुत बड़ी समस्या है, इस दिशा में प्रयोग कर रहे हैं। वे ऐसे रसायनों के निर्माण में लगे हुए हैं कि उन रसायनों के सेवन से काम

की ग्रंथियां ही समाप्त हो जाती हैं, सेक्सग्रंथियां प्रभावहीन हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में न आहार को कम करने की आवश्यकता है और न ऊनोदरी करने की जरूरत है, न ध्यान-आसन करने की जरूरत है और न चैतन्यकेन्द्रों को जागृत और सक्रिय करने की आवश्यकता है। उन रासायनिक गोलियों से कामवासना समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार क्रोध, मान, अहंकार, लोभ और सारी उत्तेजनाओं को कम किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे ये आविष्कार आगे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे अध्यात्म और ध्यान की आवश्यकता अपने आप कम होती जाएगी। सारा काम वैज्ञानिकों के हाथ में आ जाएगा, फिर लोग अध्यात्म-शिविरों में नहीं जाएंगे, वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में जाएंगे। बात ठीक है। दिशा गलत नहीं है। इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करेंगे कि यह सारा रासायनिक-परिवर्तन का प्रयोग है।

अध्यात्म-साधक उपवास और ध्यान के द्वारा, स्वाध्याय के द्वारा रसायनों का परिवर्तन करता है और वैज्ञानिक या डॉक्टर कृत्रिम रसायनों के द्वारा रसायनों का परिवर्तन करता है। घटना एक ही घटित होगी–रसायनों का परिवर्तन। लेश्या का प्रयोग रसायन के परिवर्तन का प्रयोग है। जब हम लेश्या के परिवर्तन के प्रयोग को समझ लेते हैं तब अपने भीतर के रसायनों को बदलना प्रारंभ कर देते हैं। लेश्या के रसायनों को बदलने का एक माध्यम है तप। तप में उपवास भी आता है, स्वाध्याय भी आता है और ध्यान भी आता है। दूसरा माध्यम है पदार्थ। आप यह न मानें कि इस दिशा में आज के वैज्ञानिकों ने ही अनुसंधान किया है, खोज की है। यदि यह मानेंगे तो भूल होगी, भ्रांति होगी।

प्राचीनकाल में साधकों ने इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं। तंत्र-साधकों ने तथा अध्यात्म के साधकों ने रसायनों को बदलने की बड़ी-बड़ी खोजें कीं। उन्होंने ऐसी औषधियां खोज निकालीं, जिनके सेवन से रसायनों का परिवर्तन घटित हो जाता था। डर लगता है। औषधि का सेवन किया और भय समाप्त। एक आदमी सोते-सोते बड़बड़ाता है। उसे भयंकर स्वप्न आते हैं। सिरहाने एक जड़ी रख ली और स्वप्न समाप्त, बड़बड़ाना समाप्त। एक आदमी कामवासना से उत्तेजित होता है। एक औषधि का प्रयोग किया और वासना की उत्तेजना ही समाप्त हो गई।

वनस्पति : रसायन परिवर्तन

वर्षों पूर्व मेरे मन में एक प्रश्न उठा कि क्या ब्रह्मचर्य की साधना में वनस्पति का सहयोग हो सकता है? अनेक अनुभवी वैद्यों से पूछताछ की।

प्राचीन ग्रंथ देखे। उनका पारायण किया। अनेक रहस्य उद्घाटित हुए। यह निश्चय हो गया कि वनस्पति के विभिन्न प्रयोगों से लाभ उठाया जा सकता है। ये खोजें बहुत प्राचीनकाल में हुई थीं। हजारों साधक उनसे लाभान्वित हुए थे।

वनस्पति का एक कल्प है जितेन्द्रिय के लिए। अमुक वनस्पति का सेवन करने पर, बिना कुछ साधना किए ही मनुष्य जितेन्द्रिय बन जाता है। मनोभावों को बदलने के लिए वनस्पति का बहुत बड़ा उपयोग है। **अचिन्त्यो मणिमंत्रौषधीनां प्रभावः**—मणि, मंत्र और औषधियों का प्रभाव अचिंत्य होता है। उनके प्रभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। जितना मंत्रों का प्रभाव है, उतना ही वनस्पति का प्रभाव है। जितना रत्नों का प्रभाव है, उतना ही वनस्पति का प्रभाव है। वनस्पति के द्वारा शारीरिक और मानसिक रसायनों का परिवर्तन किया जा सकता है। वैज्ञानिक आज जो परिवर्तन की खोजें कर रहे हैं, वह कोई नई बात नहीं है। इतना हो जाने पर भी, वनस्पतियों के द्वारा रसायन-परिवर्तन की प्रक्रिया या कृत्रिम रसायनों द्वारा रसायन-परिवर्तन की प्रक्रिया हस्तगत हो जाने पर भी हम अपनी स्वतंत्रता खोना नहीं चाहेंगे। स्वतंत्रता को खो देना खतरनाक होता है।

लाभ चैतन्यकेन्द्रों की निर्मलता के

हम ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन चाहते हैं। हम अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहते हैं। केवल रसायन-परिवर्तन की बात ही पूरी नहीं है। ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन अंतर्ज्ञान को खोलने का द्वार है। यह बिना पराक्रम के उद्घाटित नहीं होता। इंजेक्शनों के द्वारा यह तो हो सकता है कि एक इंजेक्शन लिया या एक गुटिका ली और क्रोध समाप्त हो गया या कामवासना समाप्त हो गई या अन्य उत्तेजनाएं नष्ट हो गईं। यह संभव है। वैज्ञानिक इस दिशा में सफल भी हुए हैं, किंतु हम जिस अंतर्ज्ञान या आंतरिक आनंद को उपलब्ध करना चाहते हैं, जीवन में नई दिशा का उद्घाटन करना चाहते हैं, वह इन कृत्रिम उपायों, इंजेक्शनों या गुटिकाओं से नहीं होगा। यह नेगेटिव एप्रोच है। यह निषेधात्मक तरीका है।

क्रोध नहीं आएगा, कामवासना नहीं जागेगी, किंतु जिस स्थिति में जाकर हमें एक विस्फोट करना है, वह नहीं होगा। आंतरिक ज्ञान और आनंद का जो द्वार बंद पड़ा है, वह नहीं खुलेगा। उसे खोलने के लिए पोजिटिव एप्रोच होनी चाहिए। हमारा कोई विधायक उपाय होना चाहिए। वह विधायक उपाय

है अपने मन को शक्तिशाली बनाने का, भावों के संशोधन का, तपस्या का, ध्यान का और चैतन्यकेन्द्रों को निर्मल बनाने का।

चैतन्यकेन्द्रों को निर्मल बनाने से दो काम होते हैं–एक ओर रसायनों का परिवर्तन होता है और उससे क्रोध समाप्त हो जाता है, व्यसन और बुरी आदतें समाप्त हो जाती हैं, दूसरी ओर हमारी स्वच्छता की रश्मियां, निर्मलता की किरणें आगे बढती हैं और उन दरवाजों को उद्घाटित करती हैं, जिनसे अंतर्ज्ञान प्रकट होता है। आंतरिक आनंद अभिव्यक्त होता है। भगवान महावीर की वाणी में बार-बार यह उद्घोषणा मिलती है।

विशुद्ध लेश्या : अंतर्ज्ञान

लेश्या की शुद्धि हुए बिना जातिस्मृति ज्ञान नहीं हो सकता। लेश्या की शुद्धि हुए बिना अवधिज्ञान नहीं हो सकता। लेश्या की शुद्धि हुए बिना मनःपर्यवज्ञान नहीं हो सकता और लेश्या की शुद्धि हुए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता। जो भी अंतर्ज्ञान उत्पन्न होता है, वह लेश्या की विशुद्धि से ही होता है। लेश्या की शुद्धि के बिना आनंद का अनुभव नहीं हो सकता। ध्यान आदि के द्वारा जो हम पराक्रम करते हैं, वह इसीलिए करते हैं कि भावों का संशोधन हो, लेश्या की शुद्धि हो।

जब लेश्या का रूपांतरण होता है तपस्या के द्वारा, ध्यान के द्वारा, चैतन्यकेन्द्रों को जागृत करने के द्वारा या चैतन्यकेन्द्रों को निर्मल बनाने के द्वारा, तब आंतरिक शक्तियां जागती हैं और वे रसायनों को बदलती हैं और उन आवरणों को दूर करती हैं, जो ज्ञान को आवृत किए हुए हैं। उसकी घनीभूत मूर्च्छा को तोड़ती हैं, जो आनंद को विकृत बनाए हुए हैं।

हम मंगल-भावना करें, ध्यान का ऐसा उपक्रम करें, जिससे जीवन में सरलता जागे, संतोष जागे ओर शांति जागे। रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा बाहर के जीवन में ये सब जागें और भीतर में बंद दरवाजे खुलें, सारे आवरण हटें और अंदर का ज्ञान बाहर आए। अंदर में जो आनंद का समुद्र हिलोरें ले रहा है, उसका जल बाहर आए।

चैतन्यकेन्द्रों के जागरण के द्वारा जब ये दोनों काम संभव होंगे, उस दिन यह प्रमाणित होगा कि केवल बाहरी रसायनों के परिवर्तन से हम जो चाहते हैं, वह उपलब्ध नहीं होगा। बाहरी रसायनों के परिवर्तन के साथ-साथ जब मूर्च्छा टूटेगी, आवरण हटेंगे तब वह सब घटित होगा, जो हम यथार्थ में चाहते हैं।

21. लेश्या : एक प्रेरणा है जागरण की

ध्यान की प्रक्रिया मूर्च्छा को तोड़ने की प्रक्रिया है। जो उपाय चेतना को मूर्च्छित करते हैं, वे ध्यान के सही उपाय नहीं हैं। ध्यान के सही उपाय वे ही हैं, जो मूर्च्छा को तोड़ते हैं। जितने पदार्थ हैं, उतने अपाय हैं। व्यक्ति की चेतना को मूर्च्छित करने वाले वे सब अपाय हमारे कर्म-तंत्र को प्रभावित करते हैं। वे कर्म-तंत्र को निष्क्रिय बना देते हैं, किंतु वे मूर्च्छा को नहीं तोड़ सकते।

केवल कर्म-तंत्र को प्रभावित या मूर्च्छित करने से मूर्च्छा का विनाश नहीं होता, मूर्च्छा का विलय नहीं होता, मूर्च्छा नहीं टूटती।

जब साधक कर्म-तंत्र को पारकर भाव-तंत्र का स्पर्श करता है तब मूर्च्छा टूटती है। भाव-तंत्र का स्पर्श केवल चेतना के द्वारा ही किया जा सकता है। वहां तक कोई पदार्थ नही पहुंच सकता, कोई उपकरण नहीं पहुंच सकता। केवल चेतना के द्वारा ही हम उसका स्पर्श कर पाते हैं।

हमारा प्रवृत्ति-तंत्र निष्क्रिय हो जाने पर भी कषायतंत्र निष्क्रिय नहीं होता, सतत सक्रिय रहता है।

स्थावर जीवों में मन विकसित नहीं होता, वाणी विकसित नहीं होती और शरीरतंत्र भी सुदृढ़ नहीं होता, किंतु उनमें भी कषाय-तंत्र, लेश्या-तंत्र और भाव-तंत्र निरंतर सक्रिय रहता है और उनके प्रतिक्षण कर्म-बंध होता रहता है। उनकी मूर्च्छा घनीभूत होती है। उनकी मूर्च्छा स्त्यानर्द्धि मूर्च्छा होती है। यह मूर्च्छा की चरम कोटि है। कर्म-तंत्र इतना सक्रिय नहीं होता, फिर भी मूर्च्छा बहुत घनी होती है।

हम केवल कर्म-तंत्र पर ही न रुकें, आगे बढ़ें, जड़ को देखें और कषाय-तंत्र तक पहुंचे। कषाय-तंत्र की चिकित्सा लेश्या-तंत्र को समझकर ही की जा सकती है।

द्रव्यहिंसाः भावहिंसा

महावीर ने दो शब्द दिए–द्रव्य और भाव। द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा।

शरीर से कोई हिंसा होती है, वाणी से कोई हिंसा होती है और मन से कोई हिंसा होती है। हिंसा इतनी ही नहीं है। उसकी सीमा और आगे है। शरीर से कोई अहिंसा होती है, वाणी से कोई अहिंसा होती है और मन से कोई अहिंसा होती है। अहिंसा इतनी ही नहीं है। उसकी सीमा और आगे है।

कालसौकरिक महावीर के समय का प्रसिद्ध कसाई था। वह प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारता था। उसको अहिंसक बनाने के लिए महाराज श्रेणिक ने उसे एक खाली कुएं में डाल दिया। वहां उसे भैंसे प्राप्त नहीं थे। उसने वहां भैंसे नहीं मारे, फिर भी कालसौकरिक अहिंसक नहीं बना, क्योंकि उसके भाव नहीं बदले। केवल हाथों के रुक जाने से, केवल हाथों से हिंसा न होने पर वह अहिंसक नहीं बना।

यदि किसी हिंसक व्यक्ति को मूर्च्छित कर दिया जाए, उस स्थिति में न वह मन से हिंसा कर पाता है और न शरीर से हिंसा कर पाता है। क्या वह अहिंसक हो गया? नहीं, वह अहिंसक नहीं होता, क्योंकि वह मूर्च्छित है, नींद में है, सोया हुआ है, उसकी बाहरी चेतना लुप्त है। वह हिंसक है, क्योंकि उसका भाव-तंत्र निरंतर सक्रिय रहता है। उसके निरंतर हिंसा का बंध हो रहा है।

जब तक भाव का परिवर्तन नहीं होता, लेश्या का परिवर्तन नहीं होता, तब तक केवल शरीर को निष्क्रिय बना देने, मन को मूर्च्छित कर देने मात्र से काम नहीं चलता। मन की मूर्च्छा और शरीर की निष्क्रियता हमारे कर्म-तंत्र की मूर्च्छा हो सकती है, किंतु भाव-तंत्र पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। हमें भाव-तंत्र का शोधन करना है।

जब भाव-तंत्र का शोधन हो जाता है, तब शरीर हिले-डुले, मन चले, फिर भी न हिंसा का भाव होगा, न हिंसा का व्यापार होगा, न कोई बुरी प्रवृत्ति होगी। मूल करणीय है भाव का शोधन।

मूर्च्छा में विश्वास बढ़ाने वाले जितने साधना के उपक्रम हैं, मूर्च्छा को प्रोत्साहित करने वाली साधना की जितनी पद्धतियां हैं, वे सब हमारे कर्म-तंत्र तक पहुंचती हैं, भाव-तंत्र तक उनकी पहुंच नहीं होती। उन लोगों का ऐसा विश्वास है कि कर्म-तंत्र निष्क्रिय हो जाने पर सबकुछ घटित हो जाता है, किंतु जिन लोगों ने गहरे में जाकर देखा तो उन्हें अनुभव हुआ कि जब तक भाव-तंत्र

निष्क्रिय नहीं होता, तब तक मूर्च्छा नहीं टूटती। जब मूर्च्छा नहीं टूटेगी तो वह नए मार्ग से प्रवाहित होने लगेगी।

मूर्च्छा तोड़ने का उपाय है चेतना को जगाना

मूर्च्छा की समाप्ति हुए बिना आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। महावीर को कैवल्य लाभ हुआ।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा–'भंते! तत्त्व क्या है?'

महावीर ने कहा–'गौतम! उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है, यही तत्त्व है। ज्ञान ध्रुव है, ज्ञान की मलिनता नष्ट होती है और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।'

गौतम ने पूछा–'भंते! केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?'

महावीर ने कहा–'गौतम! मैं पूरा जाग गया। जैसे ही जागा, सारी मूर्च्छा टूट गई। जागते ही सारे आवरण हट गए। जब तक मूर्च्छा में था, जब तक आवरण में था, जब तक नींद में था, तब तक पर्दा बना रहा। जैसे ही जागा, आवरण हट गया। जैसे आवरण हटा, विघ्न की चट्टान, अंतराय की चट्टान चूर-चूर हो गई। तत्काल केवलज्ञान का सूर्य उदित हो गया।

सबसे पहले मूर्च्छा को टूटना होता है।' मूर्च्छा टूटे बिना ज्ञान का आवरण नहीं हटता, शक्ति का अवरोध नहीं मिटता। ज्ञान का विकास तभी संभव है जब मूर्च्छा टूटे, मोह का संपूर्ण विलय हो।' मूर्च्छा को तोड़े बिना दोनों बातें घटित नहीं होती। पहले ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न न करें, पहले अंतराय को हटाने का ही प्रयत्न करें। सबसे पहले मूर्च्छा को तोड़ने का प्रयत्न करें, जागें।

जागने का एकमात्र उपाय है चेतना को जगाना। जब तक ध्यान के द्वारा चेतना का जागरण नहीं होगा, तब तक भाव-तंत्र की मूर्च्छा को तोड़ना संभव नहीं होगा। हमारा प्रयत्न यह हो कि भाव-तंत्र की मूर्च्छा टूटे।

सजगता रहे भावों के प्रति

लेश्या का सिद्धांत जागरण की प्रेरणा है। हम जागें, जागें। मन दौड़ रहा है, मन के प्रति जागें, मन की चचंलता के प्रति जागें। हाथ हिल रहा है, हाथ के प्रति जागें। यह मूल्यवान है, पर इतना मूल्यवान नहीं है। बहुत मूल्यवान है भाव के प्रति जागना। जिस भाव के कारण यह मन विक्षेप उत्पन्न कर रहा है, उड़ रहा है, मन का घोड़ा दौड़ रहा है। मन के प्रति जागने से मन स्थिर नहीं होगा। हाथ के प्रति जागने से हाथ स्थिर नहीं होगा। हाथ में जो शक्ति प्रकंपन

पैदा कर रही है, मन को जो शक्ति चला रही है, वह है सारी भाव की शक्ति। इस भौतिक शरीर से आगे एक तंत्र है, जो अपनी शक्ति का विकिरण करता है, जो आंतरिक शक्ति का उत्पादक है, वह है लेश्या-तंत्र, भाव-तंत्र।

जब हम भाव के प्रति जागते हैं तब परिवर्तन होता है। भाव-तंत्र को जाग्रत रखने का एकमात्र उपाय है सतत जागरूकता, अप्रमाद। हम अपने अस्तित्व के प्रति, चैतन्य के प्रति जागरूक बनें, मूर्च्छित न बनें। हमारे में शून्यता न आए। मूर्च्छा आती है, हमें कोई पता नही चलता। नींद आती है, हमें कोई पता नहीं चलता। चेतना को जगाने के लिए मादक पदार्थों के सेवन की कोई आवश्यकता नहीं है। ध्यान के लिए मादक वस्तुओं के सेवन की जरूरत नहीं है। ध्यान के लिए मूर्च्छा बढ़ाने वाले उपायों और उपक्रमों की जरूरत नहीं है। जरूरत है सतत जागरण की।

हम अपने चैतन्य के प्रति जागरूक रहें। मन को शून्य बनाएं। मन की शून्यता का अर्थ इतना ही होगा कि मन में कोई विकल्प न हो। चैतन्य की अनुभूति सतत होती रहे। यही है विचारशून्यता, विकल्पशून्यता। इस भूमिका पर चैतन्य जागरण होगा तब साथ-साथ एक प्रश्न उठेगा कि जब हम इस कर्म-तंत्र से परे चले जाते हैं, जब हम इस बाह्य व्यक्तित्व से परे चले जाते हैं, तब हमारे जीवन की यात्रा कैसे चलेगी? जीवन-व्यवहार कैसे चलेगा? हम जीवन-व्यवहार में सफल कैसे होंगे? भूख का प्रश्न, पारस्परिक सहयोग का प्रश्न, रोटी का प्रश्न, कपड़ों का प्रश्न—ये प्रश्न जब नग्न सत्य बनकर हमारे सामने आते हैं और हम भाव-तंत्र का शोधन करने के लिए बैठ जाते हैं तब क्या जीवन में कठिनाइयां पैदा नहीं होंगी? क्या यह ध्यान हमें अव्यावहारिक नहीं बना देगा? क्या जीवन की समस्याएं उग्र बनकर हमारे सामने नहीं नाचने लगेगीं? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं और ये प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क मे टकराते हैं।

जब हम विचार की भूमिका में जीते हैं और विचार से परे की बात सोचते हैं, तब विचार अवश्य टकराते हैं। विचार का काम है टकराना। जब हम निर्विचार में चले जाते हैं तब ये सारे प्रश्न नहीं टकराते। जो भाव-तंत्र में चला जाता है, उसके मस्तिष्क में ये प्रश्न नहीं टकराते, किंतु जब आदमी भाव-तंत्र की ओर चलने की बात सोचता है तब ही ये प्रश्न टकराने लगते हैं, क्योंकि यह सोचना भी विचार का काम है और टकराना भी विचार का काम है। विचार विचार से अवश्य टकराएगा।

विचार विचार में अवश्य ही संघर्ष होगा। इस प्रश्न का समाधान मैं अपनी

भाषा में दूं तो आपको कैसा ही लगेगा, क्योंकि मेरी अभिव्यक्ति की भूमिका और आपके समझने की भूमिका में अंतर है। जो बात ध्यान की भूमिका पर समझी जानी चाहिए, वह बात तर्क की भूमिका पर, विचार की भूमिका पर समझी जाए तो कठिनाई हो सकती है। मुझे इसी कठिनाई का अनुभव हो रहा है। मैं यदि समझाऊं तो भी बात समझ में नहीं आएगी।

एक कुशल वक्ता बोलने के लिए मंच पर आकर खड़ा हुआ। वह बोला–'मैं जो कहना चाहता हूं, यदि आप उसे जानते हैं तो मुझे कहने की जरूरत ही नहीं है। यदि आप उसे नहीं जानते हैं तो मुझे कहने की जरूरत ही क्या है?' इतना कहकर बैठ गया।

व्यवहार भी महत्त्वपूर्ण है

लगता है, मैं भी रुक जाऊं। बैठ जाऊं, यदि आप उस बात को समझते हैं तो फिर मुझे समझाने की जरूरत ही नहीं है और नहीं समझते हैं तो मुझे समझाने की आवश्यकता ही क्या है? किंतु व्यवहार का प्रश्न सामने आता है। व्यवहार यही कहेगा कि समझ में नहीं आता है तो भी समझाया जाए। व्यवहार व्यवहार की भूमिका पर चलता है। वह निश्चय की भूमिका का स्पर्श नहीं करता। निश्चय की भूमिका अलग है और व्यवहार की भूमिका अलग है। हम सब व्यवहार से जुड़े हुए जी रहे हैं।

जब तक शरीर है, तब तक व्यवहार को तोड़ा नहीं जा सकता। इस शरीर के रहते कोई भी व्यक्ति सर्वथा व्यवहारातीत नहीं हो सकता। जो शरीर के रहते व्यवहारातीत बनने की बात सोचता है, वह भ्रम में है। वह स्वयं को भी धोखा देता है और दूसरे को भी धोखे में डालता है। शरीर रहते व्यवहार को नहीं छोड़ा जा सकता। शरीर छूटेगा, व्यवहार अपने आप छूट जाएगा। जब तक शरीर है, शरीर को चलाना है। जीवन की यात्रा को चलाना है तो साथ-साथ व्यवहार को भी चलाना होगा। मैं मानता हूं कि भावशुद्धि की साधना करने वाले व्यक्ति का व्यवहार टूटता नहीं, किंतु वह वास्तविक बन जाता है। व्यवहार विघटित नहीं होता। व्यवहार सफल होता है। इसको समझने के लिए गहराई में जाना होगा। एक है घटना और एक है कल्पना।

दुःख का कारण : काल्पनिक घटनाएं

मनुष्य जीवन में कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है। कभी अप्रियता का अनुभव करता है और कभी प्रियता का अनुभव करता है। कभी अनुकूलता का अनुभव करता है और कभी प्रतिकूलता

का अनुभव करता है। हमारे सामने घटना इतनी बड़ी नहीं होती, जितनी बड़ी होती है संवेदना और कल्पना।

कुछ आदमी बहुत संवेदनशील होते हैं, कल्पनाशील होते हैं। वे छोटी-सी घटना को भी बड़ी बना देते है, राई का पर्वत कर देते हैं। जिस व्यक्ति ने संवेदन पर नियंत्रण पा लिया, जिस व्यक्ति ने अपनी कल्पनाओं पर नियंत्रण पा लिया, उसके मन में ऐसी शक्ति का जागरण होता है कि वह पर्वत को भी राई बना डालता है। पर्वत जितनी बड़ी घटना को राई जैसी छोटी बना सकता है। घटना कभी बड़ी नहीं होती। बड़ी होती है हमारी संवेदना और बड़ी होती है हमारी अनुभूति की प्रक्रिया।

इंग्लैण्ड में एक बार वहां सेना के लिए अनिवार्य भर्ती की बात सोची जा रही थी। घोषणा होने ही वाली थी कि सभी नागरिकों को अनिवार्यतः सेना में भर्ती होना होगा। एक व्यक्ति चिंतित हो उठा। वह एक बड़े व्यक्ति के पास जाकर बोला–'अनिवार्य भर्ती की घोषणा होने वाली है। क्या आपको भय नहीं लगता?'

उसने कहा–'भय किस बात का? अभी तो घोषणा ही नहीं हुई है। घोषणा हो भी गई तो कौन जानता है कि वे मुझे सेना में भर्ती कर लेंगे? यदि वे मुझे भर्ती कर भी लेंगे तो क्या पता कि वे मुझे मोर्चे पर भेज ही देंगे। मान लो कि वे मुझे मोर्चे पर भेज ही देंगे तो भी क्या पता कि मुझे गोली लगेगी ही और मैं वहीं पर मर जाऊंगा। यदि गोली लगेगी और मैं मर जाऊंगा तो फिर डरने की जरूरत ही क्या है। मरने के बाद डरेगा कौन? अतः अभी से मैं कल्पना के भय से भयभीत होना नही चाहता।' सचमुच घटना का दुःख नहीं होता। घटना घटित हो जाती है। घटना हमें नहीं सताती। सताती है घटना के दुःख की कल्पना। हम काल्पनिक घटनाओं के द्वारा अपने लिए दुःखों के जाल बिछा लेते हैं और उनमें निरंतर फंसे रहते हैं। घटना नहीं सताती, सताता है घटना का संवेदन। सताता है कल्पना का दुःख।

ध्यान करने वाला व्यक्ति घटना से अपने संवेदन को तोड़ देता है। वह घटना से जुड़ा नहीं रहता। आप यह न मानें कि ध्यान करने वाले में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह घटनाओं को रोक देता है। आज तक न ऐसा हुआ है और न कभी होगा। घटना को रोका नहीं जा सकता। घटना से उत्पन्न होने वाले संवेदन को रोका जा सकता है। ऐसा कभी नहीं होता कि ध्यान करने वाले में इतनी शक्ति आ जाए कि वह इस जगत में नाना वर्षों से घटित होने वाली घटनाओं

को समाप्त कर दें और वह ऐसा ईश्वर बन जाए, जिसके इशारों पर घटनाएं घटें और न घटें। ऐसा कभी संभव नहीं है।

ध्यान का परिणाम

ध्यान का यह परिणाम होता है कि जो घटनाएं घटित होती हैं, उनके साथ ध्यान-साधक की कल्पना नहीं जुड़ती। संवेदन नहीं जुड़ता। घटना अपने स्थान पर घटित होती है और ध्यान-साधक अपने स्थान पर स्थित होता है। न घटना उसको छू पाती है और न उसका मन घटना का स्पर्श कर पाता है।

ध्यान का काम है विघटन करना, तोड़ना। घटना से मन को तोड़ देना, जो जुड़ा रहता है, उसे अलग कर देना, फिर घटना अपने स्थान पर बैठी रहे और मन अपने स्थान पर बैठा रहे। व्यवहार कैसे टूटेगा? व्यवहार टूटता है कल्पनाओं के कारण, संदेहों और संवेदनाओं के कारण।

एक परिवार है। उसमें पांच-दस व्यक्ति हैं। सबकी रुचि एक नहीं होती। सबका चिंतन एक नहीं होता। नाना रुचियां, नाना विचार और नाना चिंतन। रुचि की भिन्नता के आधार पर एक छोटी-सी घटना घटती है। तनाव पैदा हो जाता है। छोटी बात भी बड़ी बात बन जाती है। घटना बड़ी नहीं होती। मैं तो यह मानता हूं कि बड़ी घटना ने आज तक दुनिया को नहीं लड़ाया। जो महायुद्ध हुए हैं, वे भी छोटी-छोटी बातों के लिए हुए हैं। महायुद्ध के लिए बड़ी बातें नहीं होतीं।

चक्रवर्ती भरत ने कहा–'बाहुबली को मेरी आज्ञा माननी होगी।'

बाहुबली ने कहा–'बाहुबली किसी की आज्ञा स्वीकार नहीं करता।' दोनों में तनाव पैदा हो गया। बाहुबली आज्ञा न माने तो भरत को क्या कठिनाई हो सकती है।? कौन-सा बड़ा अनर्थ हो जाता है? बाहुबली अपने राज्य में बैठा था और भरत अपने राज्य में, किंतु यह सारा साम्राज्य अहं के आधार पर निर्मित होता है। साम्राज्य यथार्थ के आधार पर निर्मित नहीं होता। अहं ही साम्राज्य का निर्माण करता है।

एक व्यक्ति का अहं इतना विस्तृत हो जाता है कि वह साम्राज्य बनाने का प्रयत्न करता है। भरत का अहं इतना प्रबल हो गया कि वह भीतर जाने को तैयार नहीं था। कहा जाता कि भरत का चक्ररत्न भीतर जाने को तैयार नहीं था। इसे हम रूपक मानें तो यह कहा जा सकता है कि भरत के अहंकार का चक्र अपनी आयुधशाला में जाने को तैयार नहीं था। वह बाहर ही घूमने को विवश था। परिणाम यह हुआ कि बारह वर्षों तक लड़ाइयां चलीं। यह इस युग

का पहला महायुद्ध था। युद्ध का सूत्रपात हो गया। छोटी बात ने भयंकर रूप धारण कर दिया।

चेतना का जागरण : स्वस्थ व्यवहार

यह सच है कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों ने व्यवहार का कभी विघटन नहीं किया। व्यवहार का विघटन उन लोगों ने किया, जिन्होंने ध्यान का कभी अभ्यास ही नहीं किया। लोगों में यह भय है कि ध्यान का अभ्यास करेंगे तो व्यवहार को तोड़ना पड़ेगा या व्यवहार टूटेगा। यदि ध्यान करने वाले व्यवहार को तोड़ेंगे तो वे उसी व्यवहार को तोड़ेंगे, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। सचाई यह है कि व्यवहार में उलझनें, समस्याएं और कठिनाइयां उन्हीं लोगों ने पैदा की हैं, जिन्होंने अहं की साधना की है, ध्यान की साधना नहीं की है। मुझे आज तक भी नहीं लगा कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों के द्वारा कहीं भी व्यवहार का लोप हुआ हो, खंडन हुआ हो या विघटन हुआ हो। आप इस भ्रांति को निकाल दें, यह भय निकाल दें कि यदि ध्यान में जाएंगे तो सामाजिक व्यवहार का क्या होगा? पारिवारिक व्यवहार का क्या होगा? जीवन के व्यवहार का क्या होगा?

चेतना के जागरण का पहला लाभ है कि व्यवहार सुंदर और स्वस्थ बनता है। चेतना के जागरण का दूसरा लाभ है कि व्यक्ति अच्छा जीवन जी सकता है और अच्छी मौत मर सकता है। जो व्यक्ति चेतना का जागरण नहीं करता, ध्यान में नहीं जाता, वह न अच्छा जीवन जी सकता है और न अच्छी मौत मर सकता है। जो अच्छी मौत नही मर सकता, वह अच्छा जीवन कैसे जी पाएगा? जिस व्यक्ति में जीवन के प्रति आसक्ति होती है, वह अच्छी मौत नहीं मर सकता और जो व्यक्ति मौत से डरता रहता है, वह अच्छा जीवन नहीं जी सकता।

अच्छा जीवन जीने के लिए यह जरूरी है कि मौत का भय मिटे। अच्छी मौत मरने के लिए यह जरूरी है कि जीवन की आसक्ति टूटे। ध्यान के द्वारा, चेतना के जागरण के द्वारा ये दोनों बातें घटित होती हैं। जीवन की आसक्ति समाप्त होती है और मौत का भय भी समाप्त हो जाता है। हम चेतना की उस भूमिका में चले जाते हैं, जहां जीवन और मरण दोनों मात्र संयोग प्रतीत होते हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा का यह सूत्र है–'जीवन भी एक संयोग है और मृत्यु भी एक संयोग है।' गीता कहती है–'जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नए कपड़े धारण करता है, वैसे ही मृत्यु के बाद आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर

नए शरीर को धारण करता है।' मरने से डरने की जरूरत क्या है? मनुष्य मृत्यु के विषय में जानता है, सुनता है, पर मृत्यु का नाम सुनते ही उसका मन भय से भर जाता है। भय मिटता नहीं, बना ही रहता है। उपदेश सुनने मात्र से भय नहीं मिटता। भय मिटता है चेतना के जागरण से। आगमों ने बहुत बड़ी सचाई प्रकट की है, किंतु जब तक यह सचाई चेतना में नहीं जागेगी, तब तक आगम और गीता की सचाई पकड़ में नहीं आएगी। महावीर ने कहा, बुद्ध ने कहा, कृष्ण ने कहा, क्राइस्ट ने कहा, सबने यही कहा कि मौत अवश्यंभावी है, उससे मत डरो। उससे भयभीत मत बनो, किंतु यह सचाई तब तक समझ में नहीं आएगी, जब तक व्यक्ति अनुभव के स्तर पर पहुंचकर ध्यान के द्वारा अपनी चेतना को नहीं जगा लेंगे।

एक कथावाचक महाभारत की कथा कर रहा था। कथा पूरी होने पर उसने श्रोताओं से पूछा–'कथा का सार क्या समझ पाए?' एक भक्त खड़ा हुआ और बोला–'मैं इतनी बात समझ पाया हूं कि जब श्रीकृष्ण ने कौरवों से कहा कि पांडवों को पांच गांव दे दो और पूरा राज्य तुम अपने पास रखो तब दुर्योधन ने कहा–**सूच्यग्रमपि नो दास्ये, बिना युद्धेन केशव!**–कृष्ण! बिना युद्ध किए मैं उनको सूई के अग्रभाग जितनी भूमि भी नहीं दूंगा! इससे मैं यह समझ सका कि मेरे अधिकार में जो धन-संपत्ति है, मैं बिना लड़ाई के भाइयों को एक सूई मात्र भी उसमें से नहीं दूंगा।'

महापुरुषों की भूमिका तक पहुंचें

उस व्यक्ति ने ठीक ही समझा। जब तक हम ध्यान के द्वारा अपनी शक्ति को नहीं जगा लेते, तब तक उत्तम से उत्तम ग्रंथों को, शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी समझेंगे वही, जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाला हो। महावीर को समझने के लिए महावीर की भूमिका तक पहुंचना आवश्यक है, परंतु उस भूमिका तक पहुंचने में बहुत समय लगेगा। इतना तो अवश्य ही हो जाना चाहिए कि साधक उस भूमिका की दिशा में प्रयाण कर दे।

हम बुद्ध को समझना चाहें, राम को समझना चाहें, कृष्ण और क्राइस्ट को समझना चाहें या अन्य किसी अवतार या महापुरुष को समझना चाहें तो यदि हम उनकी भूमिका की दिशा में पैर नहीं बढ़ाएंगे तो उनके उपदेश का हम वही अर्थ ग्रहण करेंगे, जो भक्त ने ग्रहण किया था।

जितने व्याख्याकारों ने अनुभव के स्तर पर पहुंचे बिना शास्त्रों की व्याख्याएं की हैं, उन्होंने शास्त्रों के अर्थ के साथ अन्याय ही किया है। उन्होंने

सत्य पर अपनी व्याख्या का पर्दा डाल दिया, जिससे व्याख्या पढ़ने वाला शास्त्र की सचाई तक न पहुंच सके, इसलिए आवश्यक है कि हम ध्यान के द्वारा अपनी चेतना का जागरण करें, जिससे कि हम सचाई तक पहुंच सकें। केवल शब्दों के द्वारा वहां नहीं पहुंचा जा सकता है। हजारों-हजारों वर्ष पहले की शास्त्रगत अनुभूतियों को हम शब्दों के द्वारा कैसे पकड़ सकते हैं?

अनुभूति को पकड़ने के लिए अनुभूति के स्तर पर जाना जरूरी है। महापुरुष की चेतना को समझने के लिए महापुरुष जैसी चेतना का निर्माण करना होता है। चेतना का यह निर्माण, चेतना की यह जागृति मात्र ध्यान के द्वारा ही संभव हो सकती है। हम मूर्च्छा को तोड़ने के लिए चेतना को जगाएं। इस जागृति के द्वारा दो कार्य संपन्न होंगे–पहला कार्य होगा कर्म-तंत्र का शोधन और दूसरा कार्य होगा भाव-तंत्र का शोधन। चेतना ही ऐसा शस्त्र है, जिसके द्वारा ये दोनों तंत्र कांटे-छांटे जा सकते हैं। उनका शोधन हो सकता है।

समस्या का मूल : प्रतिबद्धता

चेतना के जागरण की बात लेश्या को समझे बिना नहीं समझी जा सकती। यदि हम ध्यान का अभ्यास करना चाहें, अध्यात्म का विकास करना चाहें, अध्यात्म का उन्नयन करना चाहें और अध्यात्म के द्वारा समस्याओं को सुलझाना चाहें तो यह आवश्यक होगा कि चेतना व्यापक बने। चेतना को व्यापक बनाने का अर्थ है चेतना की पदार्थ-प्रतिबद्धता को तोड़ देना। पदार्थ का उपयोग होगा, किंतु चेतना पदार्थ से प्रतिबद्ध नहीं होगी। उपयोग करना और प्रतिबद्ध होना ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। रोटी खाना पदार्थ की उपयोगिता है। रोटी से बंध जाना यह उसकी प्रतिबद्धता है। जिसकी चेतना जाग जाती है, वह भी रोटी खाता है। ध्यान करने वाला साधक भी रोटी खाता है, पानी पीता है, पैसा रखता है। ये जीवन के आवश्यक उपकरण हैं। सबके लिए जरूरी हैं।

ध्यान करने का यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ छूट जाए। ध्यान से पदार्थ नहीं छूटता। जब तक जीवन है, तब तक पदार्थ को नहीं छोड़ा जा सकता। आध्यात्मिक होने का यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ छूट जाए। भौतिकता छूट जाए। भौतिकता नहीं छूटती। पदार्थ का उपयोग नहीं छूटता, केवल पदार्थ की प्रतिबद्धता छूट जाती है। वह साधक पदार्थ से बंधा नहीं रहता, पदार्थ के चंगुल में फंसा नहीं रहता। चेतना के जागरण का यह मुख्य परिणाम है। उसमें पदार्थ की उपयोगिता शेष रहती है, प्रतिबद्धता समाप्त हो जाती है। समस्या

का मूल प्रतिबद्धता है, उपयोगिता नहीं। ध्यान से चेतना को जागृत करने पर व्यवहार सीधा और सरल बन जाता है, व्यवहार की उलझनें समाप्त हो जाती हैं, व्यवहार निश्चल हो जाता है। कोई भी उस व्यक्ति को खुली पोथी की भांति पढ़ सकता है।

यह सचाई है कि सफल जीवन जीने के लिए, मृदु और निश्चल व्यवहार के लिए अध्यात्म चेतना का जागरण जरूरी है। आंतरिक विकास और शक्ति के जागरण के लिए, ज्ञान के अवरोध को समाप्त करने के लिए, अंतराय की चट्टान को तोड़ने के लिए और मूर्च्छा की दुर्भेद्य दीवार को गिराने के लिए चेतना का जागरण आवश्यक है। जीवन-व्यवहार को कलह मुक्त और मृदु बनाने के लिए भी अध्यात्म की चेतना को जगाना जरूरी है।

जो व्यक्ति ध्यान की साधना के लिए उपस्थित हैं, वे सब भ्रांतियों को पार कर आने वाले तार्किक प्रश्नों में न उलझें। वे गहरे में उतरकर सत्य का साक्षात्कार करें, अनुभव को प्रधानता दें और सचाई का स्वयं अनुभव करें। उन्हें दूसरों पर निर्भर नहीं होना है। उनका सूत्र है–**अप्पणा सच्चमेसेज्जा**–स्वयं सत्य को खोजो, केवल दूसरे की मानकर मत चलो। जब स्वयं सत्य को खोजने की बात अंतश्चेतना तक पैठ जाएगी, जब हम ध्यान के द्वारा अनुभव के स्तर तक पहुंच जाएंगे, उस दिन हमारी आंतरिक मूर्च्छा और व्यवहार की समस्याएं समाप्त हो जाएंगी और हम सफल और आनंदमय जीवन जीने में सक्षम हो सकेंगे।

प्रश्न 1. ध्यान की गहराई में जाने वाले कुछ साधक हंसने लग जाते हैं, रोने लग जाते हैं, उन्हें वस्त्रों का भान भी नहीं रहता, क्या यह आध्यात्मिकता है?

उत्तर–जब साधना में मूर्च्छा का साथ होता है तब ऐसी घटनाएं घटती हैं, किंतु जागरूकता की स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता। यह सच है कि मनुष्य में हंसने का भाव भी है, रोने का भाव भी है, कपड़े पहनने की आदत भी है। हंसना, रोना सूक्ष्म भाव हैं और कपड़े पहनना स्थूल भाव है। मैं मानता हूं, ये सब सम्मोहन के प्रयोग हैं। सम्मोहन के प्रयोग से हंसाया जा सकता है, रुलाया जा सकता है, क्योंकि ये वृत्तियां तो मनुष्य में हैं ही। प्रयोग किया और ये प्रकट हो जाती हैं। जहां चेतना को जगाने का प्रश्न है, वहां इन वृत्तियों का इस प्रकार रेचन करने की जरूरत नहीं होती।

यह ठीक है कि इनका रेचन करना होगा। हंसने का, रोने का, भय का–इन सबका रेचन करना है, किंतु यह जरूरी नहीं है कि हंसाकर ही हंसने का रेचन

कराया जाए, रुलाकर ही रोने का रेचन कराया जाए या भोग या अब्रह्मचर्य में ले जाकर ही कामवासना का रेचन कराया जाए। रेचन की बहुत-सी प्रक्रियाएं हैं। बिना हंसे हंसने का रेचन हो जाएगा। बिना रोए रोने का रेचन हो जाएगा।

दो पद्धतियां हैं–एक है मूर्च्छा की पद्धति और दूसरी है जागरण की पद्धति। यदि हम जागरण के उपायों को काम में लेते हैं तो वहां हंसने की, रोने की जरूरत नहीं होती। हजारों-हजारों साधकों ने सत्य की साधना की, सत्य का साक्षात्कार किया, वे जागरण की प्रक्रिया से चले, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि वे बहुत हंसे या बहुत रोए।

रोना-हंसना मूर्च्छा की प्रक्रिया है। मूर्च्छा की प्रक्रिया में रेचन कराया जाता है उसके भोग के द्वारा। रोना भोग है और हंसना भी भोग है। जो भीतर है, उसका भोग है। भोग के द्वारा रेचन कराने की पद्धति मूर्च्छा की पद्धति है। बिना भोग कराए, मंदवीर्य बनाकर उन वृत्तियों की निर्जरा कर देना, रेचन कर देना जागरण की प्रक्रिया है।

प्रश्न 2. भाव और भावना में क्या अंतर है?

उत्तर–भाव एक निर्मित संस्थान है। जब भाव प्रकट होता है तब वह भावना बन जाता है। भाव की अभिव्यक्ति ही भावना है।

प्रश्न 3. कुछेक वनस्पतियों के जीवों की मूर्च्छा चरम सीमा तक पहुंची हुई होती है। वे जीव बार-बार उसी वनस्पति में जन्म लेते हैं और मरते हैं। क्या उनके भी उद्धार का कोई मार्ग है?

उत्तर–जब तक गाढ़ मूर्च्छा बनी रहती है, तब तक उद्धार का कोई मार्ग नहीं है। यह स्त्यानर्द्धि मूर्च्छा जब टूटती है तब मार्ग मिलता है। इसके टूटने के दो कारण हैं–काललब्धि और साधना। एक है स्वाभाविक और दूसरा है प्रयत्नजन्य। इस गहरी नींद के टूटने में काल ही कारण बनता है। काललब्धि से ऐसा परिपाक होता है कि भीतर ही भीतर मूर्च्छा टूटने लगती है। जब मूर्च्छा टूटती है तब उन जीवों का उत्क्रमण होता है। वे दूसरी योनियों में जन्म लेने का विकास कर लेते हैं।

प्रश्न 4. घटना के साथ कल्पना को नहीं जोड़ना–इसका तात्पर्य क्या है? इससे क्या लाभ होता है?

उत्तर–घटना के साथ कल्पना को न जोड़ने का अर्थ है कि सुख-दुःख का संवेदन नहीं करना, किंतु सचाई के साथ सचाई को जानना ही होगा। वह

व्यक्ति घटना को घटना जानेगा, उसके लिए उपाय भी करेगा, पर सुख-दुःख का अनुभव नहीं करेगा। पड़ोसी के घर चोरी हो गई। यह एक घटना है। इसके साथ मन इतना नहीं जुड़ता है तो दुःख का संवेदन नहीं होता। मन थोड़ा जुड़ता है तो दुःख होता है। जब अपने घर चोरी होती है तब उसके साथ मन तीव्र रूप से जुड़ता है और संवेदन भी तीव्र हो जाता है। यदि कहीं और किसी के चोरी होती है तो मन जुड़ता ही नहीं और संवेदन कुछ भी नहीं होता। कभी-कभी दूर की घटना के साथ हमारी सहानुभूति होती है। सहानुभूति का अर्थ है सापेक्षता। यही सहानुभूति का आधार है। कभी ऐसा भी होता है कि जिसके घर चोरी होती है, उसे उतना दुःख नहीं होता, जितना दुःख दूसरे को होता है। इसमें मन के संवेदन की सबलता और निर्बलता ही कारण बनती है।

एक बहन का पति चल बसा। बहन का मन मजबूत है। वह इस अनिवार्य घटना को सहजरूप में स्वीकार करती है और मन के संवेदन को उभरने नहीं देती। दूसरे लोग उस बहन के पास आते हैं। रोते-रोते वे अपनी सहानुभूति दिखाना चाहते हैं। सहानुभूति होना एक बात है और सहानुभूति का प्रदर्शन होना दूसरी बात है। घटना का घटित होना सर्वथा भिन्न बात है। भारत में भिखारियों के प्रति सहानुभूति के नाम पर भिखारियों की भी दुर्दशा और देश की भी दुर्दशा हुई। जहां भिखारियों के लिए व्यवस्था कर दी गई उनके लिए काम की व्यवस्था और उनके जीवन की व्यवस्था कर दी गई, वहां सबकुछ ठीक हो गया। भिखारी समाप्त हो गए। सहानुभूति वास्तव में यह है कि व्यवस्था का परिष्कार हो जाए। बहुत बार व्यवस्था का छलावा होता है, वास्तविकता की अनुभूति नहीं करते। ध्यान के द्वारा एक ऐसी चेतना का जागरण होगा कि जहां जो जैसे करना चाहिए, वह वैसे होगा ही। साथ-साथ झूठी बातें समाप्त हो जाएंगी।

प्रश्न 5. व्यवस्था तंत्र के कुछ नियम होते हैं। साधक साधना करता है, वह व्यवस्था तंत्र के नियमों को निभाए या अपनी साधना करे?

उत्तर–साधक साधना करेगा। वह व्यवस्था का जितना उपयोग करेगा, उतने नियम निभाएगा। यदि वह उस भूमिका पर पहुंच जाए कि उसे व्यवस्था का उपयोग करने की जरूरत नहीं है तो वह नियमों को सर्वथा अस्वीकार कर देगा। वह अकेला जंगल में जाकर साधना करे और जो कुछ सहज उपलब्ध हो जाए वह खाए-पीए तो व्यवस्था तंत्र के नियमों की कोई जरूरत ही नहीं होगी। वह कल्पनातीत स्थिति में चला जाता है, किंतु जब तक साधक व्यवस्था-तंत्र का

उपयोग करता है तो उसे उसके नियमों को भी ध्यान में रखना होगा। उसे नियम निभाने पडेंगे। दोनों सापेक्ष बातें हैं। आज ही ध्यान प्रारंभ किया और आज ही व्यवस्था-तंत्र को नकार दिया, यह असंगत बात है। अमुक अवस्था में पहुंचने पर ही व्यवस्था-तंत्र को नकारा जा सकता है। इसके लिए बहुत तैयारी अपेक्षित होती है।

प्रश्न 6. क्या आत्मा में सत्व, रजस ओर तमोगुण प्राप्त होते हैं? आत्मा सगुण है या निर्गुण?

उत्तर–सत्व, रजस और तमस–ये आत्मा के गुण नहीं हैं। ये सब गुण बाहर के हैं, प्रकृति के हैं। आत्मा का गुण है चैतन्य। इस दृष्टि से आत्मा सगुण है और शेष सत्व आदि आत्मा के गुण नहीं हैं इस दृष्टि से आत्मा निर्गुण है।

आत्मा के मुख्य गुण तीन हैं–चैतन्य, शक्ति और आनंद। चैतन्य है, वहां शक्ति है, और शक्ति है, वहां आनंद है।

22. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (1)

यह वसुंधरा रत्नों की खान है। यहां पद-पद पर निधान हैं। प्रत्येक योजन पर रसकूपिका है, किंतु जो भाग्यहीन हैं, उन्हें वे दिखाई नहीं देते।

पदे पदे निधानानि, योजने रसकूपिका।
भाग्यहीना न पश्यन्ति, बहुरत्ना वसुंधरा॥

पग-पग पर निधान गढ़े हुए हैं। लोग खजाना पाने के लिए भूमि को खोदते हैं। कौन-सा-स्थान है, जहां निधान नहीं हैं? प्रत्येक योजन पर, चार कोस पर एक रसकूपिका है। रसकूपिका वह होती है, जिससे लोहे का स्पर्श कराया और लोहा सोना बन गया, किंतु वह कभी दिखाई क्यों नहीं देती? इसलिए दिखाई नहीं देती कि देखने की दृष्टि तुम्हें कहां मिली है? वह भाग्य कहां मिला है, जो दिखाई दे।

सूरज आकाश में है। किसी जन्मांध व्यक्ति को कहा जाए कि देखो, सूरज आ गया है? वह कैसे देखेगा? देख नहीं पाएगा। जैसे जन्मांध व्यक्ति आकाश में चमकते हुए सूरज को नहीं देख पाता, वैसे ही सबकुछ है, पर देखना बड़ा मुश्किल है।

जरूरी है भाव विशुद्धि

आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, भगवान कुछ भी कहें, हमारे भीतर है। इसमें कोई संदेह नहीं है, पर हम देख नहीं पा रहे हैं। हम देख भी सकते हैं। जब-जब जिस क्षण में हमारा मन एकाग्र होता है, धर्मध्यान में होता है और जब-जब भाव की विशुद्धि होती है, लेश्या पवित्र होती है, तब-तब हम भगवान का दर्शन, आत्मा का दर्शन और परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं। हम आज भी आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं, यदि वह पवित्रता हो।

धार्मिक व्यक्ति को सबसे ज्यादा जिस बात पर ध्यान देना है, वह है 'लेश्या विशुद्धि* या 'भाव विशुद्धि'। अगर लेश्या का सिद्धांत समझ में आ जाए तो अनेक समस्याएं स्वतः समाहित हो सकती हैं। जो व्यक्ति भाव

विशुद्धि रखता है, यदि उसके जीवन में दस बड़ी बीमारी भोगने का योग है तो नौ तो ऐसे ही कहीं चली जाएंगी, हो सकता है दसों ही चली जाएं। कोई काम कठिन लग रहा है, सफलता नहीं मिल रही है। लगता है वह सफलता बीस वर्ष बाद मिलेगी। यदि भाव पवित्र है तो हो सकता है कि एक वर्ष में ही सारा काम हो जाए। सबसे बड़ी बात है भावना को विशुद्ध रखना। कुछ दिन पहले एक भाई आया, बोला–क्या करूं? बहुत बुरे विचार आते हैं, बुरी भावनाएं आती हैं। कभी आत्महत्या का, कभी दूसरे को मारने का, कभी चोरी करने का, पता नहीं क्या-क्या विचार आते हैं। यह मनोविज्ञान का एक विषय बन गया। नकारात्मक दृष्टिकोण बनता रहता है और बिना मतलब बुरे विचार आ जाते हैं, इसलिए लेश्या के सिद्धांत को समझना बहुत जरूरी है।

कब नहीं रहा आतंक

प्राचीनकाल में एक नगर का नाम था–अक्षपुर। वहां का राजा था–अरिदमन। उसके पुत्र का नाम था प्रियंकर। एक दिन राजा अरिदमन दूसरे राज्य पर आक्रमण करने गया। उस युग में समर्थ राजा की यह वृत्ति रहती थी कि वह कमजोर राजा के राज्य को हड़प लेता, आक्रमण कर देता, प्रजा को लूट लेता। आजकल आदमी कहते हैं कि जमाना बहुत बुरा है। बहुत आतंक हो गया। प्रश्न है कब नहीं रहा? कोई भी जमाना ऐसा नहीं रहा, जिस समय भय, आतंक, लूट, छीना-झपटी न रही हो। रूप बदलता रहता है। आज थोड़ा और रूप बदल गया। प्राचीन काल में कितनी लूट-खसोट चलती थी। आचार्य भिक्षु जब मारवाड़ में थे तब धाड़ आई थी। धाड़ का मतलब यह है जो बड़े-बड़े ठाकुर होते, वे सदल-बल जाते और गांव को लूट लेते। सेना आती और गांव को लूट लेती। यह बहुत चलता था। आदमी का स्वभाव बदला नहीं है, जैसा दो सौ वर्ष पहले था, वैसा आज है। जैसा दो सौ वर्ष पहले था, वैसा दो हजार वर्ष पहले भी था। आदमी सदा बुराइयां करता रहा है, क्रूरता करता रहा है। यदि हम प्रश्नव्याकरण सूत्र को पढ़ें तो पता चलता है कि आदमी कितनी क्रूरताएं करता था। क्रूर वृत्ति का सजीव चित्र खींचा गया है। वृत्तियां पहले भी थीं, आज भी हैं।

उसने महारानी से पूछा–'यह सजावट पहले कैसे कर दी, किसने सूचना दी? मैंने तो कोई सूचना नहीं दी थी। सेना के पहुंचने में अभी तीन दिन की देरी है। पहले ही यह सज्जा कैसे कर दी? किसने बताया?'

महारानी बोली–'महाराज! यहां एक साधु आए हुए हैं, उनका नाम है

कीर्तिधर। बड़े ज्ञानी मुनि हैं। मैं उनके पास गई थी। उनकी उपासना में बैठी थी। मैंने पूछ लिया–'महाराज! मेरा पति युद्ध में गया हुआ है। क्या विजयी होगा? वह कब आएगा?' मुनि ने कहा–'उसने युद्ध जीत लिया है। वह आज आएगा और अकेला आएगा।'

राजा ने विस्मय भरे स्वर में कहा–'साधु इतना बड़ा ज्ञानी है, जो पहले की बात बता देता है। तुम उस साधु को बुलाओ।'

अधिकारी मुनि कीर्तिधर के पास गए, विनम्रता के साथ बोले–'महाराज बुला रहे हैं।'

साधु बोला–'कौन महाराज होता है? महाराज तो हम हैं।'

'मुनिश्री! इस नगर का, देश का मालिक जो राजा है, वह आपको बुला रहा है।'

मुनि स्पष्ट शब्दों में बोले–'मालिक अपना-अपना होता है। मैं तो अपनी आत्मा का मालिक हूं और किसी का मालिक नहीं। कह दो–मैं नहीं आऊंगा।'

साधु फक्कड़ होते हैं। उनको किसका डर। सिकन्दर ने एक साधु से कहा था–'मेरे साथ चलो।'

साधु बोला–'नहीं चलूंगा।' सिकन्दर ने दो-तीन बार कहा, पर साधु का यही उत्तर रहा–नहीं चलूंगा। सिकन्दर अहंकार में आ गया, बोला–'देखते हो, सामने कौन खड़ा है?'

'आदमी खड़ा है।'

'मेरा नाम है सम्राट सिकन्दर। यह देखो तलवार! या तो चलो, नहीं तो सिर काट दूंगा।'

साधु निर्भयता से बोला–'किसका सिर काट देगा। तुम मुझे मार नहीं सकते।'

ऐसी ओजस्विनी वाणी थी कि सिकन्दर कांप गया। सबको कंपाने वाला सिकन्दर एकदम आंदोलित हो गया। वह झुका, पैरों में गिरा, बोला–'महाराज! ठीक है,' फिर खड़ा हुआ और बोला–'अब आप कहिए–मैं आपकी क्या सेवा करूं?'

मुनि बोले–'यह धूप आ रही है। तू आगे से हट जा। बस यही सेवा है।'

जिसके कोई स्पृहा नहीं, जिसके मन में कोई आकांक्षा नहीं, जिसके मन

में कोई चाह नहीं, उसके सामने कोई राजा हो या सम्राट, चक्रवर्ती हो या देवता कोई अंतर नहीं आता। चाहे स्वयं इन्द्र भी आ जाए तो उनके मन में कंपन नहीं होता। ये सब कंपन उनके लिए होते हैं, जिनके मन में कोई चाह होती है। जो चाह से परे चला गया, उसके लिए न कोई छोटा होता है और न कोई बड़ा होता है।

मुनि कीर्तिधर पहुंचे हुए संत थे। वे बोले–'राजा से कह दो कि मुनि कीर्तिधर नहीं आ सकते।'

राजा स्वयं गया, नमस्कार किया और बोला–'महाराज! आप पहले की बात जान लेते हो, दूर की बात जान लेते हो और मन की बात जान लेते हो। मैंने यह महारानी से सुना है।'

'हां, राजन्! यह कोई खास बात नहीं है।'

'महाराज! आप बताएं कि मैं अभी क्या सोच रहा हूं, अभी मेरे मन में क्या है?'

बड़ा जटिल होता है प्रश्न। जैसे भगवान महावीर के सामने एक व्यक्ति आया, हाथ में एक तिनका ले लिया और पूछा–मैंने सुना है कि तुम बड़े ज्ञानी हो। तुम बताओ कि मैं तिनका तोडूंगा या नहीं? अब क्या बताए। अगर कह दे तोड़ेगा तो नहीं तोड़ेगा। अगर कह दे कि नहीं तोड़ेगा तो लो यह तोड़ा। राजा ने पूछा–'महाराज! आप बताए कि अभी मन में क्या-क्या सोच रहा हूं?'

साधु ने कहा–'राजन्! रहने दो, क्या करोगे?'

'नहीं, मुझे जानना है।'

मुनि कीर्तिधर बोले–'राजन्! तुम अपनी मृत्यु के बारे में सोच रहे हो। मेरी मृत्यु कब होगी? यह तुम्हारा प्रश्न है।'

राजा ने दोनों कान पकड़ लिए, सोचा कि है तो यह चमत्कारी बाबा!

राजा बोला–'महाराज! यही बात मैं सोच रहा था। अब आप यह भी बता दो कि मैं कब मरूंगा?'

यह जिज्ञासा बहुत लोगों में रहती है। जो कुंडली दिखाते हैं, उनमें कुछ जिज्ञासाएं होती हैं। एक जिज्ञासा यह होती है कि मैं मंत्री कब बनूंगा। जब चुनाव के दिन आते हैं, हस्तरेखाविदों और ज्योतिषियों के पास चक्कर लगने शुरू हो जाते हैं। पूछते हैं–मैं जीतूंगा या नहीं? मंत्री बनूंगा या नहीं? बहुत भीड़

लगती है। उस समय कई तांत्रिक, मांत्रिक सामने आ जाते हैं, चाहे कुछ भी न जानते हो, कोरा ढकोसला हो, पाखंड हो। मन में एक आकांक्षा रहती है कि मैं कब मंत्री बनूंगा? दूसरी आकांक्षा यह होती है कि मृत्यु कब होगी? यह जानने की इच्छा रहती है।

राजा ने प्रश्न कर दिया–'महाराज! बताएं कि मृत्यु कब होगी?' ऐसी जिज्ञासा का उत्तर देना बड़ा जटिल होता है और कठिन भी होता है, क्योंकि अप्रिय बात कहे तो सामने वाले व्यक्ति को बड़ी चोट लगती है। जब कोई ऐसा प्रसंग आ जाता है तब सामान्य मुनि तो बता नहीं सकता। सामान्य मुनि के लिए ये सब बताना निषिद्ध है, किंतु जो विशिष्ट ज्ञानी होते हैं, अष्टांग निमित्त को जानने वाले होते हैं, वे कभी-कभी कोई घटना, विशेष प्रसंग पर बता देते हैं। मुनि कीर्तिधर ने बता दिया–'राजन्! तुम एक सप्ताह के बाद मरोगे।'

'मुनिवर! मेरी मौत का कारण क्या बनेगा?'

मुनि कीर्तिधर ने कहा–'राजन्! बादल मंडराएंगे, घटाएं उमड़ेंगी, वर्षा होगी, बिजली कौंधेगी। बिजली तुम्हारे सिर पर गिरेगी और तुम मर जाओगे। 'विद्युत्पातेन'–बिजली गिरने से तुम्हारी मौत होगी।' मुनि कीर्तिधर ने घोषणा कर दी, पर बात समाप्त नहीं हुई।

राजा ने सोचा ऐसा बताने वाला कौन मिलेगा? उसने अगला प्रश्न पूछ लिया–'महाराज! मरने के बाद मैं क्या बनूंगा? कहां जाऊंगा?'

जटिल प्रश्न और जटिल उत्तर

मुनि ने सोचा–यह बहुत जटिल प्रश्न है। सही बताऊं तो सबको बड़ा अप्रिय लगेगा। झूठ बोलने का कोई मतलब नहीं है। मौन रहूं तो यह समझेगा कि बस इतना ही जानता था, इसलिए मौन हो गए। कहीं-कहीं मौन भी खतरनाक होता है। समाधायक कहीं मौन हो जाए तो व्यक्ति कह देता है–जानते नहीं हो, इसलिए मौन हो गए। पहले इतना बोले, अब बताओ तो पता चले।

आचार्य भिक्षु से किसी ने प्रश्न पूछा–'भीखणजी! आप बड़े बुद्धिमान हो। आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी है। आप मेरे प्रश्न का उत्तर दो।'

स्वामीजी बोले–'बोलो, भाई! क्या है तुम्हारा प्रश्न?'

'स्वामीजी! बताओ, घोड़े के पैर कितने होते हैं?'

भिक्षु स्वामी बोले–'एक, दो, तीन.....चार होते हैं।'

'स्वामीजी! हमने तो सुना था कि आप बहुत बुद्धिमान हो। एक छोटा बच्चा भी इस प्रश्न का सीधा उत्तर दे देता है। आप गिनते हो एक, दो, तीन, चार। बड़ी विचित्र बात है।'

भिक्षु स्वामी बोले–'मैं सीधा उत्तर दे देता कि घोड़े के पैर चार होते हैं तो तुम्हारा अगला प्रश्न होता कि बताओ कर्णखजूरे (कांसला) के पैर कितने होते हैं तब मुझे सोचना पड़ता। उस समय तुम कहते कि पहले तो जल्दी बोल गए, अब बताओ तो पता चले।'

वह व्यक्ति बोला–'भीखणजी! मैं सोचकर तो यही आया था।' यह प्रश्न और उत्तर की बात बड़ी जटिल होती है। मौन रहना भी ठीक नहीं है और कुछ कहे तो जटिलता भी है।

राजा ने पूछ लिया–'महाराज! बताएं मरने के बाद मेरी गति क्या होगी?'

मुनि निस्पृह थे। उन्हें कोई चिंता नहीं थी और प्रसंग भी ऐसा था कि बताना जरूरी लगा। मुनि कीर्तिधर ने कहा–'राजन्! यह सामने अकूरड़ी (कचरे का ढेर) है। तुम मरकर इस अकूरड़ी में एक द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रिय वाला) कीट बनोगे।'

विद्युत्पात और मरण

राजा एकदम कांप उठा। कहां तो राजमहल में रहने वाला, पूरे देश पर शासन करने वाला, जिसके पास गजसेना, रथ सेना, अश्व सेना, पैदल सेना चतुरंगिणी सेना। हजारों, लाखों आदमी जिस राजा की कृपा को ताकते रहते हैं, वह राजा मरने के बाद इस अकूरड़ी में कीड़ा बनेगा? कितनी भयंकर बात है? सुनने वाले भी कांप जाते हैं। क्या ऐसा होता है? क्या ऐसा होगा?

मुनि कीर्तिधर ने इतना स्पष्ट बता दिया, फिर भी राजा का मोह कम नहीं हुआ। उसे यह बात बहुत अप्रिय लगी और अविश्वसनीय भी। उसका मोह भयंकर बना रहा, किंतु हुआ वही, जो मुनि कीर्तिधर ने कहा। सप्ताह बीता। आकाश बादलों से घिर गया। वर्षा बरसी। बादल खूब गरज रहे हैं, बिजलियां कौंध रही हैं। एक भयावह बिजली गिरी राजा के सिर पर। विद्युत्पात हुआ और राजा मर गया।

राजा मूर्च्छा में मरा, आसक्ति में मरा। आसक्ति छूटी नहीं, लोभ छूटा नहीं, अहंकार छूटा नहीं। बुरे भावों में राजा मरा और मरकर ठीक वहीं कीड़े के रूप में पैदा हुआ।

उसका पुत्र प्रियंकर निरंतर ध्यान रख रहा था। उसने सोचा कि मुनि की सारी बातें तो मिल गईं। अब यह कीड़ा बनने वाली बात मिलती है या नहीं? जैसे ही राजा मरा। युवराज प्रियंकर उसी अकूरड़ी पर आया, उसने देखा कि कीड़ा पैदा हो गया है। कीट को पैदा होने में देर कितनी लगती है? संमूर्च्छिम जीव तत्काल पैदा हो जाते हैं।

पिता ने पुत्र से पहले ही कह दिया था–'पुत्र! ध्यान देना। मुनिजी की सब बातें सही हो रही हैं। अगर यह भी सही मिल जाए और मरने के बाद मैं कीड़ा हो जाऊं तो तुम उस कीट को तत्काल मार देना। उसे बुरी गति में रखना ठीक नहीं है।'

राजा प्रियंकर ने सोचा–पिता का आदेश है। यह कीड़ा पैदा हो गया है। मैं कीड़े को मार डालूं। वह अकूरड़ी पर गया, कीड़े को मारने लगा। वह कीड़ा छटपटाया, एकदम भागने लगा। राजा प्रियंकर ने बहुत प्रयत्न किया, किंतु सफल नहीं हुआ। वह कीट इधर-उधर भाग जाता। राजा उसे मार नहीं सका।

क्या यही है मेरा पिता?

राजा प्रियंकर वापिस राजमहल में आया। भोजन आदि से निवृत्त हुआ और सीधा मुनि कीर्तिधर के पास पहुंचा। वंदना की। मुनि ध्यानलीन थे। वह श्रद्धाप्रणत हो उपासना में बैठ गया। जहां सत्यापन होता है, वहां श्रद्धा स्वयं उत्पन्न हो जाती है। जो बात को प्रमाणीकृत कर देते हैं, सत्यापित कर देते हैं, वे श्रद्धेय बन जाते हैं।

जीने की आकांक्षा : मौत का भय

महावीर ने यह सिद्धांत बताया था कि जब तक शरीर समर्थ है, काम कर रहा है, तब तक तो जीने का अर्थ है। जब दिखे कि अब शरीर ढीला पड़ गया है, काम नहीं दे रहा है तो फिर मरने की तैयारी कर लो।

महावीर ने मरने की तैयारी का पाठ पढ़ाया था, मरने का डर दूर किया था, कहा था कि मरने से डरो मत–**मा भेत्तव्वं।** मरना कोई बुरी बात नहीं है, किंतु सामान्य आदमी में प्राणों का, घर का, धन का, परिवार का इतना मोह होता है कि वह छोड़ना नहीं चाहता। वह यह समझता है कि मैं छोड़ दूंगा तो पीछे प्रलय हो जाएगा। अरे! कुछ भी नहीं होगा। दुनिया ऐसे ही चलेगी, पर मोह इतना सघन होता है कि मरना नहीं चाहता।

कीर्तिधर मुनि ने कहा–'प्रियंकर! तुम इस नियम को समझो।'

अमेध्ये मध्यकीटस्य, सुरेन्द्रस्य सुरालये।
तुल्यास्ति जीविताकांक्षा, तुल्यं मृत्योर्भयं द्वयोः॥

एक अकूरड़ी में जन्मा हुआ कीड़ा है और एक स्वर्ग में इन्द्र है। इन दोनों में जीने की आकांक्षा समान है और मृत्यु का भय भी समान है। सुरेन्द्र भी मौत से डरता है और एक कीड़ा भी मौत से डरता है।

प्रियंकर के यह बात समझ में आ गई, वह बोला–'महाराज! एक प्रश्न मेरा और है। वह यह है कि मेरा पिता इतना बड़ा आदमी था। वह मरकर कीड़ा बन गया। इसका हेतु क्या है? मैं अब कीड़ा नहीं बनना चाहता। मैं मरने के बाद इस गति में जाना नहीं चाहता। मरने के बाद आदमी कीड़ा क्यों बनता है? नीची गति में क्यों जाता है? यह मैं जानना चाहता हूं।'

अंत मति सो गति

मुनि कीर्तिधर ने कहा–'प्रियंकर! इसका एक ही कारण है और वह यह है–**जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ।**'

अगर यह सूत्र याद रहे तो आदमी बहुत बुराइयों से बच सकता है। प्रज्ञापना सूत्र का यह सुंदर सूक्त है कि आदमी जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या में पैदा होता है। इसी का संवादी वाक्य अथवा अनुवाद है–**अंत मति सो गति**–अंतिम समय में जो मति रहती है, वैसी गति हो जाती है, इसलिए हर आदमी को सोचना है कि अंतिम समय कितना अच्छा रहे। जिस व्यक्ति का अंतिम समय समाधि में बीतता है, जो चौबीसी, आराधना की गीतिकाएं सुनते-सुनते मरता है, उसकी स्थिति दूसरी होती है, वह अच्छी गति में जाता है। जो अंतिम समय में मोह, मूर्च्छा में रहता है, वह निम्न गति में जाता है।

जयपुर की घटना है। एक परिवार के लोगों ने घर पधारने की विशेष प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर मैं उनके घर गया। परिवार के लोग खड़े थे। एक देवता आया। वह देवता किसी के शरीर के माध्यम से बोलता है। मैंने पूछ लिया–तुम्हारी यह गति कैसे? वह देव बोला–'मेरी गति तो ऊंची होती, पर मरते समय मेरा मोह परिवार में रह गया, इसलिए मेरी गति नीची हो गई। मैं ऊपर नहीं जा सका।'

बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि आदमी किस लेश्या में मरता है? किस भावना में मरता है? अगली गति का निर्धारण बहुत कुछ इस पर निर्भर रहता है। यही प्रश्न राजा प्रियंकर ने मुनि कीर्तिधर से पूछा। मुनि ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, उसमें भावधारा और लेश्या की विशुद्धि का महान संदेश गर्भित है।

23. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (2)

बाहर और भीतर–इन दो शब्दों के मर्म को समझना जरूरी है। एक आदमी आया और घर के बाहर खड़ा है। उसकी अलग स्थिति होती है। एक व्यक्ति आया, सीधा घर के भीतर चला गया, वह जरूर कोई विश्वस्त है, प्रिय है, मित्र है, पाहुणा है तभी भीतर जा सकता है। बाहर तो कोई भी खड़ा रह सकता है। भीतर जाना एक अलग अवस्था है और बाहर रहना बिल्कुल भिन्न अवस्था है।

यही दशा है हमारे भीतर और बाहर की। जो बाहर ही बाहर रहता है, उसकी अलग अवस्था बनती है। जो भीतर चला जाता है, उसकी अवस्था दूसरी बन जाती है। बाह्य और आभ्यंतर के इस भेद का अनुभव करना है। बाहर क्या है? भीतर क्या है? जो व्यक्ति केवल इन्द्रियों के आधार पर जीता है, वह बाहर ही बाहर रहता है। इन्द्रियों का काम क्या है? बाहर को देखना। इन्द्रियों की सारी रचना ही इस प्रकार की बनी है। आंख बाहर को देखेगी, भीतर नहीं देखती, अपने आपको भी नहीं देखती। कान का काम है बाहर की बात सुनना। जीभ का काम है बाहर की चीज़ को चखना। त्वचा का काम है बाहर को छूना। घ्राण का काम है बाहर की गंध लेना। सब बाहर ही बाहर है, भीतर कुछ नहीं। यह इन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीना बाहर में जीना है।

कैसा है भीतर का जीवन

भीतर है हमारा भाव। भाव के जगत में जीना, यह है भीतर का जीवन। बाहर का जीवन अच्छा लगता है, किंतु यह अच्छाई की कसौटी नहीं है। जब तक यह पता न लगे कि भीतर का जीवन कैसा है, तब तक केवल बाहरी जीवन के आधार पर व्यक्तित्व का अंकन नहीं किया जा सकता। इसी आधार पर ऐसी कहावतें चलीं–**मुख में राम बगल में छुरी, हाथ में माला पेट में कुदाला।** बाहर हाथ में तो माला है और भीतर कुदालियां चल रही हैं। यह बाहर और अंतर का जो परिवर्तन है, उसे समझना जरूरी है।

महत्त्वपूर्ण है लेश्या का सिद्धांत

लेश्या का जगत हमारा भीतर का जगत है, भावधारा का जगत है। भीतर में भाव का प्रवाह कैसा है? भाव कैसा चल रहा है? इस आधार पर व्यक्तित्व का अंकन होता है, व्यक्तित्व की ऊंचाई और नीचाई का पता चलता है। अच्छे और बुरे व्यक्ति का पता चलता है। बाहरी रंग-रूप से व्यक्तित्व का पता नहीं चलता, इन्द्रियों से व्यक्तित्व का पता नहीं चलता। वह चलता है भाव जगत से, लेश्या से, इसीलिए जैन दर्शन में लेश्या को बड़ा महत्त्व दिया गया। लेश्या को छोड़कर कोई बात समझ में नहीं आ सकती। हर जगह लेश्या को समझना पड़ेगा। जहां कर्म है, वहां लेश्या है। जहां प्रवृत्ति है, वहां लेश्या है। जहां ज्ञान का विकास है, वहां लेश्या है। भीतर का प्रकाश या अंधकार कुछ भी है, वहां लेश्या है।

प्रियंकर ने पूछा–'मेरे पिता की यह गति क्यों हुई? महाराज! औरों की भी ऐसी गति होती होगी? ऐसी गति क्यों होती है?'

मुनि ने कहा–'मरते समय व्यक्ति के कौन-सी लेश्या है? अंतिम समय में कौन व्यक्ति किस लेश्या में जीता है? इस आधार पर गति का पता चलता है।'

'महाराज! यह कैसे पता चले कि कौन-सी लेश्या है।'

मुनि कीर्तिधर ने कहा–'प्रियंकर! भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में इनके लक्षण बतलाए हैं। जब-जब इस प्रकार का भाव और व्यवहार हो, तब-तब यह समझ लो कि अमुक लेश्या काम कर रही है, अभी उस लेश्या का योग चल रहा है।'

जैसे स्वरोदय में पता चलता है कि कौन-सा तत्त्व चल रहा है। वैसे तो तत्त्व दिखाई नहीं देता। पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व, अग्नि तत्त्व, वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व–ये पांच तत्त्व स्वरोदय शास्त्र में माने जाते हैं। ये तत्त्व बदलते रहते हैं। अभी कौन-सा तत्त्व चल रहा है? ऐसे दिखाई नहीं देता, पर उपाय बतला दिया कि आंख बंद कर देखो कि कौन-सा रंग दिखाई दे रहा है। यदि पीला रंग दिखाई दे तो समझ लें कि पृथ्वी तत्त्व चल रहा है। सफेद रंग दिखाई दे तो समझ लें कि जल तत्त्व चल रहा है। अग्नि का रंग दिखाई दे तो समझ लें कि अग्नि तत्त्व चल रहा है।

साधना का प्रयोजन

भगवान महावीर ने कृष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल–ये छह लेश्याएं बतलाईं और इन छह लेश्याओं के लक्षण भी बतलाए। अमुक प्रकार

का चिंतन आ रहा है, भावधारा आ रही है, अमुक प्रकार का व्यवहार हो रहा है तो समझ लो कि अमुक लेश्या काम कर रही है, सक्रिय है।

लेश्या खराब है तो उसको कैसे बदला जाए? अच्छी है तो उसको और कैसे बढ़ाया जाए? यह साधना का प्रयोजन है।

मुनि कीर्तिधर ने कहा–'प्रियंकर! कृष्णलेश्या के छह लक्षण हैं–अत्यधिक रौद्र भाव, क्रोध, मात्सर्य, धर्महीनता, निर्दयता और वैर-अनुबंध। जिनमें इनकी प्रबलता होती है, वह कृष्णलेश्या में जीता है।'

अतिरौद्रः सदा क्रोधी, मत्सरी धर्मवर्जितः।
निर्दयी वैरसंयुक्तः, कृष्णलेश्याधिको नरः॥

रौद्र स्वभाव का परिणाम

कृष्णलेश्या का पहला लक्षण है रौद्र स्वभाव। जो बहुत रौद्र आदमी है, भयंकर आतंककारी है, जिसमें रुद्रता और क्रूरता है, वह कोई बात सोचता नहीं है। थोड़ा-सा भी कुछ होता है, रौद्र रूप धारण कर लेता है। रुद्रता की ऐसी घटनाएं आज भी मिलती हैं। घटना कहने वाला और सुनने वाले दोनों कांप उठते हैं। अमेरिका की घटना है। एक महिला काम कर रही थी। उसकी छोटी बच्ची बार-बार तंग कर रही थी। बच्चे तो तंग करते ही हैं। मां ने एक-दो बार मना किया, पर वह मानी नहीं। मां ने ऐसा रौद्र रूप धारण किया कि वॉशिंग मशीन में ले जाकर बच्ची को डाल दिया और मशीन चला दी। कितनी रुद्रता। बच्ची का प्राणांत हो गया।

यह अतिरौद्र भावधारा का परिणाम है। क्या होगा, परिणाम की चिंता नहीं है। अतिरौद्र व्यक्ति ऐसा भयंकर रूप धारण करता है और अकरणीय काम कर बैठता है। यह कृष्णलेश्या का पहला लक्षण है।

निरंतर क्रोध

कृष्णलेश्या का दूसरा लक्षण है सदा क्रोधी। जिसे बार-बार गुस्सा आता रहता है, थोड़ा-सा मन के विपरीत हो जाए तो क्रोध की भयंकर आग जल उठती है। मिट्टी के चूल्हे तो आजकल प्रायः बंद हो गए, पर यह क्रोध का चूल्हा प्रायः घर-घर में जलता रहता है, कभी बुझता ही नहीं है।

इन दिनों में कुछ लोग आए, बोले–क्रोध बहुत आता है। कल ही एक भाई ने कहा–गुस्सा बहुत आता है। मैंने कहा–भाई! इतने दिन से उपासना में थे। अब तुम जा रहे हो। पहले क्यों नहीं बताया? कोई जादू तो हमारे पास है

नहीं। उपाय अवश्य है साधना का, जिससे गुस्सा कम हो सकता है और होता है। जिस-जिस ने उसका प्रयोग किया, उसका गुस्सा कम हो गया, पर दो मिनट में उत्तर मिल जाए, यह संभव नहीं है। यह कोई बौद्धिक बात नहीं है कि उत्तर दे दिया जाए।

एक छोटा बच्चा आता है, उससे पूछा जाता है कि तुम्हारी गति कौन-सी है? वह कहेगा मनुष्य गति। गति का उत्तर तो एक मिनट में दिया जा सकता है। जाति कौन-सी? पंचेन्द्रिय, किंतु गुस्सा कम हो जाए, यह कोई एक-दो मिनट का उत्तर नहीं है। इसमें तो साधना करनी पड़ती है। सदा क्रोधी निरंतर गुस्से में रहता है, बार-बार गुस्सा करता है, उत्तेजना और आवेश में रहता है, यह कृष्णलेश्या का लक्षण है।

मात्सर्य

कृष्णलेश्या का तीसरा लक्षण है मात्सर्य। व्यक्ति में ईर्ष्या बहुत है। वह दूसरे की विशेषता को सहन नहीं करता, दूसरे के बड़प्पन को स्वीकार नहीं करता, दूसरे की संपत्ति को देख नहीं सकता, जलता रहता है। यह मात्सर्य भाव कृष्णलेश्या का लक्षण है।

अरुचि धर्म की

कृष्णलेश्या का चौथा लक्षण है धर्म में रुचि का अभाव। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें कभी धर्म की बात अच्छी नहीं लगती, धर्म में रुचि नहीं होती। एक घटना है। मैंने एक नया उत्तर सुना लड़कियों से। मुझे आश्चर्य भी हुआ। एक मुनिजी पास में बैठे थे। परिवार वालों ने मुनिजी से कहा –'महाराज! इसने अच्छी पढ़ाई की है, जॉब भी कर रही है। आप इसको प्रेरणा दें कि यह दर्शन करे, व्याख्यान सुने।'

उस लड़की ने स्पष्ट कहा–'मेरी धर्म में आस्था नहीं है, रुचि नहीं है, श्रद्धा नहीं है।' युवकों से तो इस प्रकार का उत्तर सुनने को मिलता है, लड़कियों से, युवतियों से कम मिलता है, किंतु असंभव कुछ भी नहीं है।

जिस व्यक्ति में कृष्णलेश्या का भाव रहता है, उसमें धर्म के प्रति रुचि पैदा नहीं होती, धर्म अच्छा भी नहीं लगता। जो धर्म करता है, उसको भी यही कहता है कि क्यों व्यर्थ समय गंवाते हो? आज भी प्रत्येक गांव में बहुत लोग ऐसे हैं, जो संत-दर्शन और व्याख्यान श्रवण में रस नहीं लेते। वे दुकानों में बैठकर, घर के बाहर तख्तों, चौकों पर बैठकर बात करने में रस लेते हैं। धर्म

को वे व्यर्थ मानते हैं और विकथा में बहुत रस लेते हैं। इतना रस, जिसकी कोई सीमा नहीं। यह लक्षण है कृष्ण लेश्या का।

जिस व्यक्ति में कृष्णलेश्या का परिणाम होता है, उसको धर्म की बात अच्छी नहीं लगती। उसको मारकाट, हिंसा, झगड़ा-लड़ाई, एक-दूसरे का उपहास करना, एक-दूसरे को लड़ाना-भिड़ाना बड़ा अच्छा लगता है। इसी में जीवन का सार लगता है। यह कृष्णलेश्या का लक्षण है।

जब कभी यह कहा जाए कि भाई! अमुक व्यक्ति की धर्म में रुचि नहीं है तो समझ लेना चाहिए कि अभी उसके कृष्णलेश्या का परिणाम चल रहा है। जब तक कृष्णलेश्या का शोधन नहीं होगा, तब तक धर्म की बात अच्छी नहीं लगेगी। उपाय यह किया जाए कि कृष्णलेश्या कैसे मिटे?

निर्दयता

कृष्णलेश्या का पांचवां लक्षण है निर्दयता। जिसमें कृष्णलेश्या प्रबल है, उसमें दया-हया नहीं होती। चाहे कोई जीव मर जाए, आदमी भी मर जाए, उसके मन में कंपन नहीं होता। बहुत सारे चोर-डकैत आते हैं, धन भी लेते हैं और आदमी को भी मार डालते हैं। बिना मतलब ही मार डालते हैं। जितना आतंक और निर्दयता का मनोभाव है, वह कृष्णलेश्या का परिणाम है।

वैर का अनुबंध

कृष्णलेश्या का छठा लक्षण है वैर का अनुबंध। किसी से वैर हो गया, विरोध हो गया, फिर वह गांठ खुलती नहीं है। जहां सामाजिक जीवन है, अनेक लोग साथ रहते हैं, वहां किसी घटना का होना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी घटना हो सकती है, पर वह वैर की ग्रंथि न बने। एक बार वैर हो गया, ग्रंथिपात हो गया, फिर कभी गांठ खुलती नहीं है तो मानना चाहिए कि यह कृष्णलेश्या का परिणाम है।

अस्वाभाविक नहीं है कषाय का उदय

एक मुनि के लिए विधान है कि वह कलह को उपशांत किए बिना आहार न करे। वैर-विरोध, कलह होना अस्वाभाविक नहीं है। एक मुनि छद्मस्थ है, उसमें कषाय है, क्रोध है, अहंकार है, लोभ है, कपट है–ये सब विद्यमान हैं, ये अभी क्षीण नहीं हुए हैं। एक साधु उन्हें शांत करने की साधना कर रहा है, इसलिए कषाय का उदय अस्वाभाविक नहीं है, क्रोध भी आ सकता है, कलह-झगड़ा भी कर सकता है, किंतु भगवान महावीर ने नियम

कर दिया कि कलह हो जाए तो कलह को उपशांत किए बिना आहार करने का त्याग है।

यदि मुनि का किसी से कलह हो गया तो खमतखामणा किए बिना आहार नहीं कर सकता। पहले खमतखामणा करो, कलह को शांत करो, क्रोध को शांत करो और फिर आहार-पानी लो। इसका मतलब है कृष्णलेश्या का जो परिणाम आया है, उसको शांत कर फिर तेजोलेश्या में चले जाओ। जहां तेजोलेश्या में गए, वहां धर्म का वातावरण बन गया। इसलिए कलह शमन साधना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है।

परिणाम वैरानुबंध का

एक व्यवस्था और कर दी कि प्रत्यक्ष में कोई कलह नहीं हुआ, किंतु ऐसे ही कोई मनमुटाव हो गया, वैर की गांठ बंध गई। महावीर ने व्यवस्था की पाक्षिक यानी पंद्रह दिन में खमतखामणा कर लो। यात्रा करते हैं तो बीच में पड़ाव आते हैं, जहां विश्राम कर सकें। कुछ ज्यादा आवेश आ गया, एक पड़ाव पर मन का वैर शांत नहीं हुआ तो दूसरा पड़ाव है चातुर्मासिक पक्खी को खमतखामणा कर लो। यदि आवेश फिर भी शांत नहीं हुआ, चौमासी पक्खी को भी नहीं मिटा तो फिर तीसरा और अंतिम पड़ाव है सांवत्सरिक खमतखामणा–संवत्सरी को खमतखामणा कर लो। यह अंतिम पड़ाव है।

यदि संवत्सरी के दिन भी व्यक्ति उस वैर की गांठ को नहीं खोलता, वैर को शांत नहीं करता तो फिर न साधुपन, न श्रावकपन और न सम्यक् दृष्टि। वह व्यक्ति मिथ्यात्व में चला जाता है। जो लोग धर्म की आराधना करते हैं, वे इस बात को गहराई से समझें–एक वर्ष तक वैर का अनुबंध रह गया, फिर भी कलह को शांत नहीं किया यानी मन के वैर को शांत नहीं किया तो न साधुपन रहेगा, न श्रावकपन टिकेगा, न छठा गुणस्थान रहेगा, न पांचवां गुणस्थान रहेगा, न चौथा गुणस्थान रहेगा। सीधा पहले गुणस्थान में चला जाएगा।

बदल जाती है गति

सिंधु सौवीर के राजा उद्रायण का उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णन मिलता है। वह भगवान महावीर का बड़ा भक्त था। उसके लिए भगवान महावीर सिंधु में पधारे थे। सिंधु सौवीर, जो आज का करांची है पाकिस्तान में, भगवान महावीर उज्जयिनी से सात सौ कोस का विहार कर वहां पधारे। सात सौ कोस यानी 1400 माईल। इतना लंबा विहार किया। उस यात्रा में सैकड़ों साधु स्वर्गवासी हो गए।

सिंधु-सौवीर का राजा उद्रायण श्रावक था, भक्त था, वह साधु बना। उसने साधु बनते समय सोचा कि मैं अपने पुत्र अभीचीकुमार को राज दूंगा। राजेश्वरी नरकेश्वरी–राजा नरक में जाता है। मेरा पुत्र नरक में जाएगा, यह अच्छा नहीं है। मैं मेरे पुत्र को नरक से बचाना चाहता हूं। उसने अपने पुत्र को राज्य नहीं दिया और राज्य दे दिया केशी को, जो उसका भानजा था।

जहां व्यवहार की भूल हो जाती है, वहां भी समस्या जटिल बन जाती है। यह व्यवहार की भूल हो गई। जिस व्यक्ति का अधिकार था, उसको वंचित कर दिया और दूसरे को दे दिया। इस व्यवहार की भूल का परिणाम क्या हुआ? अभीचीकुमार प्रतिशोध की आग में जलने लगा। वह बड़ा समझदार श्रावक था, धर्म को समझता था, पर उसका आवेश तीव्र हो गया। जब पाक्षिक दिन आता, प्रतिक्रमण करता तब चौरासी लाख जीव योनियों से खमतखामणा करता–केवल उद्रायण नाम के व्यक्ति को छोड़कर। नाम से ही इतना द्वेष हो गया कि सबके साथ खमतखामणा है, पर उद्रायण नाम के व्यक्ति से मेरा खमतखामणा नहीं है। यह वैर की गांठ ऐसी बंध जाती है कि गति बदल जाती है।

वैर-संयुक्तः–वैर से इतना युक्त हो जाना उपयुक्त नहीं है। कोई घटना हुई। व्यक्ति सोचे कि दुनिया है, इसमें ऐसा हो सकता है तो बात समाप्त होती है। यदि यह न सोचे और गांठ को घुलाता चला जाए तो कभी अंत नहीं आएगा। जिस व्यक्ति में कृष्णलेश्या का भाव तीव्र होता है, उसमें यह स्थिति बनती है।

कृष्णलेश्या के ये छह लक्षण हैं। इसी प्रकार छहों लेश्याओं के अलग-अलग लक्षण बतलाए गए हैं। इसके अतिरिक्त छहों लेश्याओं को बहुत सरलता से समझाने के लिए दो कथाएं भी प्रचलित हैं।

एक कथा है जंबू वृक्ष की और दूसरी कथा है ग्रामघातक की। पुराने जमाने में आवेशवश गांव को नष्ट कर दिया जाता था। आज भी ऐसा चलता है। समाचार पत्र में पढ़ा कि असम में पूरे गांव को नष्ट कर दिया। गांव को नष्ट कर देते हैं ग्रामघातक। वे संकल्प कर लेते हैं कि इस गांव को बिल्कुल समाप्त कर देना है।

कथा जंबू वृक्ष की

जंबू वृक्ष की कथा तो बहुत प्रसिद्ध है। हमें उस कथा का मर्म समझना है। छह व्यक्ति यात्रा कर रहे थे। यात्रा करते-करते जंगल में आ गए। कुछ भूख

लगी, देखा, सामने जामुन का पेड़ बहुत बढ़िया है और एकदम पके हुए जामुन हैं। इच्छा हुई कि जामुन खाएं।

एक बोला–'जामुन खाना है तो ऊपर चढ़ें।' दूसरा बोला–'नहीं, नहीं ऐसी मूर्खता नहीं करनी है। ऊपर चढ़ें, कोई गिर जाएगा तो क्या होगा? ऊपर चढ़ने की कोई जरूरत नहीं है।'

'फिर कैसे खाएंगे?'

वह बोला–'मेरे पास कुल्हाड़ी है। थोड़े ठहरो। इसको जड़ से काट देता हूं। वृक्ष नीचे गिर जाएगा और यहां बैठे-बैठे मजे से खा लेना। ऊपर चढ़ने की, कुछ तोड़ने की जरूरत ही नहीं है।' इस प्रकार का परिणाम कि जड़ से समाप्त कर देना।

निर्मम कर्म है वंश का उच्छेद

महाराणा प्रताप के पिता महाराणा उदयसिंह की घटना प्रसिद्ध है। उसे मारने का षड्यंत्र रचा गया। पन्नाधाय ने उसकी रक्षा की। वंश के उच्छेद का निर्मम कर्म प्राचीनकाल में राजा लोग करते थे। वे वंश को ही निर्मूल कर देते थे।

यह जड़ से समाप्त कर देना, मूलोच्छेद कर देना, यह कृष्णलेश्या का परिणाम है।

आज भी कुछ लोग हमारे पास आते हैं, कहते हैं कि बड़ा दुःख है, घर में झगड़ा बहुत हो रहा है। व्यापार ठप्प हो गया। दुकान बिल्कुल चलती नहीं है, सबमें मनमुटाव रहता है। एक-दूसरे को देखना पसंद नहीं करते।

हमने पूछा–'भाई क्यों?'

'महाराज! किसी ने कुछ तांत्रिक प्रयोग कर दिया, इसलिए ऐसा हो रहा है।'

जयपुर से एक भाई आया, बड़ा धनी व्यक्ति था, बोला–'मेरा व्यापार में मन ही नहीं लग रहा है।'

मैंने कहा–'व्यापार में मन नहीं लग रहा है तो साधु बन जाओ।'

'आचार्यश्री! साधु तो बन नहीं सकता।'

'ऐसा क्यों हो रहा है?'

'महाराज! मुझ पर किसी ने तांत्रिक प्रयोग कर दिया। यह आशंका रहती

है कि दूसरा व्यक्ति हमारा सर्वथा मूलोच्छेद करना चाहता है। मन खोया-खोया सा रहता है। किसी काम में मन नहीं लगता।'

जड़ से काट दो, **न रहे बांस और न बजे बांसुरी**–यह जो भावधारा होती है, वह कृष्णलेश्या का परिणाम है। मूलोच्छेद करने का विचार संक्लिष्ट भावधारा के बिना उत्पन्न नहीं होता। केवल एक व्यक्ति नहीं, पूरे देश और गांव के विनाश की बात सोचने के लिए कितना दुश्चिंतन होता है। आतंकवाद के प्रशिक्षण के स्कूल चलते हैं। आतंकवादी गतिविधियां कैसे चलाई जाएं, कैसे बम बनाया जाए, कैसे बम का विस्फोट किया जाए? किन-किन स्थानों को चुना जाए? कैसे बड़े-बड़े नेताओं को मारा जाए? इन सबका विधिवत् प्रशिक्षण मिलता है। आश्चर्य होता है कि एक ओर मानवाधिकार की इतनी चिंता कि मानव के अधिकार का कहीं हनन न हो, दूसरी ओर आतंकवादी गतिविधियों के प्रशिक्षण के स्कूल चलते हैं। कितना विरोधाभास है, कितनी विचित्रता है। यह विनाश का प्रशिक्षण कृष्णलेश्या का परिणाम है।

उत्तरोत्तर परिणाम शुद्धि

जामुन के वृक्ष को एक व्यक्ति ने जड़ से काटने का सुझाव दिया। दूसरा व्यक्ति बोला–'अरे भाई! ऐसा क्यों करते हो? वृक्ष को जड़ से उखाड़ कर हम तो चले जाएंगे। यहां और भी लोग आएंगे, पक्षी आएंगे, सबके लिए अहित होगा। यह अच्छा नहीं है। तुम एक काम करो कि एक बड़ी शाखा को काट दो। वृक्ष तो बराबर बना रहेगा। बड़ी शाखा नीचे गिरेगी, अपना काम हो जाएगा और वृक्ष का भी विनाश नहीं होगा।'

यह एक दूसरे प्रकार की भावधारा है। क्रूरता कुछ कम हो गई। जो मूल से उखाड़ने की बात थी, वह नहीं रही।

तीसरा बोला–'भाई! तुम्हारी बात भी अच्छी नहीं लग रही है। बड़ी शाखा तोड़ने का मतलब क्या है? हम तो इतना खा नहीं पाएंगे। एक प्रशाखा को तोड़ लो, उससे भी हमारा काम हो जाएगा।'

पहला चिंतन कृष्णलेश्या का, दूसरा चिंतन नीललेश्या का, तीसरा चिंतन आ गया कापोतलेश्या का। केवल एक डाली तोड़ो, हमारा काम हो जाएगा। उत्तरोत्तर परिणाम की शुद्धि हो रही है।

चौथा भाई बोला–'प्रशाखा को तोड़ने से भी मतलब क्या है। केवल एक टहनी को तोड़ लो। हमारे लिए तो इतना ही पर्याप्त है।'

यह तेजोलेश्या का परिणाम है। एक श्रावक का जीवन, एक धार्मिक का जीवन, यहां से प्रारंभ होता है कि अनावश्यक हिंसा मत करो।

पांचवां बोला–'हम टहनी भी क्यों तोड़ें? जामुन के गुच्छे लटक रहे हैं। गुच्छों को ही तोड़ लो। डाली को तोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। अनावश्यक काम क्यों करें?' यह चिंतन है पद्मलेश्या की भावधारा का परिणाम। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह एक धार्मिक का विवेक है कि कोई भी काम करना पड़ता है, पर अनावश्यक हिंसा मत करो, अनावश्यक किसी को मत सताओ।

छठा बोला–'पूरे गुच्छे को तोड़ने की भी जरूरत नहीं है। नीचे कितने पके हुए जामुन बिखरे पड़े हैं। वे हमारे लिए पर्याप्त हैं। इन्हें चुन कर खा लें, हमारी क्षुधा शांत हो जाएगी।' यह है शुक्ललेश्या की भावधारा का परिणाम।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उभरना चाहिए कि मैं किस लेश्या में जी रहा हूं? राजा प्रियंकर के मन में यही प्रश्न उठा। मुनि कीर्तिधर ने कृष्णलेश्या के लक्षण बतलाते हुए कहा–'प्रियंकर! इन लक्षणों के आधार पर कृष्णलेश्या प्रधान व्यक्तित्व का मूल्यांकन हो सकता है।'

24. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (3)

मुनि कीर्तिधर ने कृष्णलेश्या के लक्षणों का विश्लेषण किया। लेश्या का सिद्धांत समझाया। राजा प्रियंकर बोला–'महाराज! आपका कथन सही प्रतीत होता है। ऐसा होता भी है। एक आदमी बहुत क्रूर होता है। दूसरा कम क्रूर होता है। तीसरा उससे कम होता है। मैंने करुणा में भी तारतम्य देखा है। एक व्यक्ति में करुणा कम है और एक में करुणा अधिक। किसी व्यक्ति में उससे भी ज्यादा करुणा दिखाई देती है। यह तरतमता समाज में देखने को मिलती है। अलग-अलग प्रकार के व्यक्ति होते हैं, पर महाराज ऐसा होता क्यों है? कारण क्या है? मेरे सामने भी ऐसी घटनाएं आई हैं, पर क्यों होता है?

मुनि ने कहा–'राजन्! यही तो बता रहा हूं। जो हमारा व्यवहार होता है, वह लेश्या के आधार पर होता है। यह सूत्र बना लो कि जैसी लेश्या, वैसा व्यवहार। तुम व्यवहार देखकर समझ लो कि किस प्रकार की लेश्या है। मेडिकल साइंस का सूत्र है–जैसा न्यूरोट्रांसमीटर, वैसा व्यवहार। एक प्रकार का प्रोटीन बनता है दिमाग में। जैन दर्शन का सूत्र है–जैसी लेश्या होती है, वैसा व्यवहार होता है। प्राणी का व्यवहार लेश्या से जुड़ा हुआ है।

अपराध में तरतमता

प्रियंकर बोला–महाराज! हम लोग शासक हैं। शासक के सामने अनेक स्थितियां, अनेक घटनाएं आती रहती हैं। एक घटना मैं आपको सुनाऊं। एक बार हमारी सेना ने चोरों के छह सरदारों को गिरफ्तार किया। वे गांव पर डाका डालने के लिए, लूट-खसोट के लिए आए थे। सैनिकों को पता लग गया और उनको गिरफ्तार कर लिया। गिरफ्तार करने के बाद उन्हें न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत किया गया। सब सरदारों ने अपना-अपना अपराध स्वीकार किया, लेकिन उनके अपराधों में तरतमता थी। उन्होंने अपने अपराध का चित्र स्वयं प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा–हम सब साथ में मिलकर गए। हमने सोचा यहां बहुत धनमाल है और अपने को खूब मिलेगा। हमने विचार-विमर्श किया, पर सबका चिंतन अलग रहा।

'योजना क्या बनानी है? सबसे पहले एक काम करो–गांव में जाओ, हमला करो और प्राणी नाम की चीज को भी मत रहने दो। पशु-पक्षी भी खतरनाक होते हैं। चिड़िया भी बड़ी खतरनाक होती है। कभी सूचना दे देती है। कबूतर को भी मत रहने दो। कौओं को भी मत रहने दो। वह बड़ा चालाक होता है। मनुष्य, तिर्यंच, पशु-पक्षी जितने भी प्राणी हैं, पहले सबको मार डालो, फिर हम सारा सामान लूट लेंगे' पहले सरदार ने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा।

दूसरा सरदार बोला–'अरे भई! इतने क्रूर क्यों बनें? इतना क्रूर होना अच्छा नहीं है। थोड़ा चिंतन करें। हमें तो धन लेना है, सामान लेना है, माल लेना है तो फिर बेचारे पशु-पक्षी क्या बिगाड़ते हैं? हम पशुओं को क्यों मारें? इन गाय, भैंस, बैल, गधे गांव में रहने वाले जितने पशु हैं, मोर, कबूतर आदि पक्षी हैं, इनको क्यों मारें? हमें क्या लेना देना है? केवल मनुष्यों को मार दें।'

अपराध की एक श्रेणी यह है कि सबको मार डालें। दूसरी श्रेणी यह है पशु, पक्षियों को मत मारो, केवल मनुष्यों को ही मारो।

तीसरा सरदार बोला–'भाई! स्त्रियों ने क्या बिगाड़ा है? स्त्रियां तो कुछ करती नहीं हैं। बाधक बन सकते हैं पुरुष। पुरुषों को मार दो, स्त्रियों को मत मारो। स्त्रियां क्या बिगाड़ेंगी? वे कुछ कर नहीं पाएंगी। रामायण में आता है कि स्त्री तो कान पकड़ी हुई बकरी है। आप क्यों चिंता करते हैं?'

तीन विचार हो गए–

1. मनुष्य, पशु-पक्षी सबको मारो।

2. पशु-पक्षियों को मत मारो।

3. स्त्रियों को मत मारो।

चौथा सरदार बोला–'तुम कहते हो कि पुरुषों को मारो, पर सब पुरुषों ने हमारा क्या बिगाड़ा है? यह हो सकता है कि जिनके हाथ में शस्त्र हैं, उनको मारो। अन्यथा वे कहीं खतरा पैदा कर देगें। जिनके हाथ में शस्त्र नहीं हैं, निहत्थे हैं, उन निहत्थे लोगों को मारने का मतलब क्या है?

बस में जा रहे हैं, ट्रेन में जा रहे हैं, यात्रा कर रहे हैं और वहां जाकर दनादन गोलियां चलाईं। पचास-सौ लोगों को भून डाला। कैसे निरपराध लोगों को मार दिया जाता है? आज तो यह एक बड़ी समस्या बन गई है पूरे संसार की। आतंकवाद और निरपराध लोगों को मारना बड़ी समस्या है।

पांचवां विचार आया–'भाई! जिनके पास शस्त्र हैं, उनको भी क्यों मारें? उन्होंने हमारा क्या बिगाड़ा? जो शस्त्र का प्रहार करे, उनको मार डालें। जो छेड़छाड़ न करे, उस पर हम वार न करें।'

छठा सरदार बोला–'भाई! मुझे तो तुम्हारे विचारों में समझदारी का अंश भी नहीं लगता। एक तो धन लूटते हो और फिर मारते भी हो। यह क्यों? आखिर तो धन लेना है। बस धन ले लो, पर मारो मत किसी को।'

शोधन होता है विचार का भी

'कहां से चले और कहां पहुंच गए?' 'सबको मार डालो' से चले और 'किसी को मत मारो' तक पहुंच गए। करेला का फल कड़वा होता है। शाक बनाने से पहले उसे धोया जाता है, इसलिए कि कड़वाहट कम हो जाए। करेले को धोते-धोते कड़वाहट कम हो जाती है। करेले का शोधन होता है। पानी का भी शोधन होता है। हम लोगों ने बहुत प्रयोग किया है। यात्राओं में ऐसा-ऐसा पानी आया, जिसको धुंधला-गंदला कह सकते हैं–आधा पानी, आधी मिट्टी। आज पानी की व्यवस्था काफी सुधर गई है। पूज्य कालूगणी की यात्रा हुई। गांवों मे जाते। गांवों में तालाब का पानी आधी मिट्टी, आधा पानी जैसा आता, ऐसा लगता जैसे कोई ठंडाई लाए हैं। पीना मुश्किल होता। फिटकरी लाते, उसमें घोलते तब सारी मिट्टी नीचे जम जाती और साफ पानी नितर कर ऊपर आ जाता। उस पानी को काम में लिया जाता, फिर भी मिट्टी की गंध तो आती ही थी। ऐसा पानी बहुत वर्षों तक शोधन कर काम में लिया। विचार का भी शोधन होता है। उत्तरोत्तर शोधन होता रहता है। विचार कहां से चलता है और कहां तक पहुंच जाता है?

आज की सामाजिक समस्या पर विचार करें। कितने लोग अहेतुक मारे जाते हैं, बिना मतलब मारे जाते हैं। दुकान में बैठा है। कोई आया, गोली चला दी, मर गया। असम, पंजाब, मेघालय, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि प्रांतों में निरपराध व्यक्तियों की हिंसा का कृत्य होता रहा है। आयरलैण्ड, ब्रिटेन आदि अनेक देश आक्रांत है इस समस्या से।

सन् 1996 की घटना है। लाजपतनगर, दिल्ली में बम विस्फोट हुआ। कारें ऐसे उछल गईं जैसे कोई गेंद उछाली हो। राजस्थान, मुम्बई आदि में भी ऐसी घटनाएं हो चुकी हैं। यह सारा कृष्णलेश्या का परिणाम है। जिन व्यक्तियों में कृष्णलेश्या होती है, वे इस भाषा में सोचते हैं कि सबको मार डालो। वहां कोई विकल्प नहीं होता, कोई दूसरा चिंतन नहीं होता। यह अपराधी है या

निरपराधी? इसने कोई गुनाह किया है या नहीं? कोई चिंतन नहीं होता। बस केवल मारना लक्ष्य बन जाता है।

लेश्या की तरतमता : एक अंतहीन समस्या

यह चिंतन का तारतम्य हर क्षेत्र में देखने को मिलता है। परिवार में भी मिलता है। कभी-कभी घर का मुखिया अपने पुत्र पर इतना रुष्ट हो जाता है कि उसे घर से निकाल देता है। लोटा थाली भी नहीं देखता। सास बहू के प्रति और बहू सास के प्रति, पिता पुत्र के प्रति और पुत्र पिता के प्रति, भाई भाई के प्रति, कितना क्या करता है। कल ही एक भाई ने बताया कि पुत्रवधू और उसके पीहर पक्ष के लोगों ने मिलकर मेरे पुत्र पर ऐसा तांत्रिक प्रयोग कर दिया कि हम सदा सुखी रहने वाले छह महीनों से भयंकर दुःख भोग रहे हैं। यह क्या है? क्यों होता है? यह लेश्या का ही खेल है। शायद ये और इस प्रकार के जितने खेल होते हैं, उनमें कुछ तो ऐसे होते हैं, जो एक समय होते हैं, पांच-दस दिन बाद बंद हो जाते हैं, फिर कोई नया दूसरा शुरू हो जाता है, पर यह लेश्या का खेल तो बारह महीनें चलता है, सोते जागते निरंतर चलता रहता है।

यह भीतर का ऐसा खेल है। आदमी को नचाता रहता है। एक प्रकार से मान लें कि आदमी लेश्या की कठपुतली है। भीतर में जैसी लेश्या, वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। व्यवहार-मनोवैज्ञानिकों ने व्यवहार के आधार पर मन की मीमांसा की है, किंतु लेश्या के सिद्धांत के द्वारा मनुष्य के व्यवहार की जितनी व्याख्या की जा सकती है, उतनी शायद अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रियंकर बोला–'महाराज! आप अंतर जगत की जो बात कह रहे हैं, वह बिल्कुल सही है। ऐसा ही होता है। मैं यह जानना चाहता हूं कि नीललेश्या को कैसे जाना जाए? उसे जानने का तरीका क्या है? उसके लक्षण क्या है?' मुनि बोले–

अलसो मंदबुद्धिश्चः स्त्रीलुब्धः परवंचकः।
कातरश्च सदा मानी, नीललेश्याधिको नरः॥

अलसता

नीललेश्या का एक लक्षण है अलसता। जो आदमी बहुत आलसी है, कोई काम नहीं करता, पड़ा रहता है, यह अलसता नीललेश्या का परिणाम है। आदमी की बड़ी विचित्र स्थिति होती है। कल ही एक बहन का पत्र आया। उसने लिखा–'मेरे पति की स्थिति क्या है? पढ़ा-लिखा है, एम.एड. है। अब

यह स्थिति है कि घर से बाहर जाने में ही डर लगता है। इतना आलसी और निष्क्रिय बन गया कि कोई चेष्टा नहीं कर सकता।' उसने ऐसी बात लिख दी, जिसे कहने में भी संकोच होता है–'शौच के लिए भी जैसे बच्चे को ले जाया जाता है, वह क्रिया उसके लिए करनी पड़ती है।' हम कल्पना नहीं कर सकते कि ऐसा क्यों होता है? यह भी लेश्या का ही कारण है। भीतर में ऐसी लेश्या का प्रभाव होता है कि आदमी की सारी प्रवृत्तियां, चेष्टाएं समाप्त हो जाती हैं, वह निष्क्रिय-क्रियाशून्य बन जाता है। बस आठों याम पड़ा रहता है, नींद लेता रहता है। यह अलसता नीललेश्या जनित एक व्यवहार है।

जो प्रशस्त लेश्या में होते हैं, वे कभी आलसी नहीं होते। उनकी सक्रियता बनी रहती है। हमारे धर्मसंघ में जो आचार्य हुए हैं, बड़े-बड़े साधु-साध्वियां हुए हैं, वे जीवन भर पुरुषार्थी और सक्रिय रहे हैं। आचार्य भिक्षु का जीवन देखें, अंतिम समय का वर्णन पढ़ें। जयाचार्य ने, हेमराजजी स्वामी और बेणीरामजी स्वामी ने स्वर्गारोहण के वर्ष का विस्तार से वर्णन किया है, जो तथ्य बतलाए हैं, उनमें उनके अदम्य पुरुषार्थ की कथा है। आचार्य भिक्षु तब तक गोचरी भी करते थे, पंचमी भी बाहर जंगल में बहुत दूर जाते थे। खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते थे। प्रसिद्ध घटना है कि स्वामीजी से कहा गया–'महाराज! अब आपकी अवस्था है। आप विराज कर प्रतिक्रमण करो।' स्वामीजी ने कहा–'भाई! मैं खड़े-खड़े करता हूं तो आने वाले बैठे-बैठे करेंगे। अगर मैं बैठा-बैठा करूंगा तो आने वाले लेटे-लेटे करेंगे।'

पूज्य गुरुदेव तुलसी का जीवन देखें। जीवन के अंतिम वर्ष–83वें वर्ष में भी खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते रहे। निरंतर सचेष्टता और सक्रियता। कभी देख लो–पन्ना और लेखनी हाथ में रहती। अध्यापन, अध्ययन या बातचीत–हर क्षण काम चलता रहता। यह निरंतर सक्रियता सीखने की बात है।

आलसी होना बहुत खतरनाक होता है। उसका व्यवहार भी उपहास का कारण बनता है। आलसी लोगों के बारे में अनेक प्राचीन कहानियां प्रचलित हैं, जो बड़ी मर्मवेधी हैं।

आम के पेड़ के नीचे दो आदमी सो रहे थे। उधर से घोड़े पर सवार एक ठाकुर साहब तेज गति से जा रहे थे। ठाकुर साहब को देखते ही सोया हुआ आदमी चिल्लाया–'ठाकुर साहब! जरा इधर आओ।' ठाकुर ने सोचा–बेचारा कोई दुःखी होगा। ठाकुर पास में आ गए, बोले–'भाई! बोलो क्या बात है? कोई कठिनाई है?'

'ठाकुर साहब! कठिनाई तो और कुछ नहीं है।'

'फिर क्या बात है?'

'ठाकुर साहब! यह आम पड़ा है। इसको मेरे मुंह में निचोड़ दो।'

ठाकुर ने कहा–'मूर्ख कहीं का। बिना मतलब मुझको बुलाया। अरे! यह काम तो तेरे पास में जो सोया हुआ है, वह भी कर देता।'

उसी क्षण वह सोया हुआ आदमी बोल उठा–'ठाकुर साहब! मैं क्यों करूं? यह बड़ा आलसी आदमी है। रात की बात सुनाऊं। रात को मेरा मुंह कुत्ता चाटता रहा। मैंने इसको कितनी बार कहा कि कुत्ते को हटा दो, पर इसने नहीं हटाया। मैं इसके मुंह में आम क्यों निचोड़ूं?'

यह व्यवहार क्यों बनता है? कैसे बनता है? भीतर में अगर व्यवहार का कोई घटक तत्त्व नहीं है तो इस प्रकार का व्यवहार कभी बनता नहीं। जब नीललेश्या का भाव भीतर में होता है तब आदमी इतना अकर्मण्य, इतना आलसी, प्रमादी और निकम्मा बन जाता है।

मंद बुद्धि

नीललेश्या का दूसरा लक्षण है मंद बुद्धि। जो नीललेश्या से प्रभावित होता है, उसमें बुद्धि की जड़ता होती है। वह कुछ भी नहीं समझ पाता। उसे कुछ भी पता नहीं चलता। पढ़ने की बात तो दूर है, समझने की शक्ति भी नहीं होती।

काम भोग की सतत स्मृति

नीललेश्या का तीसरा लक्षण है कामभोग की तीव्र अभिलाषा। व्यक्ति वासना से ज्यादा पीड़ित रहता है, वासना बहुत सताती है। निरंतर काम भोग की प्रवृत्ति रहती है, और कोई काम नहीं रहता। प्रियता, वासना, अच्छा खाना–बस उसी में दृष्टि और शक्ति लगी रहती है।

पर-वंचना

नीललेश्या का चौथा लक्षण है पर-वंचना। वह दूसरों को ठगने में रस लेता है, हमेशा ठगाई की वृत्ति रहती है। यह माया का काम भी बड़ा विचित्र है। ऐसा जाल बिछाता है कि कहीं भी मौका आता है तो चूकता नहीं है। माया की घटनाएं भी बहुत सामने आती हैं कि किस प्रकार कपट किया और सारा माल ले लिया। आजकल भी ऐसी घटनाएं सुनते हैं। वृद्ध व्यक्ति बीमार है। स्वयं का पूरा होश नहीं है, ध्यान नहीं है, सोचते हैं हस्ताक्षर करा लें। कागज पर हस्ताक्षर

करा लिए और सारी संपत्ति को हड़प लिया, क्योंकि बैंकों से निकालने के लिए हस्ताक्षर चाहिए। हस्ताक्षर मिल गया तो सारी संपत्ति को हड़प सकते हैं। इस प्रकार न जाने कितनी घटनाएं होती हैं। कोई स्त्री छोटी अवस्था में विधवा हो जाती है। सबसे पहले और चिंता नहीं होती। चाहे शव पड़ा है पति का, उसकी भी चिंता नहीं। परिवार को चिंता यह है कि इसका हस्ताक्षर पहले ले लें। बड़ी विचित्र स्थिति होती है। कपट की बहुत जटिल समस्या है। ठीक कहा गया कि दुनिया में सबसे ज्यादा अविश्वास पैदा करने का कोई तत्त्व है तो वह है माया। एक तरह से माया और झूठ दोनों सहचारी हैं।

आचार्य सोमदेवसूरि का श्लोक बहुत मार्मिक है–

मायामविश्वासविलासमंदिरं,
दुराशयो यः कुरुते धनाशया।
सोऽनर्थसार्थं न पतन्तमीक्षते,
यथा बिडालो लगुडं पयः पिबन्॥

माया अविश्वास का स्थान है। जो दुराशय से युक्त व्यक्ति धन की आशा से माया रचते हैं, वे अनर्थ को उसी प्रकार नहीं देखते, जिस प्रकार दूध पीती हुई बिल्ली लाठी की मार को नहीं देखती।

बिल्ली दूध की बड़ी शौकीन होती है। उसे मलाईदार दूध पड़ा मिल गया, पीना शुरू कर दिया। घर का मालिक आ गया, लाठी से पिटाई शुरू कर दी। बिल्ली पिटाई को सहती रहती है, पर दूध को नहीं छोड़ पाती। वह मार खाती जाती है, दूध पीती चली जाती है। दूध के लिए मार की भी उपेक्षा कर देती है। वैसे ही दुराशय–बुरे विचार वाला आदमी दूसरे के धन को हड़पने के लिए, दूसरे के अधिकारों पर अपना कब्जा करने के लिए कपट का जाल रचता है।

ऐसा माया जाल रचते समय व्यक्ति अनर्थ को नहीं देखता। वह अनर्थ को जानते-देखते हुए भी उसे अस्वीकार कर देता है, अनजाना कर देता है। जाल बिछाने वालों की दुनिया में कमी नहीं हैं। जाल बिछाकर कितने पक्षियों को पकड़ा जाता है। तोता, चिड़िया आदि पक्षी जाल में फंस जाते हैं। समुद्र में जाल बिछाते हैं, मछलियां जाल में फंस जाती हैं। यह जाल बिछाने की जो मनोवृत्ति है, यह नीललेश्या का व्यवहार है।

कायरता

नीललेश्या का पांचवां लक्षण है कायरता। एक आदमी बहुत कायर

होता है, निरंतर डरता रहता है। बस थोड़ा-सा कहते हैं, प्रकंपित हो जाता है। राजस्थानी का एक शब्द है–'खड़को।' थोड़ी सी हलचल होती है, धूजने लग जाता है। अनेक मनुष्य छिपकली, चींटें, चूहे आदि से डरते हैं। मैंने ऐसे व्यक्ति को देखा है, जो चूहे को देखते ही इस प्रकार भागता है, जैसे कोई शेर ही आ गया हो। बिल्ली और कुत्ते की तो बात छोड़ दें शेर आए तो पता नहीं क्या हो जाए?

दो भाई जा रहे थे। एक भाई बोला–अगर शेर आ गया तो तुम क्या करोगे? वह बोला–मैं क्या करूंगा? जो करना है, वही करेगा। जहां पराक्रम नहीं, विक्रम नहीं, शौर्य नहीं, वहां ऐसा व्यवहार होता है। यह नील लेश्या का लक्षण है।

अहंकार

नीललेश्या का छठा लक्षण है अहंकार। व्यक्ति में इतना भारी अहंकार है कि वह अपने आपको सबसे बड़ा मानता है। मैं तो बहुत बार सोचता हूं कि इस दुनिया में अहंकार करने का किसी को अधिकार ही नहीं है। आदमी अहंकार क्यों करता है? एक आदमी बहुत बड़ा धनी है। वह धन का अहंकार करता है, पर जब दूसरा बड़ा धनी सामने आता है तब लगता है कि उसके सामने तो वह कुछ भी नहीं है।

कहते हैं कि अमुक-अमुक व्यक्ति हिन्दुतान के बड़े धनी हैं, जिनके पास चार हजार करोड़ की संपदा है, आठ हजार करोड़ की संपदा है, किंतु जापान, कोरिया, ताईवान, अमेरिका आदि में इनसे भी बड़े धनी हैं।

आज ही एक भाई ने बताया–'हमारा जिससे संपर्क है, उसके चार कंपनियां हैं और एक-एक कंपनी इतनी बड़ी है कि एक राज्य का पूरा बजट हो जाए। धन-संपत्ति का पार ही नहीं है। हम किस बात का अहंकार करें?'

क्या ज्ञान का अहंकार करें? दुनिया में एक से एक बड़े ज्ञानी बैठे हैं। यह कोई अहंकार करने का कारण नहीं है।

मान लीजिए–अभी सबकुछ है, पर पता नहीं कि पांच मिनट के बाद क्या होगा? आदमी रहेगा या नहीं?

अहंकार का कोई कारण नहीं है, फिर भी आदमी अहंकार करता है। इसका हेतु है–नीललेश्या काम कर रही है। हमारी तो ऐसी मनोवृत्ति है कि कोई व्यक्ति आए और यह परिचय दे कि यह बहुत बड़ा धनी है तो उससे बात करने की ज्यादा इच्छा भी नहीं रहती, क्योंकि धन के साथ अहंकार जुड़ा रहता है।

जो विनम्र होता है, उसके साथ समय लगाने की भी इच्छा रहती है। मन में एक आकर्षण होता है।

आदमी को पद और सत्ता का अहंकार होता है। जब तक पद पर रहता है, अहंकार से भरा रहता है। जैसे ही पद से उतरता है, अहंकार चूर-चूर हो जाता है।

अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने कहा था कि एक समय था कि लोगों को मैं समय नहीं दे पाता था, बड़ी भीड़ रहती थी समय लेने वालों की, पर मुझे फुरसत नहीं मिलती थी। आज यह स्थिति बन गई है कि मैं खाली हूं, मेरे पास समय ही समय है, पर आने के लिए किसी के पास फुर्सत नहीं है।

अमेरिका का राष्ट्रपति दुनिया का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति माना जाता है। गद्दी से उतरने के बाद सामान्य स्थिति में आ जाता है। हम किस बात का अहंकार करें। जिस व्यक्ति में अहंकार का भाव प्रबल है तो समझ लेना चाहिए कि वह नीललेश्या में जी रहा है। मुझे इससे बचना है।

मुनि कीर्तिधर ने कहा–'प्रियंकर! नीललेश्या की परिणाम-धारा कृष्णलेश्या से कुछ बेहतर है, किंतु यह भावधारा भी प्रशस्त नहीं है। इस लेश्या में जीने वाले व्यक्ति की भावनाएं अप्रशस्त होती हैं। अप्रशस्त भावनाएं कभी उज्ज्वल भविष्य की लिपि का विन्यास नहीं कर सकती।

25. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (4)

जीवन में अपने आपको जानने के अवसर बहुत कम आते हैं। कभी-कभी मौका मिलता है जब व्यक्ति अपने आपको जानने का प्रयत्न करता है। इसीलिए प्रेक्षाध्यान का मूल सूत्र रहा–आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। दूसरों को देखना तो सहज सरल है, प्रकृति सिद्ध है। एक छोटा बच्चा भी दूसरे को देखता है। कोई छोटा बच्चा आता है, सबसे पहले ध्यान जाता है घड़ी पर। कोई चश्मा पड़ा है तो चश्मे पर। थोड़ा और बड़ा हो जाता है तो सीधा ध्यान जाता है बटन पर–मोबाइल चलाओ, टी.वी. चलाओ, पंखा चलाओ। दूसरे पर ध्यान देना जन्मसिद्ध है। अपने आपको देखना, जानना, समझना और परिचित होना बहुत कठिन है।

अपने आपको जानने का सिद्धांत

एक छोटी लड़की ने आज फोटो लिया। मैंने कहा–दूसरे का फोटो लेती हो, कभी अपना भी फोटो लिया या नहीं? पास में मां खड़ी थी, वह बोली 'अपना फोटो तो स्वयं कैसे लेगी? दूसरा ही लेगा।' मैंने कहा–'पहले अपना फोटो लेना भी सीखें, फिर कोई दूसरे का फोटो लें।' अपना चित्र खींचना बहुत कठिन है, किंतु कोई ऐसा अवसर आता है, ऐसा क्षण आता है जब अपने भीतर जाने का, अपने घर में जाने का और अपने आपको पहचानने का अवसर मिलता है। यह लेश्या का सिद्धांत अपने आपको जानने का सिद्धांत है। मेरे भीतर क्या हो रहा है? बाहर से अच्छा लग रहा हूं, पर भीतर क्या चल रहा है? उसे जानना बहुत जरूरी होता है।

प्रियंकर को मुनि कीर्तिधर का सान्निध्य मिल गया। जब उसने साक्षात् देखा कि कैसे पिता का देहावसान हुआ और कैसे शक्तिशाली राजा कीड़ा बना। उसका अंतःकरण आंदोलित हो गया। उसने सोचा–मैं इससे बचूं। कभी मुझे कीड़ा न बनना पड़े, मुझे पशु योनि में न जाना पड़े, मुझे नरक में न जाना पड़े।

प्रियंकर बोला–महाराज! कृष्णलेश्या और नीललेश्या का व्यवहार आपने बताया। मैंने उसे ध्यान से सुना। सुनने के साथ-साथ अपने आपको तौल रहा हूं कि मैं कैसा हूं? मेरे भीतर क्या-क्या होता है? दूसरे को पता चले या न चले, स्वयं को तो पता है कि मेरे भीतर कौनसा भाव आता है? कैसे आता है? कब-कब आता है? क्या स्थिति बनती है? मैं इसे जानता हूं, इसलिए महाराज! अब आप कापोतलेश्या के लक्षण भी बताएं। उसका व्यवहार कैसा होता है? व्यवहार से हम जान सकेंगे कि कब-कब यह मन या आत्मा, यह जीव कापोतलेश्या में परिणत होता है। मुनि कीर्तिधर बोले–

शोकाकुलो सदा रुष्टः, परनिन्दात्मशंसकः।
संग्रामे दारुणो दुःस्थ, कापोतक उदाहृतः॥

कापोतलेश्या के ये छह लक्षण हैं। जो शोकाकुल है, सदा रुष्ट रहता है, दूसरों की निंदा और अपनी प्रशंसा करता रहता है, संग्राम में दारुण है, दुःस्थ है, वह कापोतलेश्या में जीता है।

शोकाकुल

कापोतलेश्या का पहला लक्षण है–शोकाकुल होना। जो आदमी सदा शोकाकुल रहता है, जिसके शोक की स्थिति बनी रहती है, वह कापोतलेश्या में जीता है। यह तो कदाचित् होता है कि घर का कोई प्रिय व्यक्ति चला गया, शोक की स्थिति आ गई। यह किसी समय आने वाली घटना है, किंतु एक ऐसी मनोवृत्ति है कि जब कभी देखो, शोकमग्न रहता है। चिंता और शोक की स्थिति बनी रहती है। शोक कभी छूटता ही नहीं है। प्रिय का वियोग होने पर शोक मनाया जाता है।

आजकल तो कुछ लोग मृतक-शोक का उसी दिन समापन कर देते हैं, कुछ तीन दिन में करते हैं अथवा सात दिन में करते हैं, बारह दिन में प्रायः सभी शोक का समापन कर देते हैं। कोई बहुत ज्यादा रूढ़िवादी हो तो महीनों तक चला देते हैं।

पुराने जमाने में मारवाड़-मेवाड़ में और थली में भी लंबे समय तक शोक चलता रहता था। बारह-बारह महीनों तक शोक चला देते थे। कहीं-कहीं तो ऐसी प्रथा रही कि विधवा होने वाली महिला दो-तीन वर्ष तक एक स्थान पर बैठी रहती। उसके घुटने भी शोक में जाम हो जाते। आज शोक की वे स्थितियां संपन्न हो गईं। इसमें 'नया मोड़' अभियान ने बहुत काम किया है।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने नया मोड़ का अभियान चलाया। तेरापंथ द्विशताब्दी पर नया मोड़ का कार्य शुरू हुआ। उसने सचमुच तेरापंथ समाज को नया मोड़ दिया है, काफी परिवर्तन हुआ है। जो औपचारिक लोकोपचार अथवा शोक की बात थी, वह संपन्न हो गई, किंतु यह कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या से होने वाला शोक नया मोड़ से नहीं मिटता। वह तो व्यक्ति मोड़ ले तभी मिट सकता है। आज उसके लिए भी मोड़ की आवश्यकता है। कहा गया–

शोकस्थानं सहस्राणि भयस्थानं शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशंति न पंडितम्॥

शोक के सैकड़ों-हजारों स्थान हैं। हर बात पर शोक हो सकता है। जब यह कापोत लेश्या का परिणाम आता है, शोक बना रहता है। जो आदमी ज्यादा शोक करे, हर बात पर शोक करे तो समझ लेना चाहिए कि यह व्यक्ति कापोतलेश्या प्रधान है, इसमें कापोत लेश्या ज्यादा रहती है, इसलिए हर बात में शोक करता है। थोड़ा सा कुछ हो गया, शोक में चला गया। बच्चे के थोड़ी-सी चोट लग गई, शोक हो गया। कहीं बच्चा चला गया तो शोक हो जाता है। सोचता है–बाहर गया है, पता नहीं क्या होगा? वह बाहर अच्छी तरह से घूम रहा है और व्यक्ति भीतर बैठा-बैठा शोक कर रहा है। यह शोक की जो मनोवृत्ति है, वह कापोतलेश्या का परिणाम है।

निरंतर आक्रोश

कापोतलेश्या का दूसरा लक्षण है सदा रुष्ट रहना। जो सदा रोष में रहता है, राजी कभी होता ही नहीं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो कभी तुष्ट नहीं होते। एक होता है सदा रुष्ट। एक होता है सदा तुष्ट। एक होता है कभी रुष्ट और कभी तुष्ट, आशु-तोष आशु-रोष। पौराणिक परंपरा में शिव के लिए कहा जाता है आशु-रोष आशु-तोष। शिव राजी भी बहुत जल्दी होते हैं, नाराज भी बहुत जल्दी होते हैं। वरदान भी बहुत जल्दी देते हैं और अभिशाप भी। दुनिया में कुछ लोग ऐसे मिलेंगे, जिनको हंसता हुआ देखना मुश्किल है। वे मुस्कुराना तो जानते ही नहीं हैं। प्रसन्नता किसको कहते हैं, उनको पता ही नहीं है। थोड़ी सी मन के प्रतिकूल बात हुई और तत्काल पारा चढ़ जाता है, उतरता ही नहीं। चेहरे पर जैसे रोष की रेखाएं बनी रहती हैं। हमेशा मस्तक पर सलवटें खींची हुई रहेंगी, आंख में लाल डोरे बने रहेंगे। उन्हें न बतलाओ तब तक ही ठीक है। बिना बतलाए भी क्रोध उफनता है। यदि बतलाओ तो न जाने क्या होगा? यह

सदा रुष्ट रहना कापोतलेश्या का परिणाम है। ऐसा व्यवहार हो तो समझ लेना चाहिए कि यह व्यक्ति कापोतलेश्या प्रधान है।

स्व-प्रशंसा

कापोतलेश्या का तीसरा लक्षण है अपनी प्रशंसा करना। व्यक्ति अपनी श्लाघा बहुत करता है, अपने गुण का बखान बहुत करता है, अपने बड़प्पन का बखान बहुत करता है। मैंने ऐसा कर लिया, मैंने वैसा कर लिया। अपनी प्रशंसा, अपने बड़प्पन की बात करता रहता है। ऐसी प्रकृति के बहुत लोग हैं। आजकल सर्वे करने की पद्धति है। अगर सौ आदमियों के व्यवहारों का सर्वे किया जाए तो उनमें अनेक लेश्याओं के लक्षण मिल जाएंगे। अपनी श्लाघा करने वाले भी बहुत मिलेंगे। वे इस प्रकार अपनी बात शुरू करते हैं कि उसका संपन्न होना मुश्किल हो जाता है। बात का अथ तो होता है, इति नहीं होती। सुनते ही चले जाओ, वे बोलते हुए अघाते नहीं हैं।

पर-निंदा

कापोतलेश्या का चौथा लक्षण है पर-निंदा। दूसरे की निंदा करने की आदत होती है। उसने ऐसा किया, उसने वैसा किया, उसमें वह कमी है, उसमें वह कमी है–दूसरे की निंदा ही निंदा। हम सब जानते हैं कि इस शरीर में रहने वाला कोई भी व्यक्ति और इस लेश्या-चक्र में जीने वाला कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण नहीं होता। किसी में कभी कृष्णलेश्या की प्रवृत्ति जागती है, कभी नीललेश्या की प्रवृत्ति जागती है और कभी कापोतलेश्या का चक्र चलता है। जैसे हमारे श्वास का एक चक्र होता है और उसके आधार पर हमारे स्वर का भी चक्र चलता है।

कभी बायां स्वर चलता है, कभी दायां चलता है। एक डेढ़ घंटा के बाद यह चक्र बदलता रहता है। जैसे स्वर का चक्र चलता है, नाड़ी का चक्र चलता है–ये सारे चक्र चलते हैं, वैसे ही लेश्या का भी चक्र चलता है। कभी कृष्णलेश्या, कभी नीललेश्या, कभी कापोतलेश्या और कभी-कभी तेजोलेश्या भी आती है। जब आदमी चिंतन की गहराई में जाता है और सोचता है कि यह मैंने क्या किया? उस समय तेजोलेश्या भी आ जाती है।

जब-जब व्यक्ति कापोतलेश्या में जाता है तब दूसरे की निंदा, दूसरे की कमियों को देखना, दूसरे की कमियों का बखान करना शुरू कर देता है। व्यक्ति पर-निंदा में रस लेता है तो समझ लेना चाहिए कि यह अभी कापोतलेश्या में जी रहा है, इसलिए ऐसा कर रहा है। जब कापोतलेश्या का परिणाम आता है

तो अपने आप वैसा करने लग जाता है। इसमें उसका दोष क्यों मानें? हम दोष इसलिए मानते हैं कि वह अमुक लेश्या में कैसे गया? वह स्वयं ही तो गया है। इसीलिए कहा गया–'सदा तोलते रहे मुझको, कभी अपने आपको भी तोलो'। दूसरों को तोलने का सदा प्रयत्न करते रहे, कभी अपने आपको भी तोलो। एक तराजू ऐसा भी लाओ, जो खुद को तोल सके। हम खुद को कभी नहीं तोलते। कमी दूसरों की देखते हैं। अरे! कमी किसमें नहीं है। तराजू सबको तोलता है, पर जब कमी की ओर ध्यान दें तो तराजू भी अच्छा नहीं है–

प्रामाणिक पद गहि तुला, यह तुम करत अन्याय।
लघु पद देत गरिष्ठ को, गुरु उन्नत पद पाय॥

जब तराजू में तौलते हैं तब तराजू के एक पल्ले में भारी चीज रखते हैं, दूसरे पल्ले में हल्की चीज। इस स्थिति में क्या होता है? जो गरिष्ठ है, गुरु है, उसको तो नीचा स्थान देती है। **लघु उन्नत पद पाय**–जो हल्का और छोटा होता है, उसको ऊपर उठा देती है। जो हल्का है, लघु है, छोटा है, उसे ऊपर उठा दिया और जो भारी है, गुरु है, उसको नीचे बिठा दिया। कवि कहता है–तराजू! यह तुम्हारा कितना अन्याय है।

तराजू में भी अन्याय दिखाई देता है। कमी तराजू में भी है। जिस तुला से हम दूसरों को तोलते हैं, सोचते हैं कि तुला लाओ, तोल लें, कहीं गड़बड़ न हो। उस तुला में स्वयं में गड़बड़ है। कमी किसमें नहीं रहती, किंतु निंदा करना अपना लाघव है, हल्कापन है, तुच्छता है। यह सारा कापोतलेश्या का परिणमन है, व्यवहार है।

दारुणता

कापोतलेश्या का पांचवां लक्षण है दारुणता। कुछ व्यक्ति लड़ाई-झगड़े में, युद्ध में दारुण होते हैं। वैसे तो लड़ाई में व्यक्ति दारुण होता ही है, पर उसमें भी फर्क रहता है। एक आदमी लड़ाई में भी अतिक्रूर नहीं होता, दूसरा बहुत क्रूर होता है। हम ढाई हजार वर्ष या पांच हजार वर्ष का इतिहास देखें। युद्ध के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं।

ऋषभ के समय की बात छोड़ दें, जब भरत और बाहुबलि का युद्ध हुआ। महाभारत के युद्ध से लें, जो पांच हजार वर्ष पूर्व का काल है, उस समय भी मर्यादाएं थीं। यह दारुण अवस्था नहीं थी। मर्यादा थी कि सैनिक लड़ेंगे, दूसरा कोई भी नहीं। सैनिक निरपराध को नहीं मारेगा। आज ऐसा नहीं है। लड़ाई तो हो रही है युद्ध भूमि में। सोचते हैं कि मिसाइलें कहां फिट करें? अमुक स्थान

से अमुक प्रमुख नगर 600 किलोमीटर है, मिसाइल वहां फिट करें, जहां से सीधी मिसाइल उस नगर पर दागी जा सके, प्रक्षेपास्त्र वहां जा सके। लघु दूरी का प्रक्षेपास्त्र, मध्यम दूरी का प्रक्षेपास्त्र और बहुत दूरी ढाई हजार, तीन हजार किमी. तक मारक क्षमता से लेस प्रक्षेपास्त्र छोड़ें, मिसाइल छोड़ें और वे ढाई तीन हजार किमी. जाकर व्यक्ति को मार डालेंगी, नष्ट कर देंगी। प्राचीन काल में युद्ध में यह सम्मत नहीं था। वहां मर्यादा थी, जो युद्ध भूमि में लड़ रहा है, प्रहार कर रहा है उसी को मारो। जो निहत्था खड़ा है, जिसके पास कोई शस्त्र नहीं है उसको मत मारो। दूसरी मर्यादा थी–दिन में लड़ो, शाम होते ही मिलो आपस में। महाभारत में ऐसा होता था कि दिन में लड़ते थे और रात्रि में आपस में साथ बैठकर भोजन करते थे, गोष्ठियां करते थे, बातचीत करते थे। ये सारी युद्ध की मर्यादाएं थीं यानी दारुणता नहीं थी।

भगवान महावीर ने इसमें और शोधन कर दिया। महावीर का शिष्य था वरुण नागनत्तुआ, जिसका भगवती सूत्र में बहुत विशद वर्णन है। वैशाली गणराज्य का प्रमुख महाराज चेटक, जो भगवान महावीर का मामा था। दूसरी ओर कोणिक, सम्राट श्रेणिक और चेलना का पुत्र और स्वयं महाराज चेटक का दौहित्र–दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। गणराज्य प्रमुख चेटक की तरफ से एक व्यक्ति लड़ रहा था, नाम था वरुण नागनत्तुआ। वह बारहव्रती श्रावक था। बहुत धार्मिक और श्रद्धालु, किंतु युद्ध तो अनिवार्यता है। जब आ जाता है तो सुरक्षा करनी पड़ती है।

चेटक भी श्रावक था, उसका संकल्प था कि जब तक कोई मुझ पर प्रहार नहीं करेगा, उस पर मैं प्रहार नहीं करूंगा। उसके द्वारा प्रक्षिप्त बाण इतना अमोघ होता था कि शस्त्र प्रयोग से सामने वाला बचता नहीं था। वरुण नागनत्तुआ का संकल्प भी यही था कि जब तक कोई मुझ पर प्रहार नहीं करेगा, मैं किसी पर प्रहार नहीं करूंगा। दूसरा संकल्प यह था कि दिन में एक से ज्यादा बाण नहीं चलाऊंगा। क्या युद्ध में भी एक बार, दो बार का नियम होता है, किंतु एक मर्यादा बना ली, शोधन कर लिया, इसलिए कि युद्ध में भी दारुणता न रहे, युद्ध भयानक न रहे, केवल संहारक न रहे।

युद्ध भी एक सिद्धांत के आधार पर लड़ा जाए, अनिवार्यता पर लड़ा जाए, क्रूरता का भद्दा प्रदर्शन न हो, जैसा कि आजकल होता है। आज पता नहीं कितने नागरिकों को बिन मौत मार दिया जाता है, जलाशयों को नष्ट कर दिया जाता है, रास्तों को रोक दिया जाता है। कितनी क्रूरता! क्रूरता की भी कोई

सीमा नहीं। सैकड़ों बड़े-बड़े लोगों को एक चेंबर में बिठा दिया, कहा–भाई! गोष्ठी होगी। सारे दरवाजे बंद कर दिए। भीतर में गैस छोड़ी, सारे के सारे मृत्यु के मुख में चले गए। यह है क्रूरता, दारुणता। संग्राम में भी दारुण मनःस्थिति होती है, वह कापोतलेश्या का परिणाम है।

दुःस्थता

कापोतलेश्या का छठा लक्षण है दरिद्रता। क्या दरिद्र होना किसी लेश्या का परिणाम है? दुःस्थता का मतलब अभावजनित दरिद्रता नहीं है। एक होती है अभावजनित दरिद्रता यानी पास में कुछ नहीं है, आदमी दरिद्र हो गया। वह इस लेश्या का कारण नहीं है। दुःस्थता वह है कि पास में बहुत है, कोई कमी नहीं है, पर इतना दरिद्र कि न खुद रोटी खाता है, न पत्नी को खाने देता है, न घरवालों को खाने देता है। अतिथि, पाहुणे की तो बात ही क्या? घर में पाहुणा आ जाए तो उसको ऐसे निकाल देना चाहता है कि बस कभी आए ही नहीं।

एक दुःस्थ आदमी था। पाहुणा आ गया। बड़ी मुसीबत हो गई। वह बैठा-बैठा सोच रहा है कि कब जाए? नाश्ते का समय होने वाला था, बोला–'सगा साहब! आपको धूप चढ़ जाएगी। गर्मी का मौसम है। अब पधार जाएं तो अच्छा है, देरी होगी।'

पाहुणा बोला–'कोई खास चिंता की बात नहीं है। मैं तो धूप को सहना जानता हूं, बाद में जाऊंगा। मुझे दूर जाना है तो रोटी खाकर ही जाऊंगा, अभी क्या जाऊंगा?'

उसने सोचा मुसीबत हो गई। आखिर नाश्ता कराना पड़ा। भोजन का समय। पत्नी बोली–'देखो! पाहुणा घर में आया है। क्या उसके लिए हलवा बना लूं? नहीं तो अच्छा नहीं लगेगा।' उसका मन ललचा गया, बोला–'बना लो, पर उसको नहीं खिलाना है।'

वह पाहुणे के पास आया, बोला–'हमारे यहां भोजन बहुत देरी से बनता है, आपको विलंब हो जाएगा। आप चलें तो मैं आपको बाहर तक पहुंचा दूं, रास्ता भी बता दूं।'

उसने सोचा कि यह मुझे निकालना चाहता है। आज इसे सबक सिखाना होगा। उसने मन ही मन योजना बनाई और बोला कि अब मैं जा रहा हूं। आपको कष्ट करने की जरूरत नहीं है। यह कहकर वह बाहर गया और बाहर जाकर ऐसे स्थान पर छिप गया कि पता नहीं चले।

उस दुःस्थ ने सोचा–अच्छा हुआ। पत्नी से पूछा–'क्या तुमने हलवा बनाया है?'

'हां! आपने कहा था और मैंने बना लिया।'

'मैंने तो बला टाली थी। खैर, कोई बात नहीं है। वह बला तो टल गई। अब अपन खाएंगे।'

भोजन का समय हुआ। पत्नी ने दो थालियों में हलवा परोसा–एक थाली स्वयं के लिए और दूसरी पति के लिए। इतने में अचानक ही वह पाहुणा जैसे आकाश से धमक पड़ा, थाली पर बैठा और सारा हलवा खा गया। दुःस्थ ने देखा–कौन आ गया? वह बुझे मन से बोला–'आप कहां से आ गए? आप तो चले गए थे?'

वह बोला–'हलवा तो मेरे लिए बनाया है। मैं उसे खाए बिना कैसे जाता?'

उसने उसकी कृपण मनोवृत्ति की भर्त्सना करते हुए कहा–'तुम ऐसे दुःस्थ आदमी हो, ऐसी बुरी योजना बनाते हो? घर आए पाहुणों को ऐसे निकालते हो? मैं इतना हलवा खाता नहीं, पर आज तो दोनों थालियों का हलवा खाकर ही जाऊंगा।' दोनों देखते रह गए।

परिभाषा दरिद्रता की

यह है दुःस्थता। दूसरे शब्दों में, सरल शब्दों में दुष्टता आ जाती है, पर मूल शब्द है दुःस्थता। अभावजनित दरिद्रता नहीं, किंतु मानसिक वृत्ति की दरिद्रता। आचार्य भिक्षु ने दरिद्र की परिभाषा की–'पास में है, पर जो देना नहीं चाहता, उसका नाम है दरिद्र।' यह दरिद्रता भी कापोतलेश्या का लक्षण है।

कापोतलेश्या के ये छह लक्षण कीर्तिधर मुनि ने राजा प्रियंकर को बतलाए। प्रियंकर बोला–'महाराज! यह तत्त्व तो बहुत अच्छा है। इससे पता चलता है कि आदमी में अलग-अलग प्रकार की वृत्तियां होती हैं। मन में प्रश्न रहता है कि ये वृत्तियां क्यों होती हैं? आज एक समाधान मिल रहा है। जिस व्यक्ति में अमुक प्रकार की वृत्ति है तो समझना चाहिए कि उसके भीतर कोई कालुषी भाव-धारा चल रही है, कोई मलिनता का प्रवाह चल रहा है। लेश्या के विश्लेषण से एक हेतु पकड़ में आ रहा है। अन्यथा समझना बड़ा मुश्किल है कि एक आदमी ऐसा क्यों करता है?'

'मुनिप्रवर! मेरा मन अब तेजोलेश्या के परिणामों को सुनने के लिए उत्कंठित है। आपका प्रवचन-पीयूष ही उसे तृप्ति दे सकता है।'

26. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (5)

एक बड़ा प्रश्न है मेरा भावी जीवन कैसा होगा? मैं इस जन्म के बाद कहां जाऊंगा? कुछ लोग तो वर्तमान जीवन का भी प्रश्न कर लेते हैं। वे ज्योतिषियों के पास बैठे रहते हैं, पूछते हैं–मैं विदेश यात्रा करूंगा या नहीं? मैं अमुक स्थान पर जाऊंगा या नहीं? इस स्थिति में यह जिज्ञासा तो बहुत स्वाभाविक है कि मैं यहां से कहां जाऊंगा? गति कैसी होगी? इस विषय पर जैन दर्शन में जितना बतलाया गया है, उतना शायद किसी अन्य भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

एक प्रसिद्ध ग्रंथ है गतागत का थोकड़ा–गति और आगति का निरूपण। व्यक्ति कहां से आता है और कहां जाता है? यह मनुष्य का जन्म या पशु का जन्म बीच का पड़ाव है, पर कहां से आता है मनुष्य और कहां जाता है मनुष्य?

गति और आगति का ज्ञान करना, विवेक करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। गति कैसे होती है? गति का कारण क्या है? राजा प्रियंकर के इस प्रश्न के उत्तर में मुनि कीर्तिधर ने तीन लेश्याओं का वर्णन कर दिया। वे चौथी तेजोलेश्या का वर्णन कर रहे हैं। इस तेजोलेश्या का नाम पीतलेश्या भी है। पीला रंग–अग्नि का रंग, अग्नि ज्वाला का रंग जैसे पीला-पीला होता है, वैसे ही अग्नि वर्ण का रंग पीतलेश्या या तेजोलेश्या का होता है। जो व्यक्ति इस प्रकार का रंग देखता है, अग्नि का रंग देखता है, उसकी भावधारा कैसी होती है? उसकी विचारधारा कैसी होती है? उसे बताया।

प्रभाव रंग का

स्वरोदय में पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला माना गया है। यदि आप आंख बंद कर देखें तो समय-समय पर अलग-अलग रंग आंख के सामने आ जाते हैं। आंख तो बंद होती है, पर रंग दिखाई देने लग जाते हैं। जो रंग दिखाई देता है, उससे पता चलता है कि भीतर क्या चल रहा है। रंगों के आधार पर निर्णय किया जा सकता है।

मनुष्य जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाला तत्त्व है रंग। इसीलिए वस्त्र को पहनने में भी बड़ा विवेक होता है कि किस रंग का कपड़ा पहनना चाहिए। बहुत गहरे लाल रंग का पहनेगा और फिर गुस्से से बचना चाहेगा तो यह संभव नहीं है, क्योंकि गहरा लाल रंग उत्तेजना पैदा करता है। उसके कुछ लाभ भी हैं। लाल रंग से स्फूर्ति आती है, काम करने में सक्रियता रहती है, किंतु साथ-साथ में उत्तेजना भी आती है। यह एक बड़ा विवेक होता है कि कहां किसका प्रयोग किया जाए।

रंग का भावों पर असर होता है, मनुष्य के मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव होता है। सारा संचालन होता है मस्तिष्क से और मस्तिष्क जिस तत्त्व से प्रभावित होता है, वैसा आचरण और व्यवहार होने लग जाता है। यह लेश्या का विज्ञान जैन दर्शन का एक विशिष्ट विज्ञान है।

प्रशस्त लेश्या है तेजोलेश्या

प्रश्न हो सकता है–हमारी लेश्या किस प्रकार की रहे? तेजोलेश्या प्रशस्त लेश्या है। यहां से अच्छी लेश्या शुरू हो जाती है। पहली तीन लेश्याएं अधर्म लेश्याएं कहलाती हैं और अंतिम तीन धर्म लेश्याएं। पहली तीन अप्रशस्त लेश्याएं हैं और अंतिम तीन प्रशस्त लेश्याएं। जहां तेजोलेश्या होती है, तेजोलेश्या का आभामंडल होता है, उस अवस्था में मनुष्य का व्यक्तित्व कैसा होता है? इसका वर्णन आचार्य ने इन शब्दों में किया है–

विद्वान होना

विद्वांश्च करुणायुक्तः, कार्याकार्यविचारकः।
लाभालाभे सदा प्रीतः, पीतलेश्याधिको नरः।।

तेजोलेश्या का पहला लक्षण है विद्वान होना। जिसमें तेजोलेश्या का आभामंडल है, वह आदमी विद्वान होगा, तत्त्व को जानने वाला होगा।

करुणाशीलता

तेजोलेश्या का दूसरा लक्षण है करुणाशीलता। जिसमें तेजोलेश्या का आभामंडल है, वह संवेदनशील होगा, उसमें करुणा होगी, उसमें क्रूरता नहीं हो सकती। तेजोलेश्या का परिणाम है क्रूरता की समाप्ति। हर आदमी अपने आपको इस कसौटी पर कस सकता है कि मेरी वृत्ति करुणा की है या क्रूरता की। अगर क्रूरता है तो कृष्णलेश्या अथवा नीललेश्या का परिणाम है। यदि मन में करुणा है, किसी को सताना नहीं चाहता, किसी को दुःख देना नहीं चाहता,

किसी के साथ अन्याय करना नहीं चाहता, किसी को धोखा देना नहीं चाहता तो मानना चाहिए तेजोलेश्या की भावधारा है।

धर्म का प्रारंभिक बिंदु

एक प्रश्न आता है कि धर्म का प्रारंभ कहां से होता है? करुणा जागी और धर्म शुरू हो गया। महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि पहला मुख्य बिंदु कौन-सा है, जिस पर मनुष्य प्रहार करे। इसका उत्तर है कि धर्म का प्रारंभ बिंदु है करुणा। जिसके मन में करुणा नहीं जागी, वह धर्म का अनुयायी बन सकता है, धर्म के पीछे चलने वाला बन सकता है, पर धार्मिक नहीं बन सकता। जहां क्रूरता होती है, वहां धर्म की बात नहीं होती। हत्या, मारकाट, चोरी, डकैती–ये सारे अपराध क्रूरता से आते हैं। जहां करुणा जागी, धर्म प्रारंभ हो गया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है क्रूरता पर प्रहार करना। बस, यहीं से तेजोलेश्या का प्रारंभ होता है।

सबसे बड़ा प्रश्न है कि चोट कहां करनी चाहिए। बहुत लोग यह नहीं जानते। इसीलिए सफल नहीं बनते। धर्म करते हैं, पर धर्म का आनंद नहीं आता, आकर्षण पैदा नहीं होता। सबसे पहले यह समझना है कि चोट कहां करनी चाहिए। चोट करने का बिंदु है क्रूरता। मनुष्य क्रूरता को छोड़े। जैसे ही क्रूरता धुली, उसकी सफाई हुई, करुणा जागी और व्यक्ति धार्मिक बन गया।

धार्मिक कैसा हो?

यह बहुत बड़ा प्रश्न है कि वह कैसा धार्मिक है, जिसके मन में करुणा नहीं, अनुकंपा नहीं, दया नहीं, दूसरों को सताने में कोई हिचक नहीं? वे कैसे धार्मिक हैं, जो परिवार में, समाज में, पड़ोस में दूसरे के साथ क्रूरता का व्यवहार कर लेते हैं? आदमी कितनी क्रूरता करता है और कितना दूसरों को सताता है। ऐसा क्रूर आदमी धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म का पहला लक्षण ही प्रगट नहीं है तो धार्मिक कैसे होगा? धर्म का प्रारंभिक लक्षण है विद्वान होना और करुणाशील होना, जो तत्त्व को जान गया और जिसके मन में करुणा जाग गई, जो पसीज जाता है, दूसरे का दुःख देख नहीं सकता, कठिनाई देख नहीं सकता।

आदर्श हैं मघवागणी

करुणा के संदर्भ में एक बड़ा आदर्श हैं मघवागणी। वे तेरापंथ के पांचवें आचार्य थे। वैसे प्रायः सबमें करुणा होती है, पर उनमें कुछ अतिशय करुणा थी। वे किसी साधु-साध्वी को उलाहना देते। उलाहना देना तो व्यवस्थागत

काम होता है। साधु को उलाहना दिया, फिर थोड़े समय बाद उसका हाथ पकड़कर कहते–'भाई! देखो, तुम गलती करते हो, इसलिए मुझे कहना पड़ता है, प्रायश्चित्त देना पड़ता है। तुम अगर न करो तो प्रायश्चित्त क्यों देना पड़े? तुम्हें प्रायश्चित्त देता हूं तो मुझे कष्ट होता है।' प्रायश्चित्त तो उस मुनि को देते और कष्ट होता स्वयं मघवागणी को। यह करुणा का भाव तेजोलेश्या का एक लक्षण है।

कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक

तेजोलेश्या का तीसरा लक्षण है–**कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक।** जिस व्यक्ति में तेजोलेश्या का विकास होता है, वह कार्य और अकार्य की विचारणा करता है, कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक करता है।

जिस व्यक्ति में तेजोलेश्या का विकास होता है, वह भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेक करता है। क्या खाना चाहिए और क्या नहीं खाना चाहिए? बहुत सारी समस्याएं इस अविवेक के कारण पैदा होती हैं। अवस्था आ गई, साठ-सत्तर वर्ष का हो गया। अब भी वह गरिष्ठ, तली हुई चीजें खूब खाए तो फिर जो कुछ होना है, वह होता ही है। एक विवेक होता है कि एक अवस्था के बाद भोजन कैसे बदलना चाहिए।

सामान्यतः मनुष्य की दस अवस्थाएं मानी गई हैं। सौ वर्ष का जीवन और दस-दस वर्ष की दस अवस्थाएं। दस वर्ष की एक अवस्था। सबकी जीवन चर्या अलग प्रकार की होती है। दस वर्ष का है तब तक जीवन कैसे चलना चाहिए। दूसरा दशक होता है, उस समय जीवन कैसा होना चाहिए। इसका पूरा विवेक पुराने आचार्यों ने दिया है। जो स्वास्थ्य विज्ञान को जानने वाले हैं, वे जानते हैं कि एक आदमी स्वस्थ कैसे रह सकता है? एक आदमी विकास कैसे कर सकता है?

नींद और जागरण का विवेक

तेजोलेश्या का चौथा लक्षण है नींद और जागरण का विवेक। कितना सोना चाहिए, कितना जागना चाहिए? यह भी बड़ा विवेक होता है। ऐसा न हो कि दिन में भी सोए तो सोते ही रहे। जो आदमी दिन में तीन घंटा सोएगा, वह आयुष्य का एक हिस्सा कम कर देगा। दिन में ज्यादा सोने वाला अकाल मृत्यु को निमंत्रण देता है। सोते समय श्वास की गति तेज हो जाती है। आयुर्वेद के आचार्यों ने तो दिन में सोने का निषेध किया है।

आचार्यश्री भिक्षु ने यह मर्यादा की कि कोई भी साधु-साध्वी, जो सोलह वर्ष को पार कर चुका है, आहार करके दिन में न सोए। कारणवश सोए तो एक व्यवस्था है। स्वास्थ्य और साधना की दृष्टि से यह बहुत अच्छी मर्यादा है। आयुर्वेद के ग्रंथों में दिन में सोने को बीमारी का मुख्य कारण माना गया है। गर्मी के दिनों में आधा घंटा विश्राम किया जा सकता है, जिसको राजस्थानी भाषा में कहते हैं 'आड-टेढ' कर ली, किंतु ऐसा खूंटी तान कर न सोए कि तीन-चार घंटा का पता ही न चले। यह बीमारी और आयुष्य को कम करने का अच्छा उपाय है।

जागरण के साथ शुरू होता है विवेक

मूर्ख का एक लक्षण बतलाया गया–**कार्याकार्यविचारणांधबधिरो**– मूर्ख वह है, जो कार्य और अकार्य की विचारणा में अंधा व बहरा होता है। तेजोलश्या संपन्न व्यक्ति का लक्षण है कि वह कार्य और अकार्य का विवेक करता है। यह विवेक बहुत कठिन है। बहुत कम लोग सोचते हैं कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए?

आज क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? एक पूरा विज्ञान है, विवेक है। आज गर्मी का मौसम है तो मुझे क्या करना चाहिए। अभी सुबह का समय है तो मुझे क्या करना चाहिए? प्रातः छह से दस बजे तक का समय आत्मचिंतन के लिए उपयुक्त समय है, ज्ञान कंठस्थ करने के लिए उपयुक्त समय है, मन की शांति के लिए बड़ा उपयुक्त समय है। सुबह उठते-उठते ही झगड़ा शुरू कर दे तो वह हानिकारक हो जाता है।

कार्य और अकार्य का विवेक प्रातः जागरण के साथ ही शुरू होता है। व्यक्ति जागने के बाद सबसे पहले अपने इष्ट का स्मरण करता है तो दिन आनंद में बीतता है, व्यवधान पैदा नहीं होता। वह उठते ही चाय पीता है, समाचार-पत्र पढ़ता है। सुबह-सुबह समाचार पत्र पढ़ेगा तो क्या होगा? समाचार पत्र मारकाट, हत्या, दुर्घटना, बलात्कार, चोरी, डकैती आदि घटनाओं से भरा रहता है। इन घटनाओं को पढ़ेगा तो दिमाग पर क्या प्रभाव होगा?

चिंतन मूल कारण को मिटाने का

मैंने हिन्दुस्तान टाईम्स (14 जून 1996) में एक घटना का विवरण पढ़ा–अमेरिका में एक व्यक्ति विक्षिप्त जैसा था, आवेश बहुत आता था, गुस्सा बहुत तेज था, वह अपराधी भी था। उसको पकड़ने के लिए पुलिस गई।

पुलिस ने अपराधी को पकड़ने के लिए खोजी कुत्तों को छोड़ा। ज्योंही कुत्ता उसके पास पहुंचा, वह इतना आवेश में आया कि उसने कुत्ते के मुंह को चबा लिया। पुलिस वाले भी दंग रह गए। पुलिस ने उसको पकड़ा और कहा–तुम सबसे पहले तीन काम करो–

1. क्रोध को कम करने का कोर्स करो।

2. अपराध को कम करने का कोर्स करो।

3. नशे की प्रवृत्ति–शराब छोड़ने का कोर्स करो।

आज एक विचार पुष्ट बनता जा रहा है कि अपराधी को सजा देने से कुछ नहीं होगा। जेल में डाल दो, आजीवन कारावास दे दो, फांसी की सजा दे दो,केवल इससे अपराध में कमी नहीं आएगी। अपराधी को कैसे बदला जाए, इस पर चिंतन जरूरी है। यह चिंतन अपराध के मूल कारणों को मिटाने का चिंतन है।

बोध

कार्य और अकार्य का विचार करना बहुत जरूरी है। एक बहुत मार्मिक घटना है। जापान का सम्राट फूलदानी का बड़ा शौकीन था। उसने अपने भव्य महल में अनेक देशों में बनी हुई रंग-बिरंगी सत्ताईस फूलदानियां इकट्ठी कीं। एक दिन नौकर सफाई कर रहा था। सफाई करते-करते एक फूलदानी नीचे गिर गई, टूट गई। बादशाह को बहुत गुस्सा आया, बोला कि मेरी प्रिय फूलदानी को इसने तोड़ दिया। खूब उलाहना दिया। कर्मकर थरथर कांपने लगा।

राजा ने आक्रोश भरे स्वर में निर्देश दिया–'जाओ, इसको फांसी पर चढ़ा दो।'

एक दरबारी ने इस आदेश को सुना, सोचा कि यह तो बड़ा अन्याय हो रहा है। वह खड़ा हुआ, बोला–'महाराज! मैं कलाकार हूं। मैं ऐसी कला जानता हूं, जिससे टूटी हुई फूलदानी को सांध दूंगा। किसी को पता ही नहीं चलेगा कि यह कभी टूटी थी। एकदम पूर्ववत् हो जाएगी।' बादशाह खुश हुआ, कहा–अच्छी बात है। बादशाह दरबारी को अपने शयन कक्ष में ले गया, सब फूलदानियां दिखाई, टूटी हुई फूलदानी की ओर इशारा करते हुए कहा–'इसे ठीक सांधना है।' दरबारी के हाथ में मजबूत लाठी थी। उसने लाठी के प्रहार से फूलदानियों को तोड़ना शुरू किया। शेष बची छब्बीस फूलदानियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

बादशाह स्तब्ध रह गया। उसके गुस्से का पार नहीं रहा। वह बोला–तुमने

धोखा किया है। तूने कहा था मैं फूलदानी को ठीक कर दूंगा, पर तुमने तो सबका कचरा कर दिया। बोलो, तुम्हें क्या सजा होगी?'

दरबारी बोला–'महाराज! मैंने जान-बूझकर ऐसा किया है, मूर्खता से नहीं किया है। विचारपूर्वक यह काम किया है।'

बादशाह ने साश्चर्य पूछा–'क्यों किया?'

'महाराज! कांच की सत्ताईस फूलदानियां थीं। एक टूट गई और एक आदमी को फांसी की सजा सुना दी। ये तो सब टूटने वाली हैं। व्यक्ति सफाई करेगा, कभी कोई गिर जाएगी और कभी कोई गिर जाएगी। मैंने सोचा छब्बीस और व्यक्तियों को फांसी के तख्ते पर चढ़ना पड़ेगा, इससे तो अच्छा है कि मैं अकेला ही चढ़ जाऊं और सबको बचा लूं।'

बादशाह की आंखें खुल गईं, उसने कहा–'जाओ, तुम्हें भी माफी और जिसके हाथ से पहले टूटी थी, उसको भी माफी।' सत्ताईस फूलदानियां टूट गईं और माफी भी मिल गई।

एक विवेकशील व्यक्ति विवेक से काम करता है तो अन्याय का भान करा देता है।

एक घटना और स्मृति में आ रही है। एक राजा ने खाना परोसने के लिए एक नौकर रखा। एक दिन परोसते समय थोड़ा-सा शाक का छींटा राजा के कपडों पर गिर गया। राजा लोग तो सनकी होते थे। थोड़ा-सा मन के प्रतिकूल कार्य होता और आवेश में आ जाते। शाक का छींटा पड़ते ही राजा उबल पड़ा। बोला–'तुम्हें भोजन परोसना भी नहीं आता। ऐसा व्यक्ति मुझे नहीं चाहिए।' राजा ने तत्काल मृत्युदंड का आदेश दे दिया। रसोइया यह देखकर विक्षुब्ध हो गया।

उसने सोचा कि यह तो अन्याय हो रहा है। आज मेरे साथी को अकारण ही मृत्युदंड का आदेश दे दिया, कल मेरे साथ भी हो सकता है। वह आगे आया। पूरा व्यंजन से भरा पात्र राजा के ऊपर उंडेल दिया। रसोइए के इस कृत्य ने आग में घी का काम किया। राजा का पारा चढ़ गया। उसने आक्रोश के साथ पूछा–'तुमने ऐसी गुस्ताखी क्यों की?' रसोइया बोला–'महाराज! मैंने समझ बूझकर ऐसा किया है।'

'क्या इसे तुम समझ मानते हो?'

'महाराज! आपकी दुनिया में बहुत बदनामी होती, लोग कहते कि राजा कैसा मूर्ख है, थोड़ा-सा छींटा पड़ गया और बेचारे को फांसी का दंड दे

दिया। अब आप फांसी का दंड देंगे तो कोई आपको बुरा नहीं कहेगा। सब कहेंगे–भई! इसका दंड और क्या हो सकता है? राजा पर शाक का पूरा पात्र जान बूझकर उंडेल दिया। थोड़ी सी बात पर जो आपकी बदनामी होती, उसे मिटाने के लिए मैंने ऐसा किया है।'

राजा को अपने अन्याय का भान हुआ। उसका आवेश शांत हो गया। उसने मृत्युदंड का आदेश वापस ले लिया।

जरूरी है आत्मनिरीक्षण

एक विवेक होता है कि कब क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए। जिस व्यक्ति में तेजोलेश्या का विकास होता है, उसमें कार्य-अकार्य का विवेक जागृत हो जाता है, वह आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन करता रहता है। बहुत सारे धार्मिक लोग भी आत्मनिरीक्षण नहीं करते। अगर हम प्रतिदिन सोने से पहले दस-बीस मिनट आत्मनिरीक्षण का अभ्यास करें तो हम अनेक दुष्प्रवृत्तियों से बच सकते हैं, अनेक अच्छे कार्यों में प्रवृत्त हो सकते हैं।

आत्म-निरीक्षण के संदर्भ में भगवान महावीर का सुंदर वचन है–आज मैंने क्या किया? कौन सा काम शेष रहा? कौन सा काम ऐसा है, जो कर सकता था, पर मैंने नहीं किया।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए चिंतनीय है, वह कौन सा काम है, जिसे मैं कर सकता हूं, पर नहीं करता। मैं व्याख्यान सुन सकता हूं, पर सुनता नहीं हूं। मैं स्वाध्याय कर सकता हूं, पर करता नहीं हूं। मैं सामायिक कर सकता हूं, पर करता नहीं हूं। मैं माला फेर सकता हूं, पर फेरता नहीं हूं। क्यों नहीं करता मनुष्य? इसलिए कि कार्य-अकार्य का विवेक नहीं है। जिसमें कार्य-अकार्य का विवेक जागृत है, मानना चाहिए कि उस व्यक्ति में तेजोलेश्या का विकास हुआ है, उसके आभामंडल में अरुण रंग प्रधान बना हुआ है।

लाभ और अलाभ में समभाव

तेजोलेश्या का पांचवा लक्षण है लाभ और अलाभ में समभाव। न लाभ में बहुत प्रसन्नता और न अलाभ में विषण्णता। उसमें समता की साधना प्रखर होती है। वह क्षण में रुष्ट अथवा क्षण में तुष्ट नहीं होता। किसी का अनिष्ट चिंतन नहीं करता। प्रियता की स्थिति में सुखी और अप्रियता की स्थिति में दुःखी नहीं होता। ऐसा व्यक्ति सबको प्रिय लगता है, अच्छा लगता है।

कई लोग ऐसे होते हैं, जो दीखने में बड़े अच्छे लगते हैं, पर उनके पास

कोई बैठना नहीं चाहता। वे प्रिय नहीं लगते। कुछ लोग ऐसे हैं, जो बूढ़े हो गए, चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई, फिर भी इतने प्रिय हैं कि लोग उनको छोड़ते नहीं हैं। इसका क्या कारण है? यह आकर्षण चमड़ी का नहीं होता, यह आकर्षण आभामंडल का होता है। जिस व्यक्ति का आभामंडल बड़ा सुखदायी होता है, उसके पास सब लोग बैठना चाहते हैं, बात करना चाहते हैं और उसका आशीर्वाद लेना चाहते हैं। जिसका आभामंडल अच्छा नहीं होता, उसके पास बैठने पर मन में बैचेनी सी हो जाती है।

आभामंडल की पवित्रता और सुंदरता का आधार है प्रशस्त तेजोलेश्या की प्रधानता। इसलिए हमें लेश्या पर बहुत गहराई से विचार करना चाहिए और प्रतिदिन यह सोचना चाहिए कि मेरा आभामंडल कैसा है? मेरी लेश्या कैसी चल रही है? मेरी भावधारा कैसी चल रही है?

लेश्या का यह विवेक मुनि कीर्तिधर राजा प्रियंकर को दे रहे हैं। राजा प्रियंकर इन लक्षणों को सावधानी पूर्वक सुन रहा है और अपने आपको तौल रहा है। क्या यह आत्मनिरीक्षण और आत्म विश्लेषण उसके जीवन में परिवर्तन का हेतु बनेगा?

27. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (6)

मनुष्य सुखी रहना चाहता है, दुःखी होना नहीं चाहता, किंतु इस दुनिया का क्रम है कि सुख और दुःख का जोड़ा साथ चलता है। कभी सुख और कभी दुःख। कभी का मतलब लंबा समय नहीं है। कभी-कभी एक दिन में भी आदमी न जाने कितनी बार सुख और कितनी बार दुःख का अनुभव कर लेता है, यह भी नहीं होता कि कोई दुःख देने आता है या सुख देने आता है।

व्यक्ति अपनी कल्पना से भी सुखी और दुःखी बन जाता है। कभी-कभी तो दुःख का कोई निमित्त बनता है, किंतु बहुत बार दुःख का कोई कारण नहीं होता, बस अपने अध्यवसायों से ही दुःखी बन जाता है और सुखी भी बन जाता है।

इसे कहा गया–**आयपइट्ठिए**–आत्मप्रतिष्ठित। जैसे एक क्रोध होता है, वह बाहरी निमित्त से आता है और एक क्रोध होता है, जो आत्मप्रतिष्ठित होता है। आत्मप्रतिष्ठित क्रोध यानी बाहर का कोई कारण नहीं, अपने आप गुस्सा आ गया। दूसरे पर नहीं, अपने पर भी आ गया। हमारा सुख और दुःख भी आत्मप्रतिष्ठित है। हम कल्पना के साथ सुख और दुःख भोग लेते हैं।

कल्पना से न जाने कितना सुख और दुःख भोगा जाता है, किंतु एक धार्मिक आदमी को काल्पनिक सुखों में नहीं उलझना चाहिए। उसे जीना है प्रशस्त लेश्या में–तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या में।

राजा प्रियंकर ने जिज्ञासा की–'मुनिवर! पद्मलेश्या तेजोलेश्या से श्रेष्ठ होती है? उसके लक्षण क्या हैं?'

मुनि कीर्तिधर ने राजा की जिज्ञासा को समाहित करते हुए पद्मलेश्या के लक्षणों का विवेचन किया।

क्षमाशीलता

पद्मलेश्या का पहला लक्षण है क्षमावान। जिसमें पद्म लेश्या की भावधारा आ जाती है, वह क्षमावान बन जाता है। क्षमा का अर्थ केवल

खमतखामणा नहीं है। वह भी एक अर्थ है। कोई भूल कर दी और खमतखामणा कर लिया। यह इतना ही नहीं है। क्षमा का बहुत व्यापक अर्थ है। जिसमें सहन करने की शक्ति विकसित है, वह है क्षमावान। जो हर स्थिति को झेल सकता है, अनुकूल-प्रतिकूल, मनचाही-अनचाही स्थिति को सहन करने की जिसमें शक्ति है, जो इतना शक्तिशाली बन गया कि कुछ भी आओ सहन कर लूंगा, वह क्षमावान हो गया। बहुत कठिन काम है सहन करना। जहां पांच लोग साथ में रहते हैं, दस लोग साथ में रहते हैं, एक परिवार है, समुदाय है, वहां साथ में रहना और क्षमावान होना अत्यंत दुर्लभ है। साथ में रहें और असहिष्णुता न आए बहुत कठिन है।

बहुत कठिन है सहन करना

पूज्य कालूगणी के पास कुछ साधु आए, बोले–गुरुदेव! अमुक-अमुक साधु के आपस में प्रेम बहुत है, गाढ़ मैत्री है। कालूगणी बोले कि एक वर्ष साथ में विहार करा दो, कसौटी हो जाएगी। वास्तव में ही धर्मानुराग है तो ठीक है और नहीं है तो पता लग जाएगा।

जहां दो हैं, वहां एक-दूसरे को सहना पड़ता है। रुचि अलग, विचार अलग, चिंतन अलग और स्वार्थ अलग। किसी ने कहा कि यह काम करो। उत्तर मिलता है कि मैं ही क्यों करूं, तुम क्यों नहीं? मुझे क्यों कहते हो, तुम ही कर लो। यह उत्तर तनाव का कारण बन जाता है, संबंधों में दुराव आने लग जाता है और कभी-कभी संबंध विच्छेद की स्थिति भी बन जाती है।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक सुंदर प्रसंग है। गर्गाचार्य के पांच सौ शिष्य थे। एक दिन गर्गाचार्य अस्वस्थ हो गए। उन्होंने एक शिष्य से कहा–'आज शरीर थोड़ा अस्वस्थ है। दवा की जरूरत है। तुम अमुक घर में जाओ, दवा ले आओ।' वह बोला–'गुरुदेव! जिस घर में जाने के लिए आप कह रहे हैं, उस घरवाली महिला तो पता नहीं कहां-कहां घूमती रहती है। मैं जाऊंगा तो मिलेगी या नहीं।'

गर्गाचार्य ने दूसरे से कहा–'तुम जाओ।'

वह बोला–'मैं ही मैं दीखता हूं। ये इतने सारे शिष्य बैठे हैं। ये क्या कर रहे हैं?'

उन्होंने अनेक साधुओं से कहा, पर सबका ऐसा उत्तर मिला कि गर्गाचार्य विक्षुब्ध हो गए। उन्होंने निर्णय कर लिया–'ये शिष्य मेरे काम के नहीं हैं।' वे सबको छोड़कर एकलविहारी हो गए।

मैं अनेक बार देखता हूं कि लोग बैठे रहते हैं। एक आदमी आता है, इतना सा कहता है कि भाई! थोड़ा सा रास्ता दे दो, जरा सरक जाओ। इतना सुनते ही आगबबूला हो जाता है कि मुझे कौन कहने वाला है। अहंकार इतना होता है कि अच्छी बात को भी सुनना नहीं चाहता, सहन करना नहीं चाहता। हम सीख किसको दें? इन दिनों बहुत लोग दर्शनार्थ आए, मैंने उनसे कहा–देखो, यह तुम्हारी कमी है कि इन बच्चों को तुमने अभी नवकार मंत्र का स्मरण करना भी नहीं सिखाया। उनका सीधा रटा-रटाया उत्तर मिलता है कि आजकल के बच्चे मानते ही नहीं हैं, किसको कहें?

सचमुच सहन करना बड़ा कठिन होता है। अच्छी से अच्छी बात कहो तो भी एकदम सिर में चोट-सी लगती है। व्यक्ति सोचता है कि मुझे कौन कहने वाला है? क्या मैं नहीं जानता? अहंकार इतना प्रबल होता है कि वह दूसरे की बात को सुनना भी पसंद नहीं करता। बयां और बंदर की प्रसिद्ध कथा है। बयां ने बंदर को घर बनाने की सीख दी। बंदर ने अपना घर तो नहीं बनाया, क्रोधावेश में बयां का घोंसला ही तोड़ दिया।

बंदर भी सहन नहीं कर सकता तो भला आदमी कैसे सहन करे? बड़ी कठिनाई है, किंतु धर्म ने यह सिखाया कि तुम सहन करना सीखो। अहंकार को कम करो, दूसरों की बात सुनो, उस पर ध्यान दो, चिंतन करो। उसमें अच्छाई है तो ग्रहण करो। अच्छा न लगे तो उपेक्षा कर दो, पर प्रतिक्रिया मत करो।

प्रशिक्षण सहिष्णुता का

जिस व्यक्ति में पद्मलेश्या का आभामंडल विकसित होता है, जो व्यक्ति पद्मलेश्या की भावधारा में रहता है, वह हर बात को सहन कर लेता है। तेरापंथ साधु समाज में सहन करने की जो परंपरा विकसित हुई है, उसमें यह सूत्र घुट्टी के रूप में दिया जाता है। आचार्य भिक्षु से लेकर आज तक यह सिखाया जाता रहा है कि सहन करना सीखो। सहिष्णुता का प्रशिक्षण दिया जाता है। जयाचार्य ने इस पर बहुत बल दिया। जैसे एक अग्रणी साधु होता है, वह पृथक् विहार करता है। एक साधु को मुख्य बनाते हैं, अग्रणी बना देते हैं, एक साध्वी को अग्रणी बना देते हैं।

अग्रणी के लिए जयाचार्य ने कहा–'तुम अग्रणी होकर विचरना चाहते हो तो चोट खमणी सीखो। जहां भूल होगी, वहां उलाहना आएगा, दंड आएगा, प्रायश्चित्त आएगा। यदि तुम सहन करना नहीं जानते हो तो तुम्हारा भला नहीं होगा। बिना सहन किए कोरे अगवानी बनोगे तो ठीक नहीं रह पाओगे।' अग्रणी

हो या अनुगामी–छोटी सी भूल पर भी उलाहना और प्रायश्चित्त दिया गया। साधु-साध्वियों ने विनीत भाव से सबकुछ सहा।

स्वस्थ परंपरा

आचार्य डालगणी ने मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी को एक बात पर काफी कड़ा उलाहना दे दिया। कुछ समय बाद स्वयं डालगणी को यह अनुभव हुआ कि इसमें मुनि मगनजी की कोई गलती नहीं थी। उन्होंने मुनि मगनलालजी को बुलाया और कहा–'मगनजी! मैंने तुमको इतना कहा। अब मेरे बात ध्यान में आ गई कि तुम्हारी गलती नहीं थी।'

'हां, अन्नदाता ठीक है।'

'तुमने उस समय कुछ कहा क्यों नहीं?'

'अन्नदाता! उस समय कहना ठीक नहीं था।'

तेरापंथ की एक परंपरा रही है और साधु-साध्वियों ने उसका निष्ठा से निर्वाह किया है, उसे आगे बढ़ाया है– आचार्य जब भी उलाहना दें, उस समय मौन रहो। केवल तहत् कहकर स्वीकार करो, और कुछ मत बोलो। अगर गलती है तो उसका परिष्कार करो। अगर यह लगे कि मेरी कोई गलती नहीं है तो भी उस समय मत बोलो। दो-चार घंटा बाद उचित अवसर देखकर एकांत में विनम्रता पूर्वक प्रार्थना करो–'गुरुदेव! आपने मुझे उलाहना दिया, पर यह बात इस प्रकार नहीं है, इस प्रकार है।' यह एक स्वस्थ परंपरा है।

विकास का रहस्य

विनय की परंपरा, सहन करने की परंपरा का विकास जरूरी है। अनेक बार लोग पूछते हैं–तेरापंथ का विकास क्यों हुआ? क्यों हो रहा है? मैंने कहा–'भाई! तेरापंथ का साधु-साध्वी समाज पद्मलेश्या के भावों में जीता है। जो पद्मलेश्या की भावधारा में जीएगा, उसके विकास को कोई रोक नहीं पाएगा।' ह्रास किसका होता है? जो बुरी भावधारा में जीता है, वह नीचे गिरता चला जाता है। जो अच्छी भावधारा में जीता है, वह ऊपर उठता चला जाता है, विकास करता चला जाता है।

युग के आरंभ में जैसे ही 'अर'–कालचक्र बदलता है, अवसर्पिणी का अवसान होता है, उत्सर्पिणी काल का उदय आता है। उस आरंभ काल में आदमी परस्पर मिलते हैं, विमर्श करते हैं–भाई! अब खाने को कुछ सहज उपलब्ध हो रहा है। हम अब तक विवशता से मांस खाते थे। खाने का अन्य

कोई साधन नहीं था अब पेड़-पौधे पनप रहे हैं, वनस्पति उत्पन्न हो रही है। अब हमें मांस को छोड़ देना है। वे मांस खाने का परित्याग करते हैं। जैसे ही मांस खाना छोड़ते हैं, विकास का क्रम शुरू होता है। इसका तात्पर्य है कि भावधारा अच्छी आती है तो विकास शुरू होता है। जिसको गिरना होता है, सबसे पहले उसका आहार बिगड़ता है, भावधारा बिगड़ती है।

यह रास्ता है गिरने का

आज समाज की स्थिति को देखता हूं तो मन में संवेदना होती है, सोचता हूं–

क्या कहूं, कुछ कहा न जाए।
कहे बिना भी रहा न जाए।।

इन दिनों अनेक ऐसी घटनाएं, प्रसंग सामने आए। जैन समाज के युवकों का, रात-दिन धर्म के वातावरण में रहने वाले युवकों का खान-पान भी बिगड़ गया। शराब भी पीते हैं और मांस का भी परिहार नहीं है। हम कल्पना नहीं कर सकते कि जिनको निरामिष भोजन का संस्कार मिला है, वे कैसे मांसाहार करेंगे? यह कोई समय है या वातावरण है कि अंडों का परिहार तो छोटी बात है, मांस का भी परिहार नहीं है, शराब का भी नहीं है। हमने सुना ओसवाल समाज की बारात आई और बारातियों ने बहुत झगड़ा किया? क्यों किया? इसलिए कि शराब पीए हुए थे। व्यक्ति में आवेश तो रहता ही है, शराब से उसे उद्दीपन मिल जाता है। अनेक बार तो यह स्थिति बनती है कि बारात बैरंग ही लौट जाती है।

आजकल बारात ले जाने वाले शराब की मांग भी करते हैं। इस प्रकार की बातें सुनते समय भी कानों में कांटे चुभते हैं। लोग यह चिंतन क्यों नहीं करते कि यह गिरने का रास्ता है, खराब होने का रास्ता है। जो इसमें ज्यादा फंस जाते हैं, उनका ध्यान फिर अच्छी बातों में कम जाता है। वे अनेक व्यसनों में चले जाते हैं। यह बहुत कठिन परिस्थिति है। इसीलिए मनुष्य अपनी स्थिति को बनाए नहीं रख पा रहा है।

रास्ता नीचे और ऊपर जाने का

हमारे सामने दो रास्ते हैं–एक है गिरने का रास्ता और एक है ऊपर जाने का रास्ता। कच्छ-सौराष्ट्र की घटना है। एक संन्यासी पेड़ के नीचे बैठा था। वहां का राजा शिकार करके आ रहा था। हाथ में मारा हुआ खरगोश था, खून

टपक रहा था। उसने संन्यासी से पूछा–'महाराज! बोलो रास्ता किधर जा रहा है?' संन्यासी को कोई डर तो था नहीं, बोला–'मैं दो ही रास्ते जानता हूं। तीसरा रास्ता नहीं जानता।'

'कौन-से दो रास्ते जानते हो?'

'एक रास्ता है ऊपर जाने का और एक रास्ता है नीचे जाने का।'

'ऊपर जाने का रास्ता कौन-सा है और नीचे जाने का रास्ता कौन सा है?'

'राजन्! तुम हिंसा कर रहे हो, दूसरे जीवों को मार रहे हो–यह नीचे जाने का रास्ता है। तुम इस काम को छोड़ो, अहिंसक बनो तो ऊपर जाने का रास्ता है। इसके अतिरिक्त तीसरा कोई रास्ता नहीं है।'

यह सचाई है कि जो व्यक्ति व्यसनों में ज्यादा लिप्त होता है, वह नीचे जाने का रास्ता चुन रहा है। न वह बहुत आर्थिक विकास कर सकता और न ही जीवन को अच्छा बना सकता, क्योंकि उसकी धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं, क्रूरता आती है, अनैतिकता आती है। वह सबकुछ आता है, जो अवांछनीय है, इसीलिए इस दृष्टि से जागरूक रहना चाहिए कि भावधारा कैसे शुद्ध रहे?

विकास त्याग की शक्ति का

पद्मलेश्या का दूसरा लक्षण है त्याग की शक्ति का विकास। यह भी बहुत कठिन काम है। दो दिन पहले एक युवक उपासना में बैठा था, वह बोला–'आचार्यश्री! आप लोग केवल त्याग की ही बात क्यों सिखाते हैं?' मैंने कहा–'हम लोग त्याग की बात न सिखाएं तो और क्या सिखाएं?' भोग की बात तो तुम जानते ही हो। उसे सिखाने की हमें जरूरत नहीं है। उसमें तो तुम निमग्न बने हुए हो। हम यह मानते हैं कि कोरा भोग आदमी को नीचे ले जाता है, समाज में विकृति पैदा करता है, समस्या पैदा करता है, इसीलिए भोग के साथ त्याग की बात भी सीखो, कुछ सीमा करना सीखो, कुछ छोड़ना सीखो। अगर त्याग की शक्ति नहीं रही तो फिर बचेगा क्या?'

जो व्यक्ति त्यागना नहीं जानता, छोड़ना नहीं जानता, वह कभी अच्छा नहीं रहता। स्वास्थ्य भी उसका अच्छा रहता है, जो त्यागना जानता है। यदि भोजन की दस चीजें सामने आ गईं और सब अच्छी मात्रा में खा लीं तो क्या होगा? आजकल स्वतः भोजन का क्रम चलता है। परोसने वाला कोई नहीं। सारी खाद्य वस्तुएं टेबलों पर रखी हुई हैं। स्वयं लो और खाओ। सामने इतनी चीजें रखी हुई हों और त्याग की शक्ति न हो तो व्यक्ति मनचाहा खाएगा।

खाने के बाद हॉस्पिटल जाना पड़े तो आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत बार भोज में अनेक लोग बीमार हो जाते हैं, हॉस्पिटल में जाने की स्थिति बन जाती है। यह क्यों होता है? जिनमें त्याग की शक्ति नहीं है, वे आमय को आमंत्रण देते हैं। हम संयम करना सीखें, त्यागना सीखें, छोड़ना सीखें। यह तो एक अच्छा विकास हुआ है कि जैन समाज में बहुत लोग उपवास करते हैं, अनेक भाई-बहिन वर्षीतप करते हैं। यह त्याग की शक्ति और आहार का संयम सरल नहीं है। यदि व्यक्ति को स्वादिष्ट और मनभावन भोजन मिल जाए तो वह संयम रख नहीं पाता। त्याग की शक्ति का विकास पद्मलेश्या का लक्षण है।

आनंद का निर्झर

पद्मलेश्या का तीसरा लक्षण है सदानंद। जिस व्यक्ति के पद्मलेश्या का विकास होता है, उसके सदा आनंद का निर्झर प्रवाहित रहता है। एक स्थिति है क्षणिक सुख अथवा आनंद की। एक स्थिति होती है निरंतर सुख और आनंद की। गर्मी का मौसम। गर्मी लगी और पंखा चलाया, एकदम सुख का अनुभव हो गया। बिजली गई, पंखा बंद हुआ तो दुःख हो गया। आज प्रातः हम लोग बाहर घूमकर आए। काफी लोग साथ थे। एक युवक ने पंखा चलाने का प्रयत्न किया। पंखा नहीं चला। वह बोला–'उमस है, गर्मी लग रही है। पंखा चले तो कितना अच्छा हो।'

मैंने कहा–बिजली चली जाएगी, पंखा बंद हो जाएगा। तब क्या होगा? तुम थोड़ा सहन करना सीखो। तुम उस आनंद की खोज करो, जो चौबीस घंटा बना रहे। वह सुख मिल जाए तो दुःख कभी होता ही नहीं है। तुम केवल बाहर के सुख में मत उलझो। यह ठीक है कि एक सामाजिक प्राणी सुख-सुविधा भी जुटाता है। पंखा भी चलाता है, कूलर भी चलाता है, एयरकंडीशन भी चला लेता है, और भी न जाने कितने साधन करता है, किंतु उनमें मत अटको, मत उलझो। पद्मलेश्या को समझने का थोड़ा प्रयत्न करो। ऐसी स्थिति का निर्माण करो कि सदा आनंद रहे। गर्मी है तो भी आनंद, पंखा चला तो भी आनंद। बिजली चली गई तो भी आनंद। उस स्थिति का निर्माण करो तो कभी दुःख नहीं होगा।

जो लोग कोलकाता, मुम्बई, दिल्ली जैसे शहरों में छोटे-छोटे बंद फ्लैटों में रहते हैं। जब बिजली चली जाती है तब कैसी स्थिति बनती है? बाहर का प्रकाश नहीं, बाहर की हवा नहीं। सबकुछ बिजली और कृत्रिम साधनों से चलता है। इस स्थिति में बड़ी कठिनाई होती है, पर आजकल एक उपाय

निकाल लिया, लोगों ने जेनरेटर लगा लिए, अपनी व्यवस्था कर ली, पर जनरेटर भी खराब हो सकता है।

खोज उस आनंद की

जैन विश्वभारती में काफी बड़ा जेनरेटर लगाया हुआ था। एक दिन ऐसा हुआ कि बिजली भी गायब और जनरेटर भी खराब। इस स्थिति में सदा आनंद नहीं होता। एक ऐसा उपाय खोजें, ऐसा मार्ग खोजें, जो सदा आनंद दे, जिस आनंद में कोई बाधा नहीं डाल सके। उस आनंद की खोज का मतलब है प्रिय, अप्रिय कोई भी स्थिति बाधा नहीं डाल सकती। चौबीस घंटे वह आनंद का कूलर अथवा पंखा चलता रहता है, जो कभी थकता नहीं है, रुकता नहीं है, विश्राम नहीं करता। यह पद्मलेश्या का परिणाम है। जो व्यक्ति पद्मलेश्या की साधना करता है, वह इस स्थिति में चला जाता है निरंतर प्रसन्नता, निरंतर आनंद, निरंतर सुख का अनुभव। कभी दुःख नहीं होता।

कारण दुःख का

प्रश्न है कि यह स्थिति कब आती है? यह स्थिति वीतरागता में आती है। वीतराग कभी दुःखी नहीं होता। उसके दुःख होता ही नहीं। न वह पौद्गलिक सुखों से सुखी होता। दुःख का कारण है मोह कर्म का चक्र। वह समाप्त हो गया तो काल्पनिक सुख की अनुभूति कराने वाला चक्र भी समाप्त हो गया। कहा गया—**सदा दिवाली संत के आठों प्रहर आनंद**—वह आनंद वीतरागी के होता है। उससे कुछ नीचे आएं तो अप्रमत्त के होता है। अप्रमत्त कभी दुःखी नहीं होता। वह सदा आनंद में रहता है। जहां कोई प्रमाद नहीं है, वहां कभी दुःख नहीं होता। इससे नीचे आएं तो प्रमत्त अवस्था है। क्या प्रमत्त अवस्था में सदा आनंद का अनुभव हो सकता है? जिस व्यक्ति ने अपना संबंध आत्मा के साथ स्थापित कर लिया, वह सदा आनंद में रहता है।

पदार्थ के जगत में यह सुख और दुःख का चक्र चलता है। जहां वस्तु के साथ संबंध जोड़ा, वहां कभी सुख, कभी दुःख होगा। अनुकूल वस्तु मिली, सुख हो गया। उसका वियोग हुआ, दुःख हो गया। जहां पदार्थ के साथ हमारा संबंध है, वहां सुख और दुःख का चक्र चलेगा। जहां हमारा संबंध केवल अपनी आत्मा के साथ हो गया, बस न कुछ बाहर से लेना, न देना, न निंदा, न प्रशंसा, न सम्मान, न अपमान, न लाभ, न अलाभ—कुछ भी नहीं, बस केवल आत्मा का अनुभव और ध्यान। वह सदा सुखी रहता है। उसके सुख में कभी

कोई बाधा नहीं आती, विघ्न नहीं आता। यह सदा आनंद का जो परिणाम है, हमारी चेतना की जो धारा है, वह पद्मलेश्या से प्राप्त होती है। जो व्यक्ति पद्मलेश्या में रहता है, उसमें यह स्थिति बनती है। यह बहुत सूक्ष्म धारा है।

पथ सद्गति का

एक शब्द है पक्ष्म–पराग। जैसे फूल पर पराग होता है, भंवरा उस पराग को लेता है, रस को लेता है। जो चिंतन का सार है, वह है पद्मलेश्या। एकदम पवित्रता की स्थिति आ जाती है, आभामंडल विशुद्ध बन जाता है। उसका एक लक्षण है सदानंद–उस आनंद को कोई समाप्त नहीं कर सकता, उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता।

जिस व्यक्ति में जीवन में सहन करने की शक्ति का विकास, त्याग की शक्ति का विकास, सदा आनंद की अनुभूति– ये तीन सतत सहचर बने हुए हैं, मानना चाहिए कि वह व्यक्ति पद्मलेश्या की भावधारा में अवगाहन कर रहा है, उसने सद्गति का पथ प्रशस्त कर लिया है। मुनि कीर्तिधर राजा प्रियंकर को पद्मलेश्या के लक्षणों को बता रहे हैं और वह अंदर ही अंदर चिंतन में डूबता जा रहा है।

28. किस लेश्या में जी रहे हैं आप? (7)

मनुष्य का भाव उत्तरोत्तर विकसित होता है, प्रशस्त होता है तो वह शुक्ललेश्या तक पहुंच जाता है। शुक्ल लेश्या यानी आभामंडल श्वेत रंगमय बन जाता है। जब रंग पूरा सफेद होता है, तब सब रंग उसमें समा जाते हैं। भावधारा निर्मल, स्वच्छ और पवित्र बन जाती है।

रागद्वेषविनिर्मुक्तः, शोकनिंदाविवर्जितः।
परात्मभावसंपन्नः, शुक्ललेश्यो भवेन्नरः।।

शांत हैं राग और द्वेष

शुक्ललेश्या का पहला लक्षण है **रागद्वेषविनिर्मुक्तः।** शुक्ललेश्या की भावधारा में जीने वाला राग और द्वेष दोनों से मुक्त होता है। इस प्रकार भी कह सकते हैं कि आभामंडल में श्वेत रंग है तो समझ लें इस व्यक्ति का राग भी शांत है, द्वेष भी शांत है। राग-द्वेष की ऊष्मा, गर्मी नहीं है। जब राग की प्रबल आसक्ति और द्वेष की गर्मी होती है तब आभामंडल में सफेद रंग नहीं होता। धुंधला-धुंधला, मटमैला सा रंग होता है।

अमेरिका की एक महिला वैज्ञानिक जे.सी ट्रस्ट ने अनेक व्यक्तियों के आभामंडल के फोटो लिए। वे फोटो सामान्य कैमरे से नहीं लिए गए, हाई फ्रिक्वेंसी कैमरे से लिए गए। आभामंडल का फोटो लेने के लिए विशिष्ट कैमरे होते हैं। उससे पूरे आभामंडल का फोटो लें तो कैमरा पूरी कोटड़ी को कवर कर लेता है। अंगुली के आभामंडल का लें तो मध्यम साईज का होता है।

राजलदेसर चातुर्मास (सन् 1993) में कनाडा का एक प्रोफेसर आया। उसके पास वह कैमरा था, जिससे आभामंडल का फोटो लिया जा सके। उससे बाहरी अवयवों का फोटो नहीं आता, किंतु भीतर का फोटो आ जाता है। जे.सी ट्रस्ट ने आभामंडल के चित्रों का विश्लेषण करते हुए एक पुस्तक लिखी–'एटम एण्ड ओरा'। पुस्तक में लिखा–'मैंने ऐसे लोगों के फोटो लिए, जो साधारण

दिख रहे थे, कपड़े भी बहुत साफ नहीं थे, किंतु उनका आभामंडल बहुत पवित्र था। मैंने ऐसे लोगों के फोटो भी लिए, जो बहुत साफ-सुथरे रहते थे और बड़े अच्छे लगते थे, किंतु उनका आभामंडल धुंधला, गंदला और खराब था।'

अमुक व्यक्ति कैसा है? सामान्य आदमी पहचान करता है आकार और रंग रूप को देखकर। जब भीतरी पहचान करने वाला कोई गुरु होता है, वह आभामंडल देखता है तो उसे आभामंडल से पता लग जाता है कि व्यक्ति कैसा है। व्यक्ति धोखा देने वाला तो नहीं है? व्यक्ति अति चंचल तो नहीं है? व्यक्ति हानि पहुंचाने वाला तो नहीं है? आभामंडल में सफेद रंग का वलय बन जाता है तो जाना जा सकता है कि राग शांत है और द्वेष भी शांत है।

शोक और निंदा से मुक्त

शुक्ललेश्या का दूसरा लक्षण है शोक और निंदा से मुक्त। वह सदा अशोक–शोक रहित रहता है, प्रसन्न रहता है। निंदा और विकथा से मुक्त रहता है।

परात्म-भाव

शुक्ललेश्या का तीसरा लक्षण है परात्मभावसम्पन्नः। वह परात्म भाव–परम भाव में चला गया है, आत्मा की उच्च भूमिका में चला गया है। जहां केवल आत्मा का दर्शन है, वहां चला गया है।

आत्मा को व्यवहार की दृष्टि से तीन भागों में बांटा गया–बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। परमात्मा सबसे ऊंची भूमिका है।

बहिरात्मा वह है, जिसका दृष्टिकोण मिथ्या होता है। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण पदार्थपरक होता है, जिसे केवल पदार्थ ही अच्छे लगते हैं, खाना अच्छा लगता है, कपड़ा पहनना अच्छा लगता है, उसी में रुचि और आकर्षण रहता है, पदार्थ के सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता, वह व्यक्ति बहिरात्मा है।अंतरात्मा वह व्यक्ति है, जो सम्यक् दर्शन को प्राप्त हो गया है। वह पदार्थ को छोड़ नहीं पाता, किंतु पदार्थ को मात्र उपयोगी मानता है, जीवन चलाने के लिए आवश्यक मानता है, किंतु उसमें आसक्त नहीं होता, लुब्ध नहीं होता। वह केवल पदार्थ को ही नहीं देखता। जो आदमी पदार्थपरक होता है, वह उसी पर केन्द्रित होता है।

मूल्य चेतना का या पदार्थ का

घर में आग लग गई। सेठ ने अपने कर्मचारियों से कहा–देखो, वह पेटी निकालो, वह पेटी निकालो, वह निकालो। जिसमें गहना, आभूषण, चांदी,

सोना रखा था, सारा कीमती सामान बाहर निकाल लिया। सोचा कि अब चिंता की कोई बात नहीं है। सब बाहर खड़े मकान को जलता हुआ देख रहे हैं। पुराना जमाना था। दमकलें तो थी नहीं। अब आग कैसे बुझाएं? बहुत प्रयत्न किया, पर आग नहीं बुझी। सेठानी पीहर गई हुई थी। गांव में ही पीहर था। पता लगा घर में आग लग गई। वह दौड़ी-दौड़ी आई। सेठ ने कहा–बहुत बुरा हुआ, आग लग गई, पर कोई खास चिंता की बात नहीं है। जितना कीमती सामान था सारा बाहर निकाल लिया। वह बोली–मेरा लड़का कहां है? छोटा मुन्ना सोया हुआ था, वह कहां है?

'अरे! उसको तो भूल ही गए।'

जो भोगने वाला था, वह तो जल गया और जो भोग्य पदार्थ थे, वे सब बाहर निकाल लिए। जब पदार्थपरक दृष्टिकोण बनता है तब केवल पदार्थ, केवल वस्तु पर ही सारा ध्यान अटकता है। वहां आत्मा, चेतना, व्यक्ति गौण बन जाता है, उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। यह बड़ी समस्या है।

दो भाइयों में लड़ाई होती है, किसलिए? जमीन के थोड़े से टुकड़े के लिए या रुपयों के लिए। धन का मूल्य ज्यादा है या भाई का? मूल्य ज्यादा किसका है? जब लड़ाई को देखते हैं तब यह नहीं कहा जा सकता कि भाई का, पिता का, मां का मूल्य ज्यादा है। ज्यादा मूल्य है धन का। धन के लिए न जाने कितने अनर्थ होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि पदार्थ में आदमी उलझ गया और इतना उलझ गया कि उसे लगता है कि पदार्थ के सिवाय और कोई सारपूर्ण वस्तु नहीं है।

इस असार संसार में केवल धन ही सार है, पदार्थ ही सार है, किंतु जब सम्यक् दर्शन होता है तब धन को अनुपयोगी तो नहीं मानता, आवश्यक मानता है, उसकी उपयोगिता को स्वीकार करता है, किंतु उसे सबकुछ नहीं मानता। दृष्टिकोण बदल जाता है। वह है सम्यक् दर्शन या अंतरात्मा।

पांच परम आत्माएं

अंतरात्मा की भूमिका में आने के बाद जब आत्मदर्शन की जिज्ञासा जाग जाती है, जैसे जम्बूकुमार में जागी थी। उसके सामने एक ही संकल्प रहा कि मुझे आत्मा का साक्षात्कार करना है, आत्मा को देखना है, चेतना का अनुभव करना है, चेतना के अनुभव में जीना है। यह स्थिति जब बनती है, तब परमात्म भाव की स्थिति आ जाती है, उस समय शुक्ललेश्या होती है।

नमस्कार महामंत्र में जिनका स्मरण किया जाता है, वे पंच परमेष्ठी–पांचों परम आत्माएं हैं।

णमो अरहंताणं–अर्हत् परम आत्मा।

णमो सिद्धाणं–सिद्ध परम आत्मा।

णमो आयरियाणं–आचार्य परम आत्मा।

णमो उवज्झायाणं–उपाध्याय परम आत्मा।

णमो लोए सव्वसाहूणं–शुद्ध साधु परम आत्मा।

इसका अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति ने आत्मदर्शन की आकांक्षा से साधना शुरू कर दी कि मुझे आत्मा का साक्षात्कार करना है, उसका परमात्मा की भूमिका की ओर प्रस्थान हो गया। यह शुक्ललेश्या की ओर प्रस्थान का लक्षण है। जो शुक्ललेश्या में जीता है, वह परमात्मा की भूमिका पर पहुंच जाता है।

क्यों बना कीट?

मुनि कीर्तिधर ने कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल–इन छह लेश्याओं के लक्षणों का प्रतिपादन किया। राजा प्रियंकर ने अवधानपूर्वक सुना। राजा प्रियंकर बोला–'महाराज! आपने लक्षण बतलाए। आप यह भी बतलाएं कि मेरा पिता जो राजा था, वह मरकर कीड़ा क्यों बना? इसका क्या कारण है?'

मुनि कीर्तिधर ने कहा–'राजन्! तुमने छहों लेश्याओं का वर्णन सुन लिया। यह जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। अब तुम्हारे प्रश्न का भी मैं उत्तर दे रहा हूं।'

'राजन्! जो व्यक्ति कृष्णलेश्या की भावधारा में जीता है, वह मरने के बाद नरक में जाता है।' जो व्यक्ति नीललेश्या की भावधारा में जीता है, वह मरने के बाद स्थावर योनि में पैदा होता है। पांच स्थावर काय हैं–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इनमें जन्म लेता है। जो व्यक्ति कापोतलेश्या की भावधारा में जीता है, वह मरने के बाद तिर्यंच गति–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय–पशु, पक्षी योनि में पैदा होता है। 'प्रियंकर! तुम्हारा पिता जब मरा तब कापोतलेश्या की भावधारा थी, इसलिए वह कीट बन गया।'

जो पहले शक्तिशाली राजा था, वह मरने के बाद कीड़ा बन गया, क्योंकि वह कापोतलेश्या के परिणाम में था। यह एक बिंदु है, जहां आदमी को सबसे ज्यादा सोचना चाहिए। मरते समय कौन-सी लेश्या रहे? मृत्यु के समय अगर अच्छी लेश्या होती है तो अच्छी गति में जाता है और मरते समय खराब लेश्या आ जाती है तो निम्न गति, नरक या तिर्यंच गति में जन्म होता है।

कैसा हो अंतिम समय?

तीन अशुभ लेश्याएं हैं–कृष्ण, नील व कापोत। जब इन लेश्याओं का परिणाम होता है तब निम्न गति हो जाती है, इसीलिए यह परंपरा रही–भाई! अंतिम समय में धर्म-ध्यान सुनाओ, आराधना सुनाओ। चौबीसी सुनाओ। पूरा वातावरण धार्मिक रखो। यदि अचेत है तो भी सुनाते रहो, क्योंकि भीतर से एक शब्द भी सुन लेता है तो भीतर की भावधारा बदल जाती है। यह बहुत आवश्यक है। ऐसे न सुने तो जोर-जोर से बोलकर भी सुनाओ, शरण दिलाओ। मैंने पूज्य कालूगणी का अंतिम समय देखा है। अंतिम समय में कालूगणी ने पूछा–'मगनलालजी स्वामी आए या नहीं?' संतों ने कहा–'गुरुदेव! अभी नहीं आए।' फिर पूछा–'आ रहे हैं क्या?'

संत गए बुलाने के लिए। मंत्री मुनि तेज चलते हुए आए। बदली हुई स्थिति को देखा, सोचा–अब तो बस अंतिम समय है। उन्होंने बहुत जोर से शरण सूत्र सुनाए–अरहंतां को शरणो, सिद्धां को शरणो। इसका मतलब है कि अंतिम समय में ऐसा वातावरण बने कि सिवाय धार्मिक वातावरण के कुछ भी न रहे। न मोह का वातावरण, न ममता का वातावरण, न पीछे की चिंता–सबसे मुक्त, केवल आत्मा का वातावरण। जब यह वातावरण होता है तब अच्छी गति हो जाती है। यह एक ऐसा समय है कि या इधर या उधर। अगर चेतना का परिणाम खराब आया तो निम्न गति और परिणाम अच्छा आ गया तो ऊर्ध्वगति। यह एक ऐसा निर्णायक मोड़ है कि उस समय ज्यादा सावधान रहना होता है। तिब्बत के जो लामा होते थे, उनमें परंपरा थी कि जो लामा मर जाता, उसे मरने के बाद भी जोर-जोर से बोलकर सुनाते थे। श्रमण परंपरा में यह परंपरा रही है कि अंतिम समय में बहुत जोर से सुनाते हैं।

बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अंतिम समय कैसा हो? जो समझदार श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी होते हैं, वे पहले इस बात की सूचना दे देते हैं कि देखो ध्यान रखना, अंतिम समय संथारे के बिना न चली जाऊं, न चला जाऊं। यह भावना इसलिए रहती है कि अंतिम समय की परिणाम धारा पर आगामी गति निर्भर है। इस दृष्टि से बहुत अच्छा सूत्र है–जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या में पैदा होता है। अगर कृष्णलेश्या में मरता है तो कृष्णलेश्या की गति-नरक आदि में पैदा होता है। नीललेश्या में मरता है तो स्थावर काय में पैदा होता है। कापोतलेश्या में मरता है तो तिर्यंच योनि में पैदा होता है।

कहां से कहां चला गया

मुनि कीर्तिधर ने समाधान दे दिया–'प्रियंकर! तुम्हारा पिता कापोतलेश्या में मरा था। इसीलिए वह कीड़ा बन गया।'

राजा प्रियंकर यह बात सुनकर कांप उठा। यह कांपने की बात तो है ही। जो व्यक्ति दस मिनट पहले राजा था, दो मिनट पहले भी राजा था, पूरे देश का शासक था, जिसकी सेवा में हजारों-हजारों व्यक्ति रहते थे, जिसका शासन चलता था, वह मरने के बाद क्या बना? अकूरड़ी पर कीड़ा बन गया। तुलना करें कहां से कहां चला गया? इससे नीची गति और क्या होती है? नरक की स्थिति उससे भी बदतर है, पर यह स्थिति भी क्या नरक से कम है? उसके लिए तो यह नरक जैसा ही हो गया।

राजा प्रियंकर का सारा शरीर कांप उठा, मन भी कंपित हो गया। भीतर में वेदना, पीड़ा, व्यथा, दुःख सबकुछ उत्पन्न हो गया, पर करे क्या?

अच्छी गति की लेश्याएं

प्रियंकर ने गहरा निःश्वास छोड़ते हुए पूछा–'महाराज! यह भी बतलाएं कि अच्छी गति की लेश्याएं कौन सी हैं?'

मुनि कीर्तिधर बोले–'प्रियंकर! जो तेजोलेश्या में मरता है, वह मरने के बाद मनुष्य बनता है।' जो पद्मलेश्या की भावधारा में मरता है, वह देवलोक में जाता है। शुक्ल लेश्या में मरने वाला ऊर्ध्व देवलोक में जाता है अथवा मोक्ष में जाता है।

यह देख लें कि मरते समय कौन-सी लेश्या रही, कौन-सी भावधारा रही? यदि मरते समय आभामंडल का फोटो लिया जाए तो भविष्यवाणी की जा सकती है कि अमुक व्यक्ति किस गति में जाकर पैदा हुआ है। उस फोटों में लेश्या के रंग आ जाते हैं कि कौन-सी-लेश्या थी और कौन-सा रंग आया है। आजकल अनेक बीमारियों के निदान भी इस प्रकार होते हैं। डाइग्नोसिस कराने के लिए बड़ी मशीनों के पास जाना नहीं पड़ता। फोटो लिया और पता लग गया कि कौन सी बीमारी हुई है। यह भी पता लग जाता है कि तीन महीने के बाद कौन-सी बीमारी होने वाली है।

प्रियंकर का संकल्प

लेश्या के इस विवेचन को सुनकर प्रियंकर प्रतिबुद्ध हो गया। उसने राज्य का भार संभाला, दायित्व का निर्वाह किया, किंतु एकदम अनासक्त होकर रहा, धाय खिलावै बाल की तरह रहा। कहा गया–

जिम समदृष्टि जीवड़ा, करै कुटुम्ब प्रतिपाल।
अंतर में न्यारा रहे, ज्यूं धाय खिलावै बाल।।

जैसे धाय माता बच्चे का लालन-पालन करती है, खिलाती-पिलाती है, सबकुछ करती है, पर एक क्षण के लिए भी वह यह नहीं समझती कि यह लड़का मेरा है। इसी प्रकार जो सम्यक् दृष्टि जीव है, वह काम करता है, समाज में रहता है, गृहस्थी को चलाता है, पालन-पोषण करता है, व्यापार करता है, धन कमाता है, जो उचित लगता है, वह सबकुछ करता है, किंतु भीतर में यह समझता है कि यह सब शरीर की चर्या है, आत्मा की चर्या नहीं है। वह धाय मां की तरह भीतर में एकदम अलग रहता है। यह स्थिति जब आ जाती है तब लेश्या विशुद्ध बनती चली जाती है।

प्रियंकर ने संकल्प कर लिया कि मैं अधिक से अधिक प्रशस्त लेश्या में जीने का प्रयत्न करूंगा। मैं कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या की भावधारा में नहीं जीऊंगा।

पिता का मरण, कीट रूप में उत्पत्ति और मुनि कीर्तिधर का संबोध– प्रियंकर की चेतना का रूपांतरण हो गया। वह प्रतिबुद्ध होकर अनासक्त भाव से अपने जीवन को चलाने लगा।

समझें लेश्या का मर्म

जो व्यक्ति लेश्या के इस मर्म को समझ लेता है, वह निरंतर भाव शुद्धि में रहने की साधना करता है। न कलह का भाव, न निंदा, न ईर्ष्या, न चुगली, कुछ भी नहीं। विधायक भाव, अच्छा चिंतन, अच्छा विचार–ऐसी पवित्र भावधारा में जीता है। इस प्रकार विशुद्ध भावधारा में जीने वाला व्यक्ति सचमुच अपनी सद्गति का रिजर्वेशन करा लेता है। वह जब कभी जाएगा, ऊर्ध्वगति में जाएगा। नीची गति में जाने का रास्ता बंद हो जाता है।

लेश्या के इस मर्म को समझें और गहराई से सोचें कि मुझे किस लेश्या में जीना है? कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या में जीना है अथवा तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या में जीना है?

एक समुज्ज्वल भविष्य का पथ है और एक अंधकारमय भविष्य का पथ है। एक चेतना के ऊर्ध्वारोहण का पथ है और एक चेतना के अधोगमन का पथ है। कौन-सा पथ चुनेंगे आप?

परिशिष्ट

29. रंग और चक्र (आभामंडल)

* वर्ण और शब्द प्रकंपनों के ही स्तर हैं। वे एक दूसरे में बदले जा सकते हैं। 'आरोटॉन' मशीन से वर्ण को सुना जा सकता है।
* सात रंग हैं और सात स्वर हैं। उनका शरीर पर प्रभाव पड़ता है। रंगों का शारीरिक, भावनात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है।
* रंग निषेधात्मक है और प्रकाश विधेयात्मक। रंग केवल प्रकाश का ही एक विभागीय हिस्सा है।
* एंडोक्राइन व्यवस्था और चक्र व्यवस्था एक ही है। प्रत्येक एंडोक्राइन अवयव का अपना रंग है। रंग के आधार पर उसको सक्रिय बनाया जा सकता है।
* प्रकाश प्रकंपन है। दृश्य प्रकाश 49वां प्रकंपन है। यही रंग है। दृश्य प्रकाश में जो विभिन्न रंग दृष्टिगोचर होते हैं, वे विभिन्न प्रकंपनों के आधार पर होते हैं।
* लाल रंग के एक सेकंड में 436 खरब प्रकंपन होते हैं। वायलेट (बैंगनी) रंग के एक सेकंड में 731 खरब प्रकंपन होते हैं।
* रंग रोग-निवारण के साधन हैं, क्योंकि ये शरीर के असंतुलन को ठीक रखते हैं। रंग शरीर का स्वाभाविक भोजन है, क्योंकि जो भोजन वनस्पति जगत से प्राप्त होता है, वह सघन अवस्था में रंग ही है।
* शरीर के प्रत्येक अवयव को क्रियाशील रखने के लिए विभिन्न रंग हैं और उनको सुषुप्त रखने के लिए भी अनेक रंग हैं।

लाल रंग (Red)

यह अग्नि तत्त्व है। यह नाड़ीमंडल और रक्त को सक्रिय बनाता है। यह ज्ञानवाही नाड़ियों को क्रियाशील बनाता है। पांचों इन्द्रियों की क्रियाशीलता इसी रंग पर निर्भर करती है। यह सेरेब्रो-स्पाइनल द्रव्य पदार्थ को प्रेरित करता

है। लाल किरणें ताप पैदा करती हैं और शरीर में शक्ति का संचार करती हैं। ये किरणें लीवर और मांसपेशियों के लिए लाभप्रद होती हैं। लाल रंग मस्तिष्क के दाएं भाग को सक्रिय रखता है। लाल किरणें शरीर के क्षार द्रव्यों को तोड़कर आयोनाइजेशन करती हैं। इसके बिना शरीर बाहर से कुछ भी नही ले सकता। ये आयोंस विद्युत-चुंबकीय शक्ति के वाहक होते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से लाल वर्ण स्वास्थ्यप्रद माना जाता है। यह प्रतिरोधात्मक होता है। यदि लाल रंग बार-बार काम में लिया जाए तो वह ज्वर तथा शैथिल्य पैदा करता है। इसके साथ नीले रंग का योग होना चाहिए।

पीला रंग (Yellow)

यह क्रियावाही नाड़ियों को सक्रिय और मांसपेशियों को शक्तिशाली बनाता है। यह स्वतंत्र रंग नहीं है। यह लाल रंग और हरे रंग का मिश्रण है। इसमें लाल और हरे रंग के आधे-आधे गुण हैं। यह मृत कोशिकाओं को सजीव भी करता है और उनको सक्रिय भी बनाता है। इसमें पॉजिटिव चुंबकीय विद्युत होती है। यह विद्युत नाड़ीमंडल को शक्तिशाली और मस्तिष्क को सक्रिय करती है।

पीला रंग बुद्धि और दर्शन का रंग है, तर्क का नहीं। इससे मानसिक कमजोरी, उदासीनता आदि दूर होते हैं। यह प्रसन्नता और आनंद का सूचक रंग है।

नारंगी रंग (Orange)

यह लाल और पीले रंग का मिश्रण है। इन दोनों रंगों से भी अधिक ताप वाला है। यह ताप, अग्नि, संकल्प और भौतिक शक्तियों का वाचक वर्ण है। यह श्वास को प्रभावित करता है और थॉयराइड ग्लैण्ड को सक्रिय बनाता है। इस वर्ण के प्रकंपन फुप्फुस को विस्तृत करते हैं और बलवान बनाते हैं। इससे स्त्रियों के स्तनों में दूध की वृद्धि होती है। यह पेन्क्रियाज को सहयोग देता है। यह पित्त के मिश्रण और उसकी गतिशीलता में सहायक होता है। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव ये हैं–

- ❊ शारीरिक शक्तियों को मानसिक गुणों के साथ जोड़ता है।
- ❊ यह स्पिलिन और पेन्क्रियाज इन दोनों चक्रों से शक्ति को प्रवाहित करता है।
- ❊ यह विचार और मानसिक कल्पनाओं का सूचक वर्ण है।
- ❊ यह प्रेम, प्रसन्नता, भावनाओं की सजीवता और योगक्षेम की भावना को बनाए रखता है। यह एथरिक-बॉडी को शक्तिशाली बनाता है।

हरा रंग (Green)

यह नाइट्रोजन गैस का वर्ण है। यह शांति का वर्ण है। यह मानसिक शांति

और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। यह मांसपेशियों, हड्डियों तथा सेल्स को शक्तिशाली बनाता है। यह रक्तचाप और रक्तवाहिनी नाड़ियों के तनाव को कम करता है। थके व्यक्ति को प्रारंभ में हरा रंग लाभप्रद होता है, परंतु बाद में यह हानिकारक होता है। यह पिट्यूटरी ग्लैण्ड को सक्रिय करता है, मांसपेशियों और टिस्यू का निर्माण करता है और सेक्स को उभारता है। यह कीटाणुनाशक, एंटीसेप्टिक माना जाता है।

जब व्यक्ति में भावनात्मक गड़बड़ी होती है तब हरे रंग की किरणें मस्तिष्क पर डालकर चिकित्सा की जाती है। यह शक्ति, यौवन, अनुभव, उत्पादन, आशा और नवजीवन का प्रतीक वर्ण है। साथ-साथ यह ईर्ष्या, द्वेष और अंधविश्वास का सूचक भी है।

नीला रंग (Blue)

इसका प्रभाव मुख्य रूप से रक्त पर होता है। यह रक्त के लिए टॉनिक है। यह शक्ति-संवर्धन, शीत, विद्युतीय और संकुचन गुण से युक्त है। इससे रक्तचाप बढ़ता है, नाड़ियां संकुचित होती हैं।

जब रक्त अधिक सक्रिय और तापयुक्त हो जाता है तब उसे सामान्य बनाने के लिए इस रंग का उपयोग किया जाता है। यह नाड़ीसंस्थान की उत्तेजना को कम करता है।

भावनात्मक स्थितियों में यह हरे रंग से अधिक लाभदायक होता है। यह ध्यान और आध्यात्मिक विकास का सूचक वर्ण है। यह मन को शांत करता है, विशुद्धि चक्र को सक्रिय करता है। यह व्यक्ति को स्वार्थीपन से दूर हटाकर सामाजिक बनाता है और उसे पारिपार्श्विक वातावरण के अनुकूल बनाता है।

दस मिनट तक नीले रंग की तरंगों से व्यक्ति थकान महसूस करने लगता है। नीले कपड़े और नीले फर्नीचर व्यक्ति को थकान की अनुभूति कराते हैं। यदि इसके साथ दूसरे रंगों का मिश्रण हो तो कोई आपत्ति नहीं होती।

यह सत्य, समर्पण, शांति और प्रामाणिकता तथा आंतरिक ज्ञान और प्रातिभ ज्ञान का सूचक वर्ण है।

जामुनी रंग (Indigo)

यह वर्ण थॉयराइड ग्लैण्ड को निष्क्रिय बनाकर पेराथॉयराइड ग्लैण्ड को सक्रिय करता है। यह मांसपेशियों की शक्ति को बढ़ाता है, रक्त को शुद्ध करता है और श्वास-उच्छवास को मंद करता है।

रोगी किसी रंगीन चश्मे से जामुनी रंग की ओर एकटक देखता है और सजग रहते हुए अपने शारीरिक अवयव के दर्द के प्रति शून्य हो जाता है। यह

जामुनी रंग उसकी चेतना को इतने ऊंचे प्रकंपनों तक पहुंचा देता है कि उस स्थिति में उसे अपने शरीर का भी भान नहीं रहता।

यह वर्ण सूक्ष्म शरीर की आंतरिक विद्युत को तथा सहस्रार चक्र को नियंत्रित करता है। यह भौतिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक स्तर पर दृष्टि, श्रवण और सुगंध की शक्ति को प्रभावित करता है।

बैंगनी रंग (Violet)

यह ऊपरी मस्तिष्क को पोषण देने वाला रंग है। यह पित्त को प्रभावित करता है, कार्यवाही नाड़ीमंडल को सुस्त बनाता है। यह रक्त की शुद्धि और हड्डियों की वृद्धि में सहायक होता है। हिंसात्मक पागलपन से छुटकारा पाने के लिए यह वर्ण बहुत उपयोगी है। यह प्रेरणादायक और अत्यधिक भूख पर नियंत्रण स्थापित करने में सहयोग देता है। यह स्वास्थ्य का प्रतीक और स्वाधिष्ठान चक्र को संयमित करता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि बैंगनी प्रकाश ध्यान में दस गुना अच्छा होता है। आधे कांच से बैंगनी प्रकाश डाला जाए तो ध्यान-शक्ति में विकास होता है।

हल्का पीला या हरा पीला (Lemon)

यह मस्तिष्क को उत्तेजित करनेवाला वर्ण है। थॉइमस ग्लैण्ड में यूरेनियम होता है। यह शारीरिक संवर्धन में सहायक होता है। जब यूरेनियम पूरा हो जाता है तब वृद्धि रुक जाती है। यह रंग थॉइमस ग्लैण्ड को सक्रिय बनाता है। इसमें हरे और पीले–दोनों रंगों के गुण होते हैं।

चक्र और वर्ण

1. मूलाधार चक्र– इसका वर्ण पीला और तत्त्व पृथ्वी है। सुषुम्ना यहां खुलती है और कुंडलिनी का प्रवेश यहां से होता है।

2. स्वाधिष्ठान चक्र– इसका वर्ण नारंगी और तत्त्व जल है। इसी से ओरा–आभामंडल का निर्माण होता है।

यह चक्र सूर्य की किरणों तथा अल्ट्रा-वॉयलेट प्रकाश की किरणों से ऑक्सीजन के साथ विशुद्ध प्राणतत्त्व लेता है। नाड़ीसंस्थान से वह प्राणतत्त्व सारे शरीर में प्रवाहित होता है। अतिरिक्त तथा काम में ले लिए गए अणु चमड़ी के माध्यम से बाहर आते हैं। यह ओरा (Aura) है। प्रत्येक व्यक्ति में ओरा होता है, पर हेलो (Helo) कुछेक व्यक्तियों में ही होता है। प्राणतत्त्व फुफ्फुस से नहीं, किंतु श्वास से संबंधित है।

3. मणिपुर चक्र– इसका वर्ण लाल है और तत्त्व है अग्नि।

4. अनाहत चक्र– इसका वर्ण बैंगनी है और तत्त्व है वायु।

5. विशुद्धि चक्र–इसका वर्ण जामुनी है और तत्त्व है ईथर।

6. आज्ञा चक्र–इसका वर्ण नीला है और तत्त्व है सफेद। इसी के ऊपर ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना–तीनों का मिलन होता है। ईड़ा का वर्ण नीला, पिंगला का वर्ण लाल और सुषुम्ना का वर्ण गहरा लाल है।

7. सहस्रार चक्र–इसका वर्ण हरा है। जब यह क्रियाशील होता है तब इसमें सभी वर्ण पाए जाते हैं।

कुछ ज्ञातव्य

- वर्ण की सात किरणें दृश्य, अनेक किरणें अदृश्य।
- वर्ण जीवन को दीर्घ या ह्रस्व कर सकते हैं। वर्णों का संतुलन दीर्घ जीवन और असंतुलन मृत्यु का कारक है।
- रंगों के सम्यक् ज्ञान और सम्यक् प्रयोग से जीवन को शाश्वत जैसा बनाया जा सकता है।
- 'अपने आपको जानो' के साथ यह जोड़ना चाहिए 'जैसा रंग तुम्हें बताता है वैसा अपने आपको जानो'–Know thyself as your colour dictates.
- रंग-चिकित्सा एक परिपूर्ण प्रणाली है।
- बच्चा जब जन्म लेता है, तब उससे जामुनी रंग बाहर निकला है। वह तीव्रतम गति से चलता है। उसकी 'वेव लेंथ' न्यूनतम होती है। ज्यों-ज्यों वह बालक बड़ा होता है, प्रकंपनों की निरंतरता टूट जाती है। वे लंबे 'वेव लेंथ' वाले हो जाते हैं। जब वह लाल रंग के अंतिम छोर तक पहुंच जाता है, 49वें स्तर पर पहुंच जाता है, तब उसकी मृत्यु घटित हो जाती है।
- नाक की नोक पर यदि हरा रंग न दीखे तो समझ लेना चाहिए कि प्राणी मर गया।
- मनुष्य के ही नहीं, सभी प्राणियों के अवयवों के रंग होते हैं।
- मनुष्य रंग के 49 वें प्रकंपन पर जीवित रहता है।
- नीले रंग के 49वें प्रकंपन पर प्रयोग करने से रोग मुक्ति होती है।
- 49वें प्रकंपन से आगे के प्रकंपनों पर नीले रंग का प्रयोग करने पर मृत्यु होती है।
- आंख के रंग से आंख के रोगों को जाना जा सकता है। आंख के 72 प्रकार के रोग हैं।
- नाखून के रंग से लीवर की स्थिति को जाना जा सकता है। शारीरिक बीमारी पकड़ी जा सकती है।